समग्र

खंड दो

आचार्य श्री विद्यासागर जी

समग्र प्रकाशन, सागर (म प्र)

प्रेरणा एवं शुभाशीष् :

परमपूज्य - मुनिश्री १०८ क्षमासागर जी

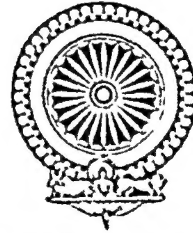
परमपूज्य - ऐलक श्री १०५ उदार सागर जी

परमपूज्य - ऐलक श्री १०५ सम्यक्तव सागर जी

समग्र - आचार्य श्री विद्यासागर जी

प्रकाशक - समग्र प्रकाशन, सागर (म प्र)

मुद्रक - शकुन प्रिन्टर्स, ३६२५ सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-२



समग्र

आचार्य श्री विद्यासागर

समग्र प्रकाशन परिवार

- बैनाडा परिवार, आगरा (उ.प्र.)
- सुमेरमल पाड्या एव पाड्या परिवार, आगरा (उ प्र.)
- पवन कुमार, अशोक कुमार, निर्मल कुमार,
  विनोद कुमार दोशी, इन्दौर एव बाकानेर (म.प्र)
- सजय जैन पिताश्री स्व. खेमचद जैन (मेक्स) एव
  राजेन्द्रकुमार पिताश्री पूरनचद जैन, इन्दौर (म.प्र.)
- भवरलाल पाटई एव पाटई परिवार, गुना (म प्र.)
- सतोष कुमार जयकुमार जैन, सागर (म प्र.)

प्राप्ति स्थान

संतोषकुमार जयकुमार जैन (बैटरीवाला)

कटरा बाजार, सागर (म प्र)

मनोभावना

विगत बीस मास पूर्व की बात है, राजस्थान स्थित अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी मे महावीर जयन्ती के सुअवसर पर ससघ मै उपस्थित था। उस समय 'समण सुत्तम्' का, जो सर्व सेवा सघ वाराणसी से प्रकाशित है, विमोचन हुआ। यह एक सर्व मान्य सकलित ग्रन्थ है। इसके सकलनकर्ता ब्र जिनेन्द्र वर्णी, जो स्व क्षु गणेशप्रसाद जी वर्णी के अनन्य शिष्यो मे एक हैं। आपने जैन सिद्धान्त का अवलोकन करके यह नवनीत समाज के सामने प्रस्तुत किया है। आपका यह कार्य प्रेरणाप्रद एव स्तुत्य है।

इस ग्रन्थ मे चारो अनुयोगो के विषय यथास्थान चित्रित हैं। अध्यात्मरस से ओत-प्रोत ग्रन्थराज समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, अष्टपाहुड, पचास्तिकाय, द्रव्य सग्रह, गोमटसार आदि ग्रन्थो की गाथाये इसमे प्रचुर रूप से सकलित है। यह ग्रन्थ आद्योपान्त प्राकृत गाथाओ मे सपादित है। प कैलाशचन्द सिद्धान्ताचार्य ने इस ग्रन्थ का सक्षेप किन्तु सुन्दर गद्यानुवाद किया है। जो जन प्राकृत भाषा से अनभिज्ञ है उन्हे यह ग्रन्थगत-विषय को समझने मे सम्पूर्ण सहायक है।

'समणसुत्तं' के मूल प्रेरणा-स्रोत समाज सेवी, सर्व सेवा-सघ के निर्माता विनोबा जी (बाबा) हैं। पच्चीससौवे वीर निर्वाण महोत्सव के उपलक्ष मे जैन समाज से आपने माँग की थी कि यद्यपि जैन साहित्य विपुल मात्रा मे है, तथापि उससे सब लोग लाभ ले नही पा रहे हैं। अत समाज के सम्मुख एक ऐसी कृति प्रस्तुत की जाय जिससे कि जैनेतर भी जैन दर्शन से आत्मोन्नति कर सके। वह कार्य आज सानन्द सम्पन्न हुआ।

मन मे बहुत काल से विचार करवटे ले रहा था कि एक ऐसा काव्य ग्रन्थ का निर्माण किया जाय कि आबाल-वृद्ध उस ग्रन्थ को सगीत के माध्यम से अल्प काल मे ही पाठकर, जैन दर्शन की उपयोगिता एव ध्रुव बिन्दु के सम्बन्ध मे परिचय प्राप्त कर सके और जीवन को समुन्नत बना सके। किन्तु काल-लब्धि के बिना भी कोई कार्य नही हो सकता और पुरुषार्थ से मुख मोडकर काल-लब्धि की प्रतीक्षा करने से भी काल-लब्धि नही आ सकती है। इसी बीच बनारस के दो पत्रो के माध्यम से **'समणसुत्तम्'** के **पद्यानुवाद के लिए प्रेरणा प्राप्त हुई।** एक पत्र था श्रीमान् प जमनालाल जी शास्त्री का एव दूसरा था श्रीमान् कृष्णराज जी मेहता का।

"शुभस्य शीघ्र" इस सूक्ति को चरितार्थ करते हुये, गुरु स्मृति के साथ ग्रन्थ का पद्यानुवाद प्रारम्भ किया। तीन चार स्थलो मे गाथागत रहस्य को समझने मे, पडित कैलाशचन्द जी कृत गद्यानुवाद ने दीपक का काम किया है। किन्तु यह अनुमान नही था कि अनुवाद (पद्यानुवाद) इतने अल्प काल मे सम्पन्न होगा। **पद्यानुवाद** मे केवल साढे सात मास लगे और सिद्धक्षेत्र कुण्डलगिरि पर सानन्द सम्पन्न हुआ जो पाठको के सम्मुख 'जैन गीता' के रूप मे प्रस्तुत है।

जैन यह शब्द आज तक कई श्रीमानो, धीमानो एव सतो की दृष्टि मे भी जाति वाचक ही रहा है, जबकि वह उस सहज अजर अमर अमूर्त आत्मा की ओर मुमुक्षुओ को आकृष्ट करता है। विषय कषायो से ऊपर उठाकर उन्हे परम शाति पथ का प्रदर्शन कराता है। जैन इस शब्द की उत्पत्ति इस प्रकार है -- जयति स्वकीयानि इन्द्रियाणि आत्मन स जिनः, जिन एव जैन इति। जो महापुरुष अपनी इन्द्रियाँ एव आत्मा को पूर्णरूपेण जीतता है, उन्हे कुमार्ग से बचाता है वह 'जिन' है, 'जिन ही जैन' है जैन की गी अर्थात् वाणी और उस गी का भाव या सार के अर्थ मे ता प्रत्यय का प्रयोग करने से गीता शब्द की निष्पत्ति होती है। अत यह सुस्पष्ट हुआ कि उन जिनेन्द्र भगवान की वाणी के सार का नाम ही **"जैन गीता"** सिद्ध है।

पौद्गलिक परणतिरूप शब्दो मे ही न उलझकर शब्दावबोध से अर्थावबोध एव अर्थावबोध से उस परम सत्तारूप केन्द्र का भी अवगम प्राप्त कर, उस तक जाने का साधको को, सतत् प्रयास करते रहना चाहिये। इसी उद्देश्य को अपनी दृष्टि मे रखकर साधनापथारूढ साधको सतो ने स्व-पर कल्याण हेतु हित, मित, मिष्ट वचनो से हमे उस सहज चेतनामय सत्ता का उपदेश दिया है और आजीवन उस परमसत्ता का मनन-मथन कर नवनीत के रूप मे विपुल साहित्य का निर्माण किया है।

झर झर झरता झरना,
कहता चल 'चल' चलना ।
उस सत्ता से मिलना,
पुनि पुनि पडे न चलना ।।

लखना तज कर लिखना सहज शुद्धात्मा को अभीष्ट नही था, तथापि चिरानुभूत सकल्प-विकल्प के सस्कार ने चचल मन को लिखने के विकल्प की ओर आकृष्ट किया, फलस्वरूप आभ्यन्तर परणति छूटी और बहि परणति प्रवाहित हुई। छद्मस्थ का मनोबल इतना निर्बल है कि वह अन्तर्मुहूर्त के उपरान्त अपने चचल स्वभाव का परिचय दिये बिना नही रहता। इसी से इस मन ने प्रस्तुत कृति लिखने का विकल्प किया। यह भी समयोचित ही हुआ। आगमोल्लेख है कि विषय-कषाय रूप अशुभोपयोग से बचने के लिये सहज स्वभाव शुद्धोपयोग की उपलब्धि के लिये तत् साधनभूत शुभोपयोग का आलबन लेना मुनियो, सत्पथ साधको एव सतो के लिये भी सामयिक उपादेय है ही। **अतः मनोभावना यही है कि अध्यात्मरस से परिपूरित इस कृति का मनोयोग से आस्वादन कर भव्य पाठक परम तृप्ति का अनुभव करें!**

समता अरुणिमा बढी,
उन्नत शिखर पर चढी।
निज दृष्टि निज मे गडी,
धन्यतम है यह घडी।

यह सब स्व वयोवृद्ध तपोवृद्ध एव ज्ञानवृद्ध आचार्य गुरुवर श्री ज्ञानसागर महाराजश्री के प्रसाद का परिणाम है कि परोक्ष रूप से उन्ही के अभय चिह्न चिह्नित कर-कमलो मे जैन गीता का समर्पण करता हुआ।

गुरु चरणारविदचचरीक

ॐ शुद्धात्मने नम

ॐ निरंजनाय नम

ॐ श्री जिनाय नम

ॐ निजाय नम।

- आचार्य विद्यासागर

क्रम

जैन गीता

जैन गीता

मूल समणसुत्त (प्राकृत)

पद्यानुवाद आचार्य विद्यासागर

जैन गीता

-: मङ्गलसूत्र :-

(वसन्ततिलका छन्द)

हे ! शान्त सन्त अरहन्त अनन्त ज्ञाता,
हे ! शुद्ध बुद्ध शिव सिद्ध अबद्ध धाता ।
आचार्य वर्य उवझाय सुसाधु सिन्धु ?
मै बार बार तुम पाद पयोज बदूँ ॥१॥

है मूलमत्र नवकार सुखी बनाता,
जो भी पढे विनय से अघ को मिटाता ।
है आद्य मगल यही सब मगलो मे,
ध्याओ इसे न भटको जग-जगलो मे ॥२॥

सर्वज्ञदेव अरहन्त परोपकारी,
श्री सिद्ध वन्द्य परमातम निर्विकारी ।
श्री केवली कथित आगम साधु प्यारे,
ये चार मगल, अमगल को निवारे ॥३॥

श्री वीतराग अरहन्त कुकर्मनाशी,
श्री सिद्ध शाश्वत सुखी शिवधामवासी ।
श्री केवली कथित आगम साधु प्यारे,
ये चार उत्तम, अनुत्तम शेष सारे ॥४॥

ये बाल भानु सम है अरहन्त स्वामी,
लोकाग्र मे स्थित सदाशिव सिद्ध नामी ।
श्री केवली कथित आगम साधु प्यारे,
ये चार ही शरण है जग मे हमारे ॥५॥

जो श्रेष्ठ हे शरण, मगल, कर्म जेता,
आराध्य हे परम हैं शिवपथ नेता ।
है वन्द्य खेचर नरो, असुरो, सुरो के,
वे ध्येय, पच गुरु हो, हम बालको के ॥६॥

है घातिकर्मदल को जिनने नशाया,
विज्ञान पा सुख अतुल्य अनन्त पाया ।
है भानु भव्यजनकज विकासते है,
शुद्धात्म की विजय हो अरहन्त वे है ॥७॥

कर्त्तव्य था कर लिया, कृतकृत्य दृष्टा,
है मुक्त कर्म-तन से निज-द्रव्य-स्रष्टा ।
है दूर भी जनन मृत्यु तथा जरा से,
वे सिद्ध सिद्धि सुख दे मुझको जरा से ॥८॥

ज्ञानी, गुणी मतमतान्तरज्ञान धारे,
सवाद से सहज वाद-विवाद टारे ।
जो पालते परम पच महाव्रतो को,
आचार्य वे सुमति दे हम सेवको को ॥९॥

अज्ञान रूप-तम मे भटके फिरे है ?
ससारिजीव हम है दुख से घिरे हैं
दो ज्ञान ज्योति उवझाय ! व्यथा हरो ना !!
ज्ञानी बनाकर कृतार्थ हमे करो ना !!! ॥१०॥

अत्यत शान्त विनयी समदृष्टिवाले,
शोभे प्रशस्त यश से शशि से उजाले ।
है वीतराग परमोत्तम शीलवाले,
वे प्राण डालकर साधु मुझे बचाले ॥११॥

अर्हत् अकाय परमेष्ठि विभूतियो के,
आचार्यवर्य, उवझाय, मुनीश्वरो के ।
जो आद्य वर्ण, अ, अ, आ, उ, म को निकालो,
"ओ"कार पूज्य बनता, क्रमश मिला लो ॥१२॥

आदीश है अजित सभव मोक्ष धाम,
वन्दूॅ गुणौघ अभिनन्दन है ललाम
सद्भाव से सुमति पद्म सुपार्श्व ध्याऊँ
चन्द्रप्रभू चरण से चिति ना चलाऊँ ॥१३॥

श्री पुष्पदन्त शशि-शीतल शील पुज,
श्रेयास पूज्य, जगपूजित वासुपूज्य ।
आदर्श से विमल, सन्त अनन्त, धर्म,
मै शान्ति को नित नमूॅ मिलजाय शर्म ॥१४॥

श्री कुन्थुनाथ अरनाथ सुमल्लि स्वामी,
सद्बोध धाम मुनिसुव्रत विश्व नामी ।
आराध्य देव नमि और अरिष्ट नेमी,
श्री "पार्श्व वीर" प्रणमूॅ, निज धर्म प्रेमी ॥१५॥

है भानु से अधिक भासुर कान्ति वाले,
निर्दोष इसलिए शशि से निराले ।
गभीर वीर-निधि से जिन सिद्ध प्यारे,
ससार सागर सुतीर मुझे उतारे ॥१६॥

(२) जिनशासन सूत्र

हो के विलीन जिसमे मन मोद पाते,
हे भव्यजीव भववारिधि पार जाते ।
श्री जैन शासन रहे जयवन्त प्यारा,
भाई वही शरण, जीवन है हमारा ॥१७॥

पीयूष है, विषय-सौख्य विरेचना है,
पीते सुशीघ्र मिटती चिर वेदना है ।
भाई जरा मरण रोग विनाशती है,
सजीवनी सुखकरी "जिनभारती" है ॥१८॥

जो भी लखा सहज से अरहन्त गाया,
सत् शास्त्र वाद, गणनायक ने बनाया ।
पूजूं इसे मिल गया श्रुतबोध सिन्धु,
पी, बिन्दु, बिन्दु, दृगबिन्दु समेत वन्दूं ॥१९॥

प्यारी जिनेन्द्र मुख से निकली सुवाणी,
है दोष की न मिलती जिसमे निशानी ।
ओ ही विशुद्ध परमागम है कहाता,
देखो वही सब पदार्थ-यथार्थ-गाथा ॥२०॥

श्रद्धा समेत जिन आगम जो निहारे,
चारित्र भी तदनुसार सदा सुधारे ।
सक्लेश भाव तज निर्मल भाव धारे,
ससारि जीवन परीत बनाय-सारे ॥२१॥

हे ! वीतराग ! जगदीश ! कृपा करो तो,
हे विज्ञ, ज्ञान मुझ बालक मे भरो तो ।
होऊँ विरक्त तन से, शिव मार्ग गामी,
मै केवली विमल निर्मल विश्व नामी ॥२२॥

है ओज तेज झरता मुख से शशी है,
गभीर, धीर गुण आगर है वशी है ।
वे ही स्वकीय परकीय सुशास्त्र ज्ञाता,
खोले जिनागम रहस्य सुयोग्य शास्ता ॥२३॥

जो भी हिताहित यहाँ निज के लिए है,
वे ही सदैव समझो परके लिए है ।
है जैन शासन यही करुणा सिखाता,
सत्ता सभी सदृश है सबको दिखाता ॥२४॥

(३) संघ सूत्र

है शीघ्र से सकल कर्म कलक धोता,
ना दोष धाम वह तो गुण धाम होता ।
हो एकमेक जिससे दृग बोध वृत्त,
जानो सभी सतत "सघ" उसे प्रशस्त ॥२५॥

सम्यक्त्व बोध व्रत को "गण" नित्य मानो,
है "गच्छ" मोक्ष पथ पे चलना सुजानो ।
सत् सघ है गुण जहाँ उभरे हुए है,
शुद्धात्म ही समय है, गुरु गा रहे है ॥२६॥

आओ यहाँ अभय है भवभीत ! भाई,
धोखा नही, न छल, शीतलता सुहाई ।
माता पिता सब समा नहि भेद नाता,
लो सघ की शरण, सत्य अभेद भाता ॥२७॥

सम्यक्त्व मे चरित मे अति प्रौढ होते,
विज्ञानरूप सर में निजको डुबोते ।
जो सघ मे रह स्वजीवन को बिताते,
वे धन्य है सफल जीवन को बनाते ॥२८॥

जो भक्ति भाव रखता गुरु मे नही है,
लज्जा न नेह भय भी गुरु से नही है ।
सम्मान गौरव कभी यदि ना करेगा,
ओ व्यर्थ मे गुरुकुली बन क्या करेगा ? ॥२९॥

भाई अलिप्त सहसा विधि नीर से है,
उत्फुल्ल भी जिनप सूर्य प्रकाश से है ।
सागार भव्य अलि आ गुण गा रहे है ?
गाते जहाँ प्रगुण केसर पी रहे है ॥३०॥

भाती जहाँ वह महाव्रत कर्णिका है,
ना नाप भी श्रुतमयी-सुमृणालका है ।
घेरे हुए श्रमणरूप सहस्त्र-पत्र,
ओ "सघ पद्म" जयवन्त रहे पवित्र ॥३१॥

(४) निरूपण सूत्र

निक्षेप और नय, पूर्ण- प्रमाण द्वारा,
ना अर्थ को समझता यदि जो सुचारा ।
तो सत्य तथ्य विपरीत प्रतीत होता,
होता असत्य सब सत्य, उसे डुबोता ॥३२॥

निक्षेप है वह उपाय सुजानने का,
होता वही नय निजाशय ज्ञानियो का ।
तू ज्ञान को समझ सत्य प्रमाण भाई,
यो युक्ति पूर्वक पदार्थ लखे, भलाई ॥३३॥

दो मूल मे नय सुनिश्चय, औ व्यावहार,
विस्तार शेष इनका करता प्रचार ।
पर्याय-द्रव्य नय है नय दो नयो मे,
होते सहायक सुनिश्चय साधने मे ॥३४॥

धारे अनन्त गुण यद्यपि द्रव्य सारे,
तो भी ''सुनिश्चय'' अखड उन्हे निहारे ।
पै खड, खड कर द्रव्य अखड को भी,
देखे कथंचित यहाँ ''व्यवहार'' सो ही ॥३५॥

विज्ञान औ चरित, दर्शन विज्ञ के है,
जाते कहे, सकल वे व्यवहार से है ।
ज्ञानी परन्तु वह ज्ञायक शुद्ध प्यारा,
ऐसा नितान्त नय निश्चय ने निहारा ॥३६॥

है नित्य निश्चय निषेधक, मोक्ष दाता,
होता निषिद्ध व्यवहार नही सुहाता ।
लेते सुनिश्चय नयाश्रय सत योगी,
निर्वाण प्राप्त करते, तज भोग भोगी ! ॥३७॥

बोलो न आंग्ल नर से यदि आंग्ल भाषा,
कैसे उसे सदुपदेश मिले प्रकाशा ?
सत्यार्थ को न व्यवहार बिना बताया
जाता सुबोध शिशु मे गुरु से जगाया ॥३८॥

भूतार्थ शुद्ध नय है निजको दिखाता,
भूतार्थ है न व्यवहार, हमे भुलाता ।
भूतार्थ की शरण लेकर जीव होता ।
सम्यक्त्वभूषित, वही मन मैल धोता ॥३९॥

जाने नही कि वह निश्चय चीज क्या है
है मानते सकल बाह्य क्रिया वृथा है ।
वे मूढ नित्य रट निश्चय की लगाते
चारित्र नष्ट करते, भवको बढाते ॥४०॥

शुद्धात्म मे निरत हो जब सन्त त्यागी,
जीवे विशुद्ध नय आश्रय ले विरागी ।
शुद्धात्म से च्युत, सराग चरित्र वाले
भूले न लक्ष्य व्यवहार अभी सभाले ॥४१॥

है कौन से श्रमण के परिणाम कैसे,
कोई पता नहि बता सकता कि ऐसे ।
तल्लीन हो यदि महाव्रत पालने मे
वे वन्द्य है नित नमूँ व्यवहार से मैं ॥४२॥

वे ही मृषा नय, करे पर की उपेक्षा,
एकान्त से स्वय की रखते अपेक्षा ।
सच्चे सदैव नय वे पर को निभाले ।
बोले परस्पर मिले व गले लगाले ॥४३॥

''उत्सर्ग मार्ग'' निजमे निजका विहारा,
शास्त्रादि साधन रखो अपवाद न्यारा ।
ज्ञानादि कार्य इनसे बनते सुचारा,
धारो यथोचित इन्हे सुख हो अपारा ॥४४॥

(५) संसार चक्र सूत्र

ससार शाश्वत नही ध्रुव है न भाई,
पाऊँ निरन्तर यहाँ दुख, ना भलाई ।
तो कौन सी विधि विधान सुयुक्तियाँ रे !
छूटे जिसे कि मम दुर्गति पक्तियाँ रे ! ॥४५॥

ये भोग काम, मधु लिप्त कृपाण से है,
देते सदा दुख सुमेरु-प्रमाण से है ।
ससार पक्ष रखते, सुख के विरोधी,
है पाप धाम, इनसे मिलती न बोधी ॥४६॥

भोगे गये विषय ये बहुबार सारे,
पाया न सार इनमे, मनको विदारे ।
रे ! छान बीन करलो तुम बार बार,
निस्सार भूत कदली करु मे न सार ॥४७॥

प्रारभ मे अमृत सी सुख शान्ति कारी,
दे अन्त मे अमित दारुण दु ख भारी ।
भूपाल-इन्द्रपदवी सुर सम्पदाये ।
छोडो इन्हे विषम ये दुख आपदाये ॥४८॥

ज्यो तीव्र खाज चलती खुजली खुजाते,
रोगी तथापि दुख को सुख ही बताते ।
मोहाभिभूत मतिहीन मनुष्य सारे,
त्यो काम जन्य दुख को सुख ही पुकारे ॥४९॥

सभोग मे निरत, सन्मति से परे है,
जो दु ख को सुख गिने, भ्रम मे परे है ।
वे मूढ कर्म-मल मे फसते तथा है,
मक्खी गिरी तडपती कफ मे यथा है ॥५०॥

हो वेदना जनन मृत्यु तथा जरा से,
ऐसा सभी समझते, सहसा सदा से ।
तो भी मिटी विषय लोलुपता नही है,
मायामयी सुदृढ गाठ खुली नही है ॥५१॥

ससारिजीव जितने फिरते यहॉ है,
वे राग रोष करते दिखते सदा है ।
दुष्टाष्ट कर्म जिससे अनिवार्य पाते,
है कर्म के वहन से गति चार पाते ॥५२॥

पाते गती, महल-देह उन्हे मिलेगी,
वे इन्द्रियाँ खिडकियाँ जिसमे खुलेगी ।
होगा पुन विषय सेवन इन्द्रियों से,
रागादिभाव फिर हो जग-जन्तुओ से ॥५३॥

मिथ्यात्व के वश अनादि अनन्त मानो,
सम्यक्त्व के वश अनादि सुसान्त जानो ।
ससारिजीव इस भाति विभाव धारे,
वे धन्य है तज इन्हे शिव को पधारे ॥५४॥

लो ! जन्मसे, नियम से दुख जन्म लेते,
मारी जरा मरण भी अति दु ख देते
ससार ही ठसठसा दुख से भरा है,
पीडा चराचर सहे सुख ना जरा है ॥५५॥

(६) कर्म-सूत्र

जो भी जहाँ जब जभी जिस भाति भाता,
विज्ञान मे तब तभी उस भांति आता ।
जो अन्यथा समझता करता बताता ।
कुज्ञान ही वह, सदा सबको सताता ॥५६॥

रागादि भाव करता जब जीव जैसे,
तो कर्म बन्धन विना बच जाय कैसे ? ।
भाई ! शुभाशुभ विभाव कुकर्म आते,
हैं जीव सग बँधते, तब वे सताते ॥५७॥

जो काय से वचनसे मद मत्त होता,
लक्ष्मी धनार्थ निज जीवन पूर्ण खोता ।
त्यो राग रोष वश ही वसु कर्म पाता,
ज्यो सर्प, जो कि द्विमुखी, मृण नित्य खाता ॥५८॥

माता पिता सुत सुतादिक साथ देते ?
आपत्ति मे, न सब वे दुख बाँट लेते ।
जो भोगता करमको करता अकेला,
औचित्य कर्म बनता उसका सुचेला ॥५९॥

है बन्ध के समय जीव स्वतंत्र होते,
हो कर्म के उदय मे परतंत्र रोते ।
जैसे मनुष्य तरुपे चढते अनूठे,
पानी गिरा, गिर गये जब हाथ छूटे ॥६०॥

हा ! जीव को "सबल" कर्म कभी सताता,
तो कर्म को सहज जीव कभी दबाता ।
देता धनी धन अरे ! जब निर्धनी को,
होता बली, ऋण ऋणी जब दे धनी को ॥६१॥

सामान्य से करम एक, नही द्विधा है,
है द्रव्य कर्म जड, चेतन से जुदा है ।
जो कर्म शक्ति अथवा रति-शेष-भाव,
है भावकर्म जिससे करलो बचाव ॥६२॥

शुद्धोपयोग मय आतम को निहारे,
वे साधु इन्द्रियजयी मन मार डारे ।
ना कर्म रेणु उनपे चिपके कदापि,
ना देह धारण करे फिर से अपापी ॥६३॥

ना ज्ञान-आवरण से सब जानना हो,
ना दर्शनावरण से सब देखना हो ।
है वेदनीय सुख दु ख हमे दिलाता,
है मोहनीय उलटा जग को दिखाता ॥६४॥

ना आयु के उदय मे, तन जेल छूटे,
है नाम कर्म रचता, बहुरूप झूठे ।
है उच्च-नीच पददायक गोत्र कर्म,
सक्षेप से समझलो तुम अष्ट कर्म,
सद्धर्म से सब सधे शिव-शाति शर्म ॥६५॥

होती इन्ही सम सदा वसु कर्म चाल,
कर्मानुसार समझो, पट, द्वारपाल
औ खड्ग, मद्य, हलि, मौलिक चित्रकार,
है कुम्भकार क्रमश वसु कोष पाल ॥६६॥

(७) मिथ्यात्व सूत्र

समोह से भ्रमित है मन मत्त मेरा,
है दीखता सुख नही, परित अँधेरा ।
स्वामी रुका न अबलौ गति चार फेरा,
मेरा अत नहि हुवा शिव मे बसेरा ॥६७॥

मिथ्यात्व के उदय से मति भ्रष्ट होती,
ना धर्म कर्म रुचता, मिट जाय ज्योति ।
पीयूष भी परम-पावन-पेय-प्याला,
अच्छा लगे न ज्वर मे बन जाय हाला ॥६८॥

मिथ्यात्व से भ्रमित पीकर मोह प्याला,
ज्वालामुखी तरह तीव्र कषाय वाला ।
माने न चेतन अचेतन को जुदा जो,
होता नितान्त बहिरातम है मुधाओ ॥६९॥

तत्त्वानुकूल यदि जो चलता नही है,
मिथ्यात्व चीज इससे बढ कौनसी है ।
कर्त्तव्य मूढ, परको वह है बनाता,
मिथ्यात्व को सघन रूप तभी दिलाता ॥७०॥

(८) रागपरिहार सूत्र

है कर्म के विषम बीज सराग रोष,
समोह से करम हो बहुदोष कोष ।
तो कर्म से जनन मृत्यु तथा जरा हो
ये दु ख मूल, इनकी कब निर्जरा हो ? ॥७१॥

हो क्रूर, शूर, मशहूर, जरूर बैरी,
हानी तथापि उससे उतनी न तेरी ।
ये राग रोष तुझको जितनी व्यथा दे
कोई न दे, अब इन्हे दुख दे, मिटा दे ॥७२॥

ससार सागर असार अपार खारा,
ससारि को सुख यहाँ न मिला लगारा ।
प्राप्तव्य है परम पावन मोक्ष प्यारा ।
ना जन्म मृत्यु जिसमे सुख का न पारा ॥७३॥

चाहो सुनिश्चय भवोदधि पार जाना,
चाहो नही यदि यहाँ अब दु ख पाना ।
धोखा न दो स्वयम को टलजाय मौका,
बैठो सुशीघ्र तप सयम रूप नौका ॥७४॥

सम्यक्त्वरूप गुण को सहसा मिटाते,
चारित्ररूप पथ से बुध को डिगाते ।
ये पाप ताप मय है रति राग रोष,
हो जा सुदूर इन से, मिल जाय तोष ॥७५॥

भोगाभिलाष वश ही बस भोगियो को,
होता असह्य दुख है सुर-मानवो को ।
ना साधु मानसिक कायिक दु ख पाते,
वे वीतराग बन जीवन है बिताते ॥७६॥

वैराग्य भाव जगता जिस भाव से है ?
ओ कार्य आर्य करते, अविलम्ब से है
जो है विरक्त तन से भव पार जाते,
आसक्त भोगतन मे भव को बढाते ॥७७॥

है राग रोष दुख, पै न पदार्थ सारे,
वे बार बार मन मे बुधयो विचारे ।
तृष्णा अत विषयकी पड मद जाती,
जाती विमोह ममता, समता सुहाती ॥७८॥

मै शुद्ध चेतन अचेतन से निराला,
ऐसा सदैव कहता सम दृष्टिवाला ।
रे ! देह नेह करना अति दुख पाना,
छोडो उसे तुम, यही गुरुका बताना ॥७९॥

मोक्षार्थ ही दमन हो सब इन्द्रियो का,
वैराग्य से शमन क्रोध कषायियो का ।
हो कर्म आगमन-द्वार नितान्त बन्द,
शुद्धात्म को नमन हो, नहि कर्म बन्ध ॥८०॥

ज्यो शोभता जलज जो जलसे निराला,
त्यो वीतराग मुनि भी तनसे खुशाला ।
होता विरक्त, भवमें रहता यहीं है,
रगीन मे न रचता पचता नही है ॥८१॥

(९) धर्म सूत्र

पाता सदैव तप सयम से प्रशसा,
ओ धर्म मगलमयी जिसमे अहिसा ।
जो भी विनय से उर मे बिठाते,
सानन्द देव तक भी उनको पुजाते ॥८२॥

है वस्तु का धरम तो उसका स्वभाव,
सच्ची क्षमादिदशलक्षण धर्म-नाव ।
ज्ञानादि रत्नत्रय धर्म, सुखी बनाता,
है विश्व कर्म त्रस थावर प्राणि त्राता ॥८३॥

प्यारी क्षमा, मृदुलता ऋजुता सचाई,
औ शौच्य सयम धरो, तपसे भलाई ॥
त्यागो परिग्रह, अकिचन गीत गा लो,
लो ! ब्रह्मचर्य सर मे डुबकी लगा लो ॥८४॥

हो जाय घोर उपसर्ग नरो सुरो से,
या खेचरो पशुगणो जन दानवो से ।
उद्दीप्त हो न उठती यदि क्रोध ज्वाला,
मानो उसे तुम क्षमामृत पेय प्याला ॥८५॥

प्रत्येककाल सबको करता क्षमा मै,
सारे क्षमा मुझ करे नित मागता मै ।
मैत्री रहे जगत के प्रति नित्य मेरी,
हो वैर भाव किससे ? जब है न वैरी ॥८६॥

मैने प्रमाद वश दु ख तुम्हे दिया हो,
किवा कभी यदि अनादर भी किया हो ।
ना शल्य मान मन मे रखता मुधा मै,
हूँ माँगता विनय से तुमसे क्षमा मै ॥८७॥

हूँ श्रेष्ठ जाति कुल मे श्रुत मे यशस्वी,
ज्ञानी, सुशील, अति सुन्दर हूँ तपस्वी ।
ऐसा नही श्रमण हो, मन मान लाते,
निर्भ्रान्त वे परम मार्दव धर्म पाते ॥८८॥

देता न दोष परको, गुण ढूढ लेता,
निन्दा करे स्वयम की, मन अक्ष जेता ।
मानी वही नियम से गुण धाम ज्ञानी,
कोई कभी गुण बिना बनता न मानी ॥८९॥

सर्वोच्च गोत्र हमने बहुबार पाया,
पा, नीच गोत्र, दुख जीवन है बिताया ।
मै उच्च की इसलिए करता न इच्छा,
स्थाई नही क्षणिक चचल उच्च नीचा ॥९०॥

आचार मे वचन मे व विचार मे भी,
जो धारता कुटिलता नहि स्वप्न मे भी ।
योगी वही सहज आर्जव धर्म पाता,
ज्ञानी कदापि निज दोष नही छिपाता ॥९१॥

मिश्री मिले, वचन वे रुचते सभी को,
सताप हो श्रवण से न कभी किसी को ।
कल्याण हो स्वपर का मुनि बोलता है,
हो सत्य धर्म उसका, दृग खोलता है ॥९२॥

हो चोर चौर्य करता विषयाभिलाषी,
पाता त्रिकाल दुख हाय असत्य भाषी ।
देखो जभी दुखित ही वह है दिखाता,
सत्यावलम्बन सदीव सुखी बनाता ॥९३॥

साधर्मि के वचन आज नही सुहाते,
है पथ्यरूप, फलत कटु दीख पाते ।
पीते अतीव कडवी लगती दवाई,
नीरोगता फल मिले, मति मुस्कुराई ॥९४॥

विश्वास पात्र जननी सम सत्यवादी,
हो पूजनीय गुरु सादृश अप्रमादी ।
वे विश्व को स्वजन भाँति सदा सुहाते,
वन्दूँ उन्हे सतत् मै शिरको झुकाते ॥९५॥

ज्ञानादि मौलिक सभी गुण वे अनेको,
है सत्य मे निहित सयम शील देखो ।
आवास ज्यो जलाधि जलजीवियो का ।
त्यो सत्य धर्म जग मे सब सद्गुणो का ॥९६॥

ज्यो ज्यो विकास धनका क्रमश चलेगा,
त्यो त्यो प्रलोभ बढता, बढता, बढेगा ।
सपन्न कार्य कण से जब जो कि पूरा,
होता वही न मन से रहता अधूरा ॥९७॥

पा सैकडो कनक निर्मित पर्वतो को,
होगी न तृप्ति फिर भी तुम लोभियो को ।
आकाश है वह अनन्त, अनन्त आशा
आशा मिटे, सहज हो परित प्रकाशा ॥९८॥

त्यो मोह से जनम, तामस लोभ का हो,
या लोभ से दुरित कारण, मोहका हो ।
ज्यो वृक्ष ओ ! उपजता उस बीज से है,
या बीज जो उपजता इस वृक्ष से है ॥९९॥

सतोष धार, समता जल से विरागी,
धोते प्रलोभ मलको बुध सन्त त्यागी ।
लिप्सा नही अशन मे रखते कदापि,
हो शौच्य धर्म उनका, तज पाप पापी ! ॥१००॥

जो पालना समिति, इन्द्रिय जीतना है,
है योग रोध करना, व्रत धारना है ।
सारी कषाय तजना मन मारना है,
भाई वही सकल सयम साधना है ॥१०१॥

फोडा कषाय घटको, मन को मरोडा,
है योगि ने विषय को विष मान छोडा ।
स्वाध्याय ध्यान बल से निजको निहारा,
पाया नितान्त उसने तप धर्म प्यारा ॥१०२॥

वैराग्य धार भव भोग शरीर से ओ !
देखा स्वको यदि सुदूर विमोह से हो ।
तो त्याग धर्म समझो उनने लिया है,
सदेश यो जगत को प्रभु ने दिया है ॥१०३॥

भोगोपभोग मिलने पर भी कदापि,
जो भोगता न उनको बनता न पापी ।
त्यागी वही नियम से जग मे कहाता,
भोगी न भोग तजता, भवयोग पाता ॥१०४॥

जो अतरग बहिरंग निसग नगा,
होता दुखी नहि सुखी, बस नित्य चगा ।
भाई ! वही वर अकिचन धर्म पाता,
पाता स्वकीय सुखको, अघ को खपाता ॥१०५॥

हूँ शुद्ध पूर्ण दृग बोध मयी सुधा से,
मै एक हूँ पृथक हूँ सब से सदा से ।
मेरा न और कुछ है नित मै अरूपी ।
मेरी नही जडमयी यह देह रूपी ॥१०६॥

मै हूँ सुखी रह रहा सुख से अकेला,
मेरा न और कुछ है गुरु भी न चेला ।
उद्दीप्त हो यदि जले मिथिला यहाँ रे !
बोले "नमी" कि उससे मम हानि क्या रे ॥१०७॥

निस्सार जान जिनने व्यवहार सारा,
छोडा, रखा न कुछ भी कुल पुत्र दारा ।
ऐसा कहे सतत वे सब सन्त सच्चे,
कोई पदार्थ जगमे न बुरे न अच्छे ॥१०८॥

ज्यो पद्म जो जलज हो, जलसे निराला,
ओ ना गले, नहि सडे रहता निहाला ।
त्यो भोग मे न रचता पचता नही है,
है वद्य ब्राह्मण यहाँ जग मे वही है ॥१०९॥

ना मोह भाव जिसमे दुख को मिटाया,
तृष्णा विहीन मुनि, मोहन को नशाया ।
तृष्णा विनष्ट उससे यति जो न लोभी,
हो लोभ नष्ट उससे बिन संग जो भी ॥११०॥

जो देह नेह तजता निज ध्यान धारी,
है ब्रह्मचर्य उसकी वह वृत्ति सारी ।
है जीव ही परम ब्रह्म सदा कहाता,
हूँ बार बार उसको शिर मै नवाता ॥१११॥

चद्रानना, मृगदृगी, मृदुहास्यवाली,
लीलावती, ललितये ललना निराली ।
देखो इन्हे, पर कभी न बनो विकारी,
मानो तभी कि "हम" है सब ब्रह्मचारी ॥११२॥

ससर्ग पा अनल का झट लाख जेसा,
स्त्री सग से पिघलता अनगार वेसा ।
योगी रहे इसलिए उनसे सुदूर,
एकान्त मे विपिन मे निजमे जरूर ॥११३॥

कामेन्द्रिका दमन रे ! जिसने किया है,
कोई नही अब उसे कठिनाइया है ।
जो धैर्य से अमित सागर पार पाता,
क्या शीघ्र से न सरिता वह तैर जाता ? ॥११४॥

नारी रहो, नर रहो जब शील धारी,
स्त्री से बचे नर, बचे नर से सुनारी ।
स्त्री आग है, पुरुप है नवनीत भाई,
उद्दीप्त एक, पिघले, मिलते बुराई ॥११५॥

होती सुशोभित तथापि सुनारि जाति,
फैली दिगन्त तक है जिन-शील ख्याति ।
ये है पवित्र धरती पर देवताये,
पूजे इन्हें नित सुरासुर अप्सराये ॥११६॥

कामाग्नि से जल रहा त्रयलोक सारा,
देखो जहाँ विषय की लपटें अपारा ।
वे धन्य है यदपि पूर्ण युवा बने है,
सत् शील से लस रहे निजमे रमे है ॥११७॥

जो एक, एक कर गत व्यतीत होती,
आती न लौट जनता रह जाय रोती।
मोही अधर्मरत हैं, उसकी निशायें,
जाती वृथा दुखद हैं उलटी दिशायें ॥११८॥

ले द्रव्य को वनिक तीन चले कमाने,
जाके बसे शहर में खुलती दुकाने।
है विज्ञ एक उनमें धन को बढ़ाता,
है एक मूल धन लेकर लौट आता ॥११९॥

औ मूढ़ मूल धन को जिसने गवाया,
सारा गया विथत हाय ! किया कराया।
ऐसा हि कार्य अबलों हमने किया है,
सद्धर्म पा उचित कार्य कहाँ किया है ? ॥१२०॥

आत्मा स्वरूप रत आतम को जनाता,
शुद्धात्मरूप निज सात्त्विक धर्म भाता।
आत्मा उसी तरह से उसको निभावे,
शीघ्रातिशीघ्र जिससे सुख पास आवे ॥१२१॥

(१०) संयम सूत्र

आत्मा मदीय दुखदा तरु शाल्मली है,
दाहात्मिका-विषम-वैतरणी नदी है।
किंवा सुनंदनवनी मनमोहिनी है,
है कामधेनु सुखदा दुख-हारिणी है ॥१२२॥

आत्मा हि दु:ख सुख रूप विभावकर्त्ता,
होता वही इसलिए उनका प्रभोक्ता।
आत्मा अनात्म रत ही रिपु है हमारा,
तल्लीन हो स्वयम में तब मित्र प्यारा ॥१२३॥

आत्मा मदीय रिपु है बन जाय स्वैरी,
स्वच्छन्द इन्द्रिय-कषाय-निकाय बैरी ।
जीतूँ उन्हे निजनियत्रण मे रखूँ मै,
धर्मानुसार चल के निज को लखूँ मै ॥१२४॥

जीते भले हि रिपु को रण मे प्रतापी,
मानो उसे न विजयी, वह विश्वतापी ।
रे ! शूर वीर विजयी जग मे वही है,
जो जीतता स्वयम को बनता सुखी है ॥१२५॥

जीतो भले हि पर को, पर क्या मिलेगा ?
पूछूँ तुम्हे दुरित क्या उससे टलेगा ?
भाई लडो स्वयम से मत दूसरो से,
छूटो सभी सहज से भव बधनो से ॥१२६॥

अत्यत ही कठिन जो निज जीतना है,
कर्त्तव्य मान उस को बस साधना है ।
जो जी रहा जगत मे बन आत्म जेता,
सर्वत्र दिव्य सुख का वह लाभ लेता ॥१२७॥

औचित्य है न परके वध बधनो से,
मै हो रहा दमित, जो कि युगो युगो से ।
होगा यही उचित, संयम योग धारूँ,
विश्वास है, स्वयम पे जय शीघ्र पाऊँ ॥१२८॥

हो एक से विरति तो रति एक से हो,
प्रत्येक काल सब कार्य विवेक से हो ।
ले लो अभी तुम असयम से निवृत्ति,
सारे करो सतत सयम मे प्रवृत्ति ॥१२९॥

है राग रोष अघ कोष नही सुहाते,
ये पाप कर्म, सब से सहसा कराते।
योगी इन्हे तज, जभी निज धाम जाते,
आते न लौट भव मे, सुख चैन पाते ॥१३०॥

लो, ज्ञान ध्यान तप सयम साधनो को,
हे साधु! इन्द्रिय-कषाय निकाय रोको।
घोडा कदापि रुकता न बिना लगाम,
ज्यो ही लगाम लगता, बनता गुलाम ॥१३१॥

चारित्र मे जिन समान बने उजाले,
वे वीतराग, उपशान्त कषाय वाले।
नीचे, कषाय उनको जब है गिराती,
जो है सराग, फिर क्या न उन्हे नचाती? ॥१३२॥

हा! साधु भी समुपशान्त कषाय वाला,
होता कषाय वश मद विशुद्धि वाला।
विश्वास भाजन कषाय अत नही है,
जो आ रही उदय मे अथवा दबी है ॥१३३॥

थोडा रहा ऋण, रहा वृण मात्र छोटा,
है राग, आग लघु यो कहना हि खोटा।
विश्वास क्योकि इनपे रखना बुरा है,
देते सुशीघ्र बढ के दुख मर्मरा हैं ॥१३४॥

ना क्रोध के निकट "प्रेम" कदापि जाता,
है मान से विनय शीघ्र विनाश पाता।
माया विनष्ट करती जग मित्रता को,
आशा विनष्ट करती सब सभ्यता को ॥१३५॥

क्रोधाग्नि का शमन शीघ्र करो क्षमा से,
रे ! मान मर्दन करो तुम नम्रता से ।
धारो विशुद्ध ऋजुता मिट जाय माया,
सतोष मे रति करो, तज लोभ जाया ॥१३६॥

ज्यो देह मे सकल अग उपागको को,
लेता समेट कछवा, लख सकटो को ।
मेधावि लोग अपनी सब इन्द्रियो को,
लेते समेट निजमे भजते गुणो को ॥१३७॥

अज्ञान मान वश दी कुछ ना दिखाई,
मानो, अनर्थ घटना घट जाय भाई ।
सद्य उसी समय ही उसको मिटाओ,
आगे कदापि फिर ना तुम भूल पाओ ॥१३८॥

जो धीर धर्म रथ को रुचि से चलाता,
है ब्रह्मचर्य सर मे डुबकी लगाता ।
आराम-धर्ममय जो जिसको सुहाता,
धर्मानुकूल विचरें मुनि मोद पाता ॥१३९॥

(११) अपरिग्रह सूत्र

जो भी परिग्रह रखे विषयाभिलाषी,
वे चोर हिंसक कुशील असत्य भाषी ।
ससार की ''जड़'' परिग्रह को बताया,
यो सग को जिनप ने मन से हटाया ॥१४०॥

जो मूढ ले परम सयम से उदासी,
धारे धनादिक परिग्रह दास दासी ।
अत्यन्त दु ख सहता भव मे डुलेगा,
तो मुक्ति द्वार अवरुद्ध नही खुलेगा ॥१४१॥

जो चित्त से जब परिग्रह को हटाता,
है बाह्य के सब परिग्रह को मिटाता।
है वीतराग समधी अपरिग्रही है,
देखा स्वकीय पथ को मुनि ने सही है ॥१४२॥

मिथ्यात्व, वेदत्रय, हास्य विनाशकारी,
ग्लानी, रती, अरति, शोक, कुभीति भारी।
ये नोकषाय, नव, चार कषायियाँ है,
यो भीतरी जहर चौदह ग्रथिया है ॥१४३॥

ये खेत, धाम, धन धान्य अपारराशि,
शय्या, विमान, पशु, बर्तन, दास दासी।
नाना प्रकार पट, आसन पक्तिया रे।
ये बाहरी जडमयी दस ग्रथिया रे ॥१४४॥

अत्यत शात गत कान्त नितान्त चगा,
हो अतरग, बहिरग, निसग, नंगा।
होता सुखी सतत है जिस भाति योगी,
चक्री कहाँ वह सुखी उस भाति भोगी ॥१४५॥

ज्यो नाग अकुश बिना वश मे न आता,
खाई बिना नगर रक्षण हो न पाता।
त्यो सग त्याग बिन ही सब इन्द्रिया रे।
आती कभी न वश मे, तज ग्रंथिया रे ॥१४६॥

(१२) अहिंसा सूत्र

ज्ञानी तभी तुम सभी महिमा बनोगे,
सपूर्ण प्राणिवध को जब छोड़ दोगे ।
है साम्य धर्म वह है जिसमे न हिंसा
विज्ञान सभव कभी न, बिना अहिंसा ॥१४७॥

है चाहते जबकि ये जग जीव जीना,
होगा अभीष्ट किसको फिर मृत्यु पाना ?
यो जान, प्राणिवध को मुनि शीघ्र त्यागे,
निर्ग्रंथ रूप धरके, दिन रैन जागे ॥१४८॥

हे जीव ! जीव जितने जग जी रहे है,
विख्यात वे सब चराचर नाम से है ।
निर्ग्रंथ साधु बन, जान अजान मे ये,
मारे कभी न उनको, न कभी मराये ॥१४९॥

जैसा तुम्हे दुख कदापि नही सुहाता,
वैसा अभीष्ट परको दुख हो न पाता ।
जानो उन्हे निज समान, दया दिखाओ,
सम्मान मान उनको मन से दिलाओ ॥१५०॥

जो अन्य जीव वध है वध ओ निजी है,
भाई यही परदया, स्वदया रही है ।
साधू स्वकीय हितको जब चाहते है
वे सर्व जीव वध निश्चित त्यागते है ॥१५१॥

तू है जिसे समझता वध योग्य बैरी,
तू ही रहा "वह" अरे ! यह भूल तेरी ।
तू नित्य सेवक जिसे बस मानता है,
तू ही रहा "वह" जिसे नहिं जानता है ॥१५२॥

रागादि भाव उठना वह भाव हिसा,
होना अभाव उनका समझो अहिसा ।
त्रैलोक्य पूज्य जिनने हम को बताया,
कर्त्तव्य मान निजकार्य किया कराया ॥१५३॥

कोई मरो मत मरो नहि बध नाता,
रागादिभाव वश ही द्रुत कर्म आता ।
शास्त्रानुसार नय निश्चय नित्य गाता,
यो कर्म-बन्ध-विधि है, हमको बताता ॥१५४॥

है एक हिसक तथैक असयमी है,
कोई न भेद उनमे कहते यमी है ।
हिसा निरतर नितान्त बनी रहेगी,
भाई जहाँ जब प्रमाद-दशा रहेगी ॥१५५॥

हिसा नही, पर उपास्य बने अहिसा,
ज्ञानी करे सतत ही जिस की प्रशसा ।
ले लक्ष कर्म क्षयका बन सत्यवादी,
होता अहिसक वही मुनि अप्रमादी ॥१५६॥

हिसा मदीय यह आतम ही अहिसा,
सिद्धान्त के वचन ये करलो प्रशसा ।
ज्ञानी अहिसक वही मुनि अप्रमादी,
हा ! सिह से अधिक हिंसक हो प्रमादी ॥१५७॥

उत्तुग मेरु गिरि सा गिरि कौन सा है ?
निस्सीम कौन जग मे इस व्योम सा है ?
कोई नही परम धर्म बिना अहिसा,
धारो इसे विनय से तज सर्व हिसा ॥१५८॥

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] ॥[illegible]॥

(१३) अप्रमाद सूत्र

पाया इसे न अबला इसको न पाना
मन इष्ट काम लिया, न इसे कराना ।
ऐसा प्रमाद करते नहि सोचना है,
आ जाय काल कब भी नहि सूचना है ॥१६०॥

संसार में कुछ न सार असार सारे,
है सारभूत समताश्रित-छन्द प्यारे ।
सोये हुए पुरुष ये बस सर्व खोते
जो जागते सहज में विधि पंक धोते ॥१६१॥

सोना हि उत्तम अधार्मिक दुर्जनों का,
है श्रेष्ठ "जागरण" धार्मिक सज्जनों का ।
यों वत्सदेश नृप की अनुजा 'जयन्ती
वाणी सुनी जिनप की वह शीलवन्ती ॥१६२॥

सोया हुवा जगत में बुध नित्य जागे
जागे प्रबोध उर में सब पाप त्यागे ।
है काल "काल" तन निर्बल ना विवाद,
भेरण्ड से तुम अत तज दो प्रमाद ॥१६३॥

धाता अनेकविध आस्रव का प्रमाद,
लाता सहर्ष वर संवर अप्रमाद ।
ना हो प्रमाद तब पण्डित मोह-जेता
होता प्रमाद वश मानव मूढनेता ॥१६४॥

मोही प्रवृत्ति करने नहि कर्म खोते,
ज्ञानी निवृत्ति गहते, मन मैल धोते ।
धीमान धीर धरते, धरते न लोभ,
ना पाप ताप करते करते न क्षोभ ॥१६५॥

मोही प्रमत्त बनते, भयभीत होते,
खोते स्वकीय पदको दिन रैन रोते ।
योगी करे न भयको बन अप्रमत्त,
वे मस्त व्यस्त निजमे निज-दत्त चित्त ॥१६६॥

मोही ममत्व रखता न विराग होता,
विद्या उसे न मिलती दिन रैन सोता ।
कैसे मिले सुख उसे जब आलसी है,
कैसे बने "सदय" हिंसक तामसी है ॥१६७॥

भाई सदैव यदि जागृत तू रहेगा,
तेरा प्रबोध बढता बढता बढेगा ।
वे धन्य है सतत जाग्रत जी रहे है,
जो सो रहे अधम है विषयी रहे है ॥१६८॥

है देख, भाल चलता उठता, उठाता-
शास्त्रादि वस्तु रखता, तनको सुलाता ।
है त्यागता मल, चराचर को बचाता,
योगी अहिंसक दयालु वही कहाता ॥१६९॥

(१४) शिक्षा सूत्र

पाते नही अविनयी सुख सम्पदाये,
पा ज्ञान गौरव सुखी विनयी सदा ये ।
जानो यही अविनयी-विनयी समीक्षा
ज्ञानी बनो सहज, पाकर उच्च शिक्षा ॥१७०॥

मिथ्याभिमान करना, मनक्रोध लाना,
पाना प्रमाद, तनमे कुछ रोग आना ।
आलस्यकानुभव, ये जब पच होते
शिक्षा मिले न हम बालक सर्व रोते ॥१७१॥

आलस्य हास्य मनरजन त्याग देना,
होना सुशील, मन-इन्द्रिय जीत लेना
क्रोधी कभी न बनना, बनना न दोषी,
ना भूलना विषय मे न असत्य-पोषी ॥१७२॥

भाई कदापि बनना न रहस्य भेदी,
ऐसा सदैव कहते गुरु आत्म वेदी ।
आजाय आठ गुण जीवन मे किसी के,
विद्या निवास करती मुख मे उसी के ॥१७३॥

सिद्धान्त के मनन से मन-हाथ आता,
विज्ञान भानु उगता, तमको मिटाता ।
जो धर्म निष्ठ बनता, परको बनाता,
सद्बोध रूप सरमे डुबकी लगाता ॥१७४॥

ससार को प्रिय लगे प्रिय बोल बोलो,
सद्ध्यान से तप तपो दृग पूर्ण खोलो ।
सिद्धान्त को गुरुकुली बन के पढोगे,
सद्य सभी श्रुत विशारद जो बनोगे ॥१७५॥

जाज्वल्य मान इक दीपक से अनेको,
है शीघ्र दीप जलते अयि मित्र देखो ।
आचार्य दीप सम है तमको मिटाते,
आलोक धाम हमको सहसा बनाते ॥१७६॥

(१५) आत्म सूत्र

तत्वो, पदार्थ निचयो, जडवस्तुओ मे,
है जीव ही परम श्रेष्ठ यहाँ सबो मे ।
भाई अनन्त गुण धाम नितान्त प्यारा,
ऐसा सदा समझ, ले उसका सहारा ॥१७७॥

आत्मा वही त्रिविध है बहिरतरात्मा,
आदेय है परम आतम है महात्मा
दो भेद है परम आतम के सुजानो,
है वीतराग "अरहन्त" सुसिद्ध" मानो ॥१७८॥

मै हूँ शरीरमय ही बहिरात्म गाता,
जो कर्म मुक्त परमातम है कहाता ।
चैतन्य धाम मुझसे, तन है निराला,
यो अन्तरात्म कहता, सम दृष्टिवाला ॥१७९॥

जो जानते जगत को बन निर्विकारी,
सर्वज्ञदेव अरहन्त शरीर धारी ।
वे सिद्ध चेतन-निकेतन मे बसे है,
सारे अनन्त सुख से सहसा लसे है ॥१८०॥

वाक्काय से मनस से ऋषि सन्त सारे,
वे हेय जान बहिरात्मपना विसारे ।
हाँ ! अन्तरात्मपन को रुचि से सुधारे
प्रत्येक काल परमातमको निहारे ॥१८१॥

[illegible] ॥[illegible]॥

[illegible] ॥[illegible]॥

[illegible] ॥[illegible]॥

आत्मा सचेतन अरूप अगन्ध प्यारा,
अव्यक्त है अरस और अशब्द न्यारा।
आता नहीं पकड़ में अनुमान द्वारा,
संस्थान से रहित है गुण का पिटारा ॥१८५॥

आत्मा मदीय गतदोष अयोग योगी,
निश्चिन्त है निडर है [illegible]।
निर्मोह, एक, नित, है सब संग त्यागी,
है देह से रहित, निर्मम, वीतरागी ॥१८६॥

सतोष-कोष, गतरोष, अदोष ज्ञानी,
निःशल्य शाश्वत दिगम्बर है अमानी
नीराग निर्मद नितान्त प्रशान्त नामी,
आत्मा मदीय, नय निश्चय से अकामी ॥१८७॥

ना अप्रमत्त मम आतम ना प्रमत्त,
है शुद्ध, नय से मद मान-मुक्त ।
ज्ञाता वही सकल-ज्ञायक यो बताते,
वे साधु शुद्धनय आश्रय ले सुहाते ॥१८८॥

हूँ ज्ञानवान, मन ना, तन ना, न वाणी,
होऊं नहीं करण भी उनका न मानी ।
कर्त्ता न कारक न हूँ अनुमोददाता,
धाता स्वकीय गुणका, पर से न नाता ॥१८९॥

स्वामी ! जिसे स्वपर बोधि भला मिला है,
सौभाग्य से दृग-सरोज खुला खिला है ।
ओ क्या कदापि परको अपना कहेगा ?
ज्ञानी न मूढ सम दोष कभी करेगा ॥१९०॥

मै एक शुद्धनय से दृग बोधस्वामी,
हूँ शुद्ध, बुद्ध, अवरुद्ध अबद्ध नामी ।
निर्मोह भाव करता निजलीन होऊं,
शुद्धोपयोग-जल से विधी-पंक धोऊं ॥१९१॥

प्रथम खंड समाप्त

दोहा

"ज्योतिर्मुख" को नित्त नमूँ छूटे भव-भव-जेल,
सत्ता मुझको मम दिखे ज्योति ज्योति का मेल ॥१॥

द्वितीय खण्ड

१८ मोक्षमार्गसूत्र

वैराग्य से विमल मंगल बोध पाया,
"सन्मार्ग" "मार्गफल" को जिन ने बताया।
"सम्यक्त्वमार्ग" जिसका फल मोक्ष न्यारा,
है जैन शासन यही सुन रे अपारा ॥१९२॥

चारित्र बोध-दृग है शिवपथ प्यारा,
ले लो अभी तुम यही इसका सहारा।
तीनों सराग जब लौं कुछ बन्ध नाता,
ये वीतराग बनते, शिव पास आता ॥१९३॥

धर्मानुराग सुख दे, दुख मेट देता,
ज्ञानी प्रमाद वश हो यदि मान लेता,
अध्यात्म से पतित हो पुनि पुण्य पाता,
होता विलीन परमें, निजको भुलाता ॥१९४॥

भाई अभव्य व्रत क्यों न सदा निभाले,
ले ले भले हि तप, संयम-गीत गाले।
और गुप्तियाँ समितियाँ कुलशील पाले,
पाते न बोध दृग, ना बनते उजाले ॥१९५॥

जानो न निश्चय तथा व्यवहारधर्म,
बाधो सभी तुम शुभाशुभ अष्ट कर्म।
सारी क्रिया वितथ हो कुछ भी करो रे!
जन्मो, मरो, भ्रमित हो भव मे फिरो रे! ॥१९६॥

सद्धर्म धार उसकी करते प्रतीति,
श्रद्धान गाढ रखते रुचि और प्रीति ।
चाहे अभव्य फिर भी भव भोग पाना,
ना चाहते धरम से विधि को खपाना ॥१९७॥

है पाप जो अशुभ भाव वही तुम्हारा,
है पुण्य सौम्य शुभ भाव सभी विकारा ।
है निर्विकार निजभाव नितान्त प्यारा,
हो कर्म नष्ट जिससे, सुख शान्ति धारा ॥१९८॥

जो पुण्य का चयन ही करता रहा है,
ससार को बस अवश्य बढा रहा है ।
हो पुण्य से सुगति, पै भव ना मिटेगा,
हो पुण्य भी गलित तो शिव जो मिलेगा ॥१९९॥

मोही कहे कि शुभभाव सुशील प्यारा,
खोटा बुरा अशुभ भाव कुशील खारा ।
संसार के जलधि मे जब जो गिराता,
कैसे सुशील शुभ भाव, ? मुझे न भाता ॥२००॥

दो बेडिया, कनक की इक लोह की है,
ज्यो एक सी पुरुष को कस बांधती है ।
हा ! कर्म भी अशुभ या शुभ क्यो न होवें,
त्यो बाधते नियम से जड जीवको वे ॥२०१॥

दोनो शुभाशुभ कुशील, कुशील त्यागो
ससर्ग राग इनका तज नित्य जागो
संसर्ग राग इनका यदि जो रखेगा
स्वाधीनता विनशती, दुख ही सहेगा ॥२०२॥

अच्छा व्रतादिक तया सुर सौख्य पाना
स्वच्छन्दता अनि नर्ग फिर श्वभ्र जाना।
अत्यन्त अन्तर यथावत मे रहा है
छाया-सुधूप द्वय में जितना रहा है ॥२०३॥

चक्री बनो सुकृत से, सुर सम्पदायें,
लक्ष्मी मिले, अमित दिव्य विलासतायें।
प पुण्य से परम पावन पाण त्याग,
सम्यक्त्व हा! न मिलता सुख का पिटारा ॥२०४॥

देवायुपूर्ण दिवि में कर देव आते,
वे देव से अवनि पे नर योनि पाते।
भोगोपभोग कर, जीवन है बिताते,
यो पुण्य का फल हमें गुरु है बताते ॥२०५॥

वे भोग, भोग करभी नहि फलते है,
मक्खी समा विषय मे नहि झलते है।
सस्कार है विगत के जिससे सदीव,
आत्मानुचितन सुधी करते अतीव ॥२०६॥

पाना मनुष्य भव को जिन देशना को,
श्रद्धा समेत सुनना तप साधना को।
वे जान दुर्लभ इन्हे बुधलोक सारे,
काटे कुकर्म मुनि हो शिव को पधारे ॥२०७॥

१७ रत्नत्रय सूत्र (अ) व्यवहार रत्नत्रय

तत्वार्थ मे रुचि हुई, दृग हो वहीसे,
सज्ज्ञान हो मनन आगम का सही से ।
सच्चा तपश्चरण चारित नाम पाता,
है मोक्षमार्ग व्यवहार यही कहाता ॥२०८॥

श्रद्धान लाभ, बुध, दर्शन से लुटाता,
विज्ञान से सब पदार्थन को जनाता ।
चारित्रधार विधि आस्रवरोध पाता,
अत्यन्त शुद्ध निजको तपसे बनाता ॥२०९॥

निस्सार है चरित के बिन, ज्ञान सारा,
सम्यक्त्व के बिन, रहा मुनि भेष भारा ।
होता न संयम बिना तप कार्यकारी,
ज्ञानादि रत्नत्रय है भव दु ख हारी ॥२१०॥

विज्ञान का उदय हो दृग के बिना ना,
होते न ज्ञान बिन मित्र ! चरित्र नाना ।
चारित्र के बिन न हो शिव मोक्ष पाना,
तो मोक्ष के बिन कहाँ सुख का ठिकाना ? ॥२११॥

हा ! अज्ञ की सब क्रिया उलटी दिशा है
भाई क्रिया रहित ज्ञान व्यथा वृथा है
पंगू लखे अनल को न बचे कदापि,
दौडे भले हि वह अन्ध जले तथापि ॥२१२॥

विज्ञान सयम मिले, फल हाथ आता,
हो एक चक्र रथको, चल वो न पाता ।
होवे परस्पर सहायक पगु अन्धा,
दावाग्नि से बच सके, कहते जिनंदा ॥२१३॥

(आ) निश्चय रत्नत्रय सूत्र

ससार मे समयसार सुधा-सुधारा,
लेता प्रमाण नयका न कभी सहारा ।
होता वही दृगमयी वर बोध-धाम
मेरे उसे विनय से शतश प्रणाम ॥२१४॥

साधू चरित्र, दृग बोध समेत पालें,
आत्मा उन्हें समझ, आतम गीत गाले ।
ज्ञानी नितान्त निजमे निजको निहारे
वे अन्त में गुण अनन्त अवश्य धारे ॥२१५॥

ज्ञानादि रत्नत्रय मे रतलीन होना,
धोना कषाय मलको, बनना सलोना ।
स्वीकारना न करना तजना किसी को,
तू जान मोक्षपथ वास्तव में इसी को ॥२१६॥

सम्यक्त्व है वह निजातमलीन आत्मा
विज्ञान है समझना निजको महात्मा ।
आत्मस्थ आतम पवित्र चरित्र होता,
जानो जिनागम यही, अपि भव्य श्रोता ॥२१७॥

आत्मा मदीय यह संयम बोध-धाम,
चारित्र दर्शनमयी लसता ललाम ।
है त्यागरूप, सुखकूप, अनूप, भूप
ना नेत्रका विषय है नित है अरूप ॥२१८॥

१८ सम्यग्दर्शन सूत्र

(अ) व्यवहार सम्यक्त्व और निश्चय सम्यक्त्व

सम्यक्त्व, रत्नत्रय मे वर मुख्य नामी
है मूल, मोक्ष तरु का, तज काम कामी ।
है एक निश्चय तथा व्यवहार दूजा,
होते द्विभेद, उनकी कर नित्य पूजा ॥२१९॥

तत्वार्थ मे रुचि भली भवसिन्धु सेतु,
सम्यक्त्व मान उसको व्यवहार से तू
सम्यक्त्व निश्चयतया निज आतमा ही
ऐसा जिनेश कहते शिव राह राही ॥२२०॥

कोई न भेद, दृग मे, मुनि मौन मे है
माने इन्हे सुबुध "एक" यथार्थ मे है ।
होता अवश्य जब निश्चय का सुहेतु
सम्यक्त्व मान व्यवहार, सदा उसे तू ॥२२१॥

योगी बनो, अचल मेरु बनो तपस्वी,
वर्षो भले तप करो, बनके यशस्वी
सम्यक्त्व के बिन नही तुम बोधि पाओ
ससार मे भटकते दुख ही उठाओ ॥२२२॥

वे भ्रष्ट है पतित, दर्शन भ्रष्ट जो है,
निर्वाण प्राप्त करते न निजात्म को है ।
चारित्र भ्रष्ट पुनि चारित ले सिजेगे,
पै भ्रष्ट दर्शनतया नहि वे सिजेंगे ॥२२३॥

जो भी सुधा दृगमयी रुचि संग पीता,
निर्वाण पा, अमर हो, चिर काल जीता।
मिथ्यात्व रूप मद पान अरे ! करेगा
होगा सुखी न, भव मे भ्रमता फिरेगा ॥२२४॥

अत्यंत श्रेष्ठ, दृग ही जग मे सदा से
माना गया जडमयी सब संपदा से
तो मूल्यवान, मणि से कब "काच" होता ?
स्वादिष्ट उष्ट, घृत से कब छाछ होता ? ॥२२५॥

होंगे हुए परम आतम हो रहे है
तल्लीन आत्म सुख मे नित जो रहे है।
सम्यक्त्व का सुफल केवल जो रहा है।
मिथ्यात्व से दुखित हो जग रो रहा है ॥२२६॥

ज्यो शोभता कमलिनी दृगमंजु पत्र,
हो नीर मे न सडता रहता पवित्र।
त्यो लिप्त हो विषय से न, मुमुक्ष प्यारे,
होते कषाय मल से अति दूर न्यारे ॥२२७॥

धारे विराग दृग जो जिनधर्म पा के,
होते उन्हे विषय, कारण निर्जरा के।
भोगोपभोग करते सब इन्द्रियो से,
साधू सुधी न बँधते विधि-बंधनो से ॥२२८॥

वे भोग, भोग कर भी बुध हो न भोगी,
भोगे बिना जड़कुधी बन जाय भोगी।
इच्छा बिना यदि करे कुछ कार्य त्यागी,
कर्त्ता कथं फिर बने ? उनके विरागी ॥२२९॥

ये काम भोग न तुम्हे समता दिलाते,
भाई ! विकार तुम मे न कभी जगाते ।
चाहो इन्हे, यदि डरो इनसे जभी से,
पाओ अतीव दुख को सहसा तभी से ॥२३०॥

(आ) सम्यग्दर्शन अंग

ये अष्ट अग दृग के, विनिशकिता है,
नि काक्षिता विमल निर्विचिकित्सिता है ।
चौथा अमूढपन है उपगूहनाको,
धारो स्थितिकरण "वत्सल" भावना को ॥२३१॥

नि शक हो निडर हो समदृष्टि वाले,
सातो प्रकार भय छोड स्वगीत गाले ।
नि शकिता अभयता इक साथ होती,
है भीति ही स्वयम हो भयभीत, रोती ॥२३२॥

काक्षा कभी न रखता जडपर्ययो मे,
धर्मों पदार्थ दलके विधि के फलो मे ।
होता वही मुनि निकाक्षित अङ्ग धारी,
बन्दूँ उन्हे बन सकूँ द्रुत निर्विकारी ॥२३३॥

सम्मान पूजन न वदन जो न चाहे,
ओ क्या कभी श्रमण हो निज ख्याति चाहे ?
हो सयमी यति व्रती निज आत्म खोजी,
हो भिक्षु तापस वही उसको नमोजी ॥२३४॥

हे ! योगियो ! यदि भवोदधि पार जाना
चाहो अलौकिक अपार स्वसौख्य पाना ।
क्यो ख्याति लाभ निज पूजन चाहते हो ?
क्या मोक्ष लाभ उनसे तुम मानते हो ? ॥२३५॥

कोई घृणास्पद नही जग मे पदार्थ,
सारे सदा परिणमे निज मे यथार्थ ।
ज्ञानी न ग्लानि करते फलत किसी से,
धारे तृतीय दृग अग तभी खुशी से ॥२३६॥

ना मुग्ध, मूढ, मुनि हो जग वस्तुओ मे,
हो लीन आप अपने अपने गुणो मे ।
वे ही महान समदृष्टि अमूढ दृष्टि,
नासाग्र-दृष्टि रख, नाशत कर्म सृष्टि ॥२३७॥

चारित्र बोधि दृग से निजको सजाओ,
धारो क्षमा, तप तपो विधि को खपाओ ।
माया-विमोह ममता तज, मार मारो,
हो वर्धमान, गतमान, प्रमाण धारो ॥२३८॥

शास्त्रार्थ गौण न करो, न उसे छुपाओ,
विज्ञान का मद घमण्ड नही दिखाओ ।
भाई किसी सुबुध की न हँसी उडाओ,
आशीश दो न पर को, पर को भुलाओ ॥२३९॥

ज्यो ही विकार लहरे मन मे उठे तो,
तत्काल योग त्रय से उनको समेटो ।
औचित्य ! अश्व जब भी पथ भूलता हो,
ले लो लगाम करमे, अनुकूलता हो ॥२४०॥

हे ! भव्य गौतम ! भवोदधि तैर पाया,
क्यों व्यर्थ ही रुक गया, तट पास आया !
ले ले छलाग झटसे अब तो धरापे
आलस्य छोड, वरना दुख ही वहाँ पे ॥२४१॥

श्रद्धा समेत-चलते बुध धर्मिको की-
सेवा सभक्ति करते उनके गुणो की ।
मिश्री मिले वचन जो नित बोलते है,
वात्सल्य अग धरते, दृग खोलते है ॥२४२॥

योगी ! सुयोग रत हो गिरि हो अकम्पा,
धारो सदैव उर जीव दयाऽनुकम्पा ।
धर्मोपदेश नित दो तज वासना दो,
ऐसा करो कि जिनधर्म प्रभावना हो ॥२४३॥

वादी सुतापस निमित्त सुशास्त्र ज्ञाता,
श्री सिद्धिमान, वृषके उपदेश दाता ।
विद्याविशारद, कवीश विशेष वक्ता
होता प्रचार इनसे वृषका महत्ता ॥२४४॥

१८ सम्यग्ज्ञान सूत्र

सत्शास्त्र को सुन, हिताहित बोध पाओ,
आदेय हेय समझो, सुख चूकि चाहो ।
आदेय को झट भजो, तज हेय भाई !
इत्थं न हो कुगति से पुनि हो सगाई ॥२४५॥

आदेश, ज्ञान प्रभुका शिवपथ पथी,
पाके स्वमे विचरते, तज सर्वग्रथि ।
सम्यक्त्व योग तप सयम ध्यान धारे,
काटे कुकर्म, निज जीवन को सुधारे ॥२४६॥

ज्यो, ज्यो श्रुताम्बुनिधि मे डुबकी लगाता,
त्यो, त्यो व्रती नव नवीन प्रमोद पाता ।
वैराग्य भाव बढता श्रुतभावना हो,
श्रद्धान हो दृढ, नही फिर वासना हो ॥२४७॥

सूची भलेहि करसे गिर भी गई हो,
खोती कभी न यदि डोर लगी हुई हो ।
साधू ससूत्र यदि हो, श्रुत बोध वाला,
होता विनष्ट भवमे न, रहे खुशाला ॥२४८॥

भाई भले तुम बनो बुध मुख्य नेता,
वक्ता कवी विविध वाङ्मय वेद वेत्ता ।
आराधना यदि नहीं दृग की करोगे,
तो बार-बार तन धार दुखी बनोगे ॥२४९॥

तू राग को तनिक भी तन मे रखेगा,
शुद्धात्म को फिर कदापि नही लखेगा ।
होगा विशारद जिनागम मे भले ही
आत्मा त्वदीय दुख से भव मे रुले ही ॥२५०॥

आत्मा न आतम अनातम को लखेगा,
सम्यक्त्वपात्र किस भाति अहो बनेगा
आचार्य देव कहते बन वीतरागी,
क्यों व्यर्थ दु ख सहता, तज राग रागी ॥२५१॥

तत्वावबोध सहसा जिससे जगेगा,
चाचल्यचित्त जिससे वश मे रहेगा ।
आत्मा विशुद्ध जिससे शशि सा बनेगा,
होगा वही विमल "ज्ञान" स्व सौख्य देगा ॥२५२॥

महात्म्य ज्ञान गुण का यह मात्र सारा,
रागी, विराग बनता तज राग खारा ।
मैत्री सदैव जग से रखता सुचारा,
शुद्धात्म मे विचरता, सुख पा अपारा ॥२५३॥

आत्मा, अनन्त, निज, शून्य उपाधियो से,
अत्यन्त भिन्न पर से, विधि बन्धनो से ।
ऐसा निरन्तर निजातम देखते है ?
वे ही समग्र जिनशासन जानते है ॥२५४॥

हूँ काय से विकल, केवल, केवली हूँ
हूँ एक हूँ विमल ज्ञायक हूँ , बली हूँ
जो जानता स्वयम को इस भाँति स्वामी !
निर्भ्रान्त हो वह जिनागमपारगामी ॥२५५॥

साधू समाधिरत हो निजको विशुद्ध
जाने, बने सहज शुद्ध अबद्ध बुद्ध ।
रागी स्वको समझ रागमयी विचारा,
होता न मुक्त भवसे, दुख हो अपारा ॥२५६॥

जो जानते मुनि निजातम को यदा है,
वे जानते नियमसे परको तदा है ।
है जानना स्वपर को इक साथ होता
ऐसा जिनागम रहा, दुख सर्व खोता ॥२५७॥

जो एक को सहज से मुनि जानते है,
वे सर्व को समझते जब जागते है ।
यो ईश का सदुपदेश सुना हमेशा,
संक्लेश द्वेष तज शीघ्र बनो महेशा ॥२५८॥

सद्बोधि रूप सर मे डुबकी लगाले,
संतप्त तू स्नपित हो सुख तृप्ति पाले ।
तो अन्त मे बल अनन्त ज्वलन्त पाके
विश्राम ले, अमित काल स्वधाम जाके ॥२५९॥

अर्हन्त स्वीय गृह को द्रुत जा रहे है,
वे शुद्ध-द्रव्य गुण पर्यय पा रहे है ।
जो जानता यति उन्हे निज जानता है
समोह कर्म उसका झट भागता है ॥२६०॥

ज्यो वित्त बाँट स्वजनो नहि दूसरो मे,
भोगी सुभोग करता दिन रात्रियो मे ।
पा नित्य ज्ञान निधि, नित्य नितान्त ज्ञानी,
त्यो हो सुखी, न रमता पर मे अमानी ॥२६१॥

२० सम्यक्चारित्र सूत्र

(अ) व्यवहार चारित्र सूत्र

होते सुनिश्चय नयाश्रित वे अनूप,
चारित्र और तप निश्चय सौख्यकूप ।
पे व्यावहार नय-आश्रित ना स्वरूप
चारित्र ओर तप वे व्यवहार रूप ॥२६२॥

जो त्यागना अशुभको शुभ को निभाना
मानो उसे हि व्यवहार चरित्र बाना ।
ये गुप्तियाँ समितियाँ व्रत आदि सारे,
जाते सदैव व्यवहारतया पुकारे ॥२६३॥

चारित्र के मुकुट से शिर ना सजोगे,
आरूढ सयममयी रथ पे न होगे ।
स्वाध्याय में रत रहो तुम तो भले ही
ना मुक्ति मजिल मिले, दुख ना टले ही ॥२६४॥

देता क्रियारहित ज्ञान नही विराम,
मार्गज्ञ हो यदि चलो न, मिले न धाम।
किंवा नहीं यदि चले अनुकूल वात,
पाता न पोत तट को यह सत्य बात ॥२६५॥

चारित्र शून्य नर जीवन ही व्यथा है,
तो आगमाध्ययन भी उसका वृथा है।
अन्धा कदापि कुछ भी जब ना लखेगा
जाज्वल्यमान करदीपक क्या करेगा ? ॥२६६॥

अत्यल्प भी बहुत है श्रुत ही उन्ही का,
जो सयमी, सतत ध्यान धरूँ उन्ही का।
सागार का बहुत भी श्रुत बोध "भारा",
चारित्र को न जिसने उरसे सुधारा ॥२६७॥

(आ) निश्चय चारित्र

आत्मार्थ आतम निजातम मे समाता,
सच्चा सुनिश्चय चरित्र वही कहाता।
हे भव्य पावन पवित्र चरित्र पालो
पालो अपूर्व पदको, निजको दिपालो ॥२६८॥

शुद्धात्म को समझके परमोपयोगी,
है पाप पुण्य तजता, धर योग योगी।
ओ निर्विकल्प मय चारित है कहाता,
मेरे समा निकट भव्यन को सुहाता ॥२६९॥

रागाभिभूत बन तू पर को लखेगा,
भाई शुभाशुभ विभाव खरीद लेगा।
तो वीतराग मय चारित से गिरेगा,
संसार बीच पर चारित से फिरेगा ॥२७०॥

हो अतरग बहिरग निसग नगा,
शुद्धात्म मे विचरता जब साधु-चगा ।
सम्यक्त्व बोधमय आतम देख पाता,
आत्मीय चारित सुधारक है कहाता ॥२७१॥

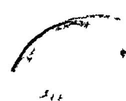
आतापनादि तप से तन को तपाना
अध्यात्म से स्खलित हो व्रत को निभाना
हे मित्र ! बालतप सयम वो कहाता,
ऐसा जिनेश कहते, भव मे घुमाता ॥२७२॥

लो ! मास मास उपवास करे रुची से,
अत्यल्प भोजन करे न डरे किसी से ।
पै आत्म बोध बिन मूढ व्रती बनेगा ?
ना धर्म लाभ लवलेश उसे मिलेगा ॥२७३॥

चारित्र ही परम धर्म यथार्थ मे है,
साधू जिसे शममयी लख साधते हैं ।
मोहादिसे रहित आतम भाव प्यारा,
माना गया समय मे शम साम्य सारा ॥२७४॥

मध्यस्थ भाव समभाव, विराग भाव,
चारित्र, धर्ममय भाव, विशुद्ध भाव ।
आराधना स्वयम की पद सात सारे
है भिन्न भिन्न, पर आशय एक धारे ॥२७५॥

शास्त्रज्ञ हो श्रमण हो समधी तपस्वी,
हो वीतरागी व्रत सयम मे यशस्वी ।
जो दु ख मे व सुख में समता रखेगा
शुद्धोपयोग उस ही क्षण मे लखेगा ॥२७३॥



शुद्धोपयोग दृग है वर बोध-भानु
निर्वाण, सिद्धि, शिव भी उसको हि जानूँ ।
मानूँ उसे श्रमणता मन मे बिठालूँ ?
वदूँ उसे नित नमूँ निज को जगालूँ ॥२७७॥

शुद्धोपयोग वश साधु सुसिद्ध होते,
स्वात्मोत्थ-सातिशय शाश्वत सौख्य जोते ।
जाती कही न जिसकी महिमा कभी भी,
अन्यत्र छोड जिसको सुख ना कही भी ॥२७८॥

वे मोह राग-रति-रोष नही किसी से
धारे सुसाम्य सुख मे दुख मे रुचि से ।
होके बुभुक्षु नहि, भिक्षु, मुमुक्षु होके
आते हुए सब शुभाशुभ कर्म रोके ॥२७९॥

(३) समन्वय सूत्र

है वीतराग व्रत साध्य सदा सुहाता,
होता सराग व्रत साधन, साध्यदाता ।
तो पूर्व साधन, अनन्तर साध्य धारो,
सपूर्ण बोध मिलता, शिवको पधारो ॥२८०॥

ज्यो भीतरी कलुषता मिटती चलेगी,
त्यो बाहरी विमलता बढती बढेगी ।
देही प्रदोष मन मे रखता जभी है,
हा! बाह्य दोष सहसा करता तभी है
रे! पक भीतरी सरोवर मे रहा है
जो बाह्य मे जल कलंकित हो रहा है ॥२८१॥

जो पाँच पाप तज, पावन पुण्य पाता,
हो दूर भी अशुभ से शुभको जुटाता ।
रागादि भाव फिर भी यदि ना तजेगा
शुद्धात्म को न मुनि होकर भी भजेगा ॥२८३॥

तो आदि में अशुभ को शुभ से मिटाओ,
शुद्धोपयोग बल से शुभको हटाओ ।
ऐसा अनुक्रमण से कर कार्य योगी ।
ध्याओ निजात्म-जिनको, सुख शान्ति होगी ॥२८४॥

चारित्र नष्ट, जब हो, दृग बोध घाते
जाते सुनिश्चय सही रह वे न पाते
हो या न हो विलय पे दृग बोध का रे ।
जावे चरित्र, मत यो व्यवहारका रे ! ॥२८५॥

श्रद्धापुरी सुरपुरी सम जो सजाओ,
ताला वहाँ सुतप संवर का लगाओ
पाताल गामिनि क्षमामय खातिका हो
प्राकार गुप्तिमय हो नभ छू रहा हो ॥२८६॥

औ धैर्य से धनुष-त्यागमयी सुधारो,
सद्ध्यान वाण बल से विधि को विदारो ।
जेता वनो विधि रणांगन के मुनीश !
हो वो विमुक्त भवसे, जगदीश धीश ॥२८७॥

- २१ साधना सूत्र -

उद्बोधि प्राप्त करलो गुरु गीत गालो,
जीतो क्षुधा विषय मन को बचालो ।
निद्राजयी बन दृढासन को लगालो,
पश्चात् सभी तुम निजातम ध्यान पालो ॥२८८॥

सपूर्ण ज्ञान-मय-ज्योति-शिखा जलेगा,
अज्ञान मोहतम पूर्ण तभी मिटेगा ।
हो नष्ट, राग रति रोषमयी प्रणाली,
उत्कृष्ट सौख्य मिलता, मिटती भवाली ॥२८९॥

दु सग से बच जिनागम चित्त देना,
एकान्त वास करना, धृतिधार लेना ।
सूत्रार्थ चितन तथा गुरु वृद्ध सेवा
ये ही उपाय शिव के, मिल जाय मेवा ॥२९०॥

हो चाहते मुनि पुनीत समाधि पाना,
साथी, व्रती श्रमण बुध को बनाना ॥
एकान्त वास करना, भय त्याग देना,
शास्त्रानुसार, मित भोजन मात्र लेना ॥२९१॥

जो अल्प, शुद्ध, तप वर्धक अन्न लेते
क्या वैद्य औषध उन्हे कुछ काम देते ?
ना गृद्धता अशन मे रखते न लिप्सा
वे वैद्य हो, कर रहे अपनी चिकित्सा ॥२९२॥

प्राय अतीव रस सेवन हानिकारी,
उन्मत्तता उछलती उससे विकारी ।
पक्षी समूह, फल-फूल-लदे द्रमो को
ज्यो कष्ट दे, मदन त्यो विषयी जनोको ॥२९३॥

जो सर्व-इन्द्रिय जयी, मित भोज पाते,
एकान्त मे शयन आसन भी लगाते
रागादि दोष, उनको लख कॉप जाते
पीते दवा उचित, रोग विनाश पाते ॥२९४॥

आ व्याधिया न जबलौ तुमको सताती,
आती जरा न जबलौ तनको सुखाती ।
ना इन्द्रियाँ शिथिल हो जब लौ तुम्हारी
धारो स्वधर्म तबलौ शिव सौख्यकारी ॥२९५॥

- २२ द्विविध धर्म -

सन्मार्ग है "श्रमण" श्रावक" भेद से दो,
उन्मार्ग शेष, उनको तज शीघ्र से दो ।
मृत्युजयी अजर है अज है बली हैं,
ऐसा सदा कह रहे जिन केवली हैं ॥२९६॥

"स्वाध्याय" "ध्यान" यति धर्म प्रधान जानो,
भाई बिना न इनके यति को न मानो ।
है धर्म, श्रावक करे नित दान पूजा,
ऐसा करे न, वह श्रावक है न दूजा ॥२९७॥

होता सुशोभित पदो अपने गुणो से,
साधू सुसस्तुत वही सब श्रावको से ।
पै साधु हो यदि परिग्रह भार धारे,
सागार श्रेष्ठ उनसे गृहधर्म पारे ॥२९८॥

कोई प्रलोभ-वश साधु बना हुआ हो
पै शक्तिहीन व्रतपालन मे रहा हो ।
तो श्रावकाचरण ही करता कराता,
ऐसा जिनेश मत है हमको बताता ॥२९९॥

श्री श्रावकाचरण मे व्रत पच होते,
है सात शीलव्रत ये विधि पक धोते ।
जो एक या व्रतो सबको निभाता,
है भव्य श्रावक वही जगमे कहाता ॥३००॥

- २३ श्रावक धर्म सूत्र -

चारित्र धारक गुरो ! करुणा दिखा दो,
चारित्र का विधि-विधान हमे सिखा दो ।
ऐसा सदैव कह श्रावक भव्य प्राणि,
चारित्र धारण करे सुन सन्त वाणी ॥३०१॥

जो सप्तधा व्यसन सेवन त्याग देते,
भाई कभी फल उदुम्बर खा न लेते ।
वे भव्य दार्शनिक श्रावक नाम पाते,
धीमान धार दृग को निजधाम जाते ॥३०२॥

रे मद्यपान परनारि कुशील खोरी
अत्यन्त क्रूरतमदड, शिकार, चोरी
भाई असत्यमय भाषण द्यूत क्रीडा
ये सात है व्यसन, दे दिन-रैन पीडा ॥३०३॥

है मास के अशन से मति दर्प छाता,
तो दर्प से मनुज को मद पान भाता ।
है मद्य पीकर जुआ तक खेल लेता,
यो सर्व दोष करके दुख मोल लेता ॥३०४॥

रे मास के अशन से जब व्योमगामी,
आकाश से गिर गया वह विप्र स्वामी ।
ऐसी कथा प्रचलिता सबने सुनी है,
वे मास भक्षण अत तजते गुणी हैं ॥३०५॥

जो मद्य पान करते मदमत्त होते,
वे निन्द्य कार्य करते दुख बीज बोते ।
सर्वत्र दु ख सहते दिन रेन रोते,
कैसे बने फिर सुखी जिनधर्म खोते ॥३०६॥

निष्कम्प मेरुसम जो जिनभक्ति न्यारी,
जागी, विराग जननी उर मध्य प्यारी ।
वे शल्यहीन बनते रहते खुशी से,
निश्चित हो निडर ना, डरते किसी से ॥३०७॥

ससार मे विनय की गरिमा निराली,
है शत्रु, मित्र बनता, मिलती शिवाली ।
धारे अत विनय श्रावक भव्य सारे,
जावे सुशीघ्र भववारिधि के किनारे ॥३०८॥

हिसा, मृषावचन, स्तेय कुशीलता ये,
मूर्च्छा परिग्रह इन्ही वश हो व्यथाये ।
है पच पाप इनका इक देश त्याग
होता अणुव्रत, धरे जगजाय भाग ॥३०९॥

हा ! बध, छेद, वध निर्बल प्राणियो का,
सरोध अन्न जल पाशव मानवो का ।
क्रोधादि से मत करो टल जाय हिसा,
जो एक देश व्रत पालक हो अहिसा ॥३१०॥

भू-गो सुता-विषय मे न असत्य लाना,
झूठी गवाह, न धरोहर को दबाना ।
यो स्थूल सत्य व्रत है यह पचधा, रे !,
मोक्षेच्छु श्रावक जिसे रुचि सग धारे ॥३११॥

मिथ्योपदेश न करो, सहसा न बोलो,
स्त्रीका रहस्य अथवा परका न खोलो ।
ना कूट-लेखन लिखो, कुटिलाइता से,
यो स्थूल सत्य व्रत धार, बचो व्यथा से ॥३१२॥

राष्ट्रानुकूल चलना "कर" ना चुराना,
ले चौर्य द्रव्य नहि चोरनको लुभाना ।
धधा मिलावट करो न, अचौर्य पालो,
हा ! नापतोल नकली न कभी चलालो ॥३१३॥

स्त्री मात्र को निरखते अविकारता से,
क्रीडा अनग करते न निजी प्रिया से ।
होते कदाचित नहि अन्य-विवाह पोषी,
कामी अतीव बनते न, स्वदार तोषी ॥३१४॥

निस्सीम सग्रह परिग्रह का विधाता,
है दोष का, बस रसातल मे गिराता ।
तृष्णा अनन्त बढती सहसा उसी से,
उद्दीप्त ज्यो अनल दीपक तेल घी से ॥३१५॥

ग्राहस्थ्य के उचित जो कुछ काम के है,
सागार सीमित परिग्रह को रखे है ।
सम्यक्त्व धारक उसे न कभी बढावे,
रागाभिभूत मन को न कभी बनावें ॥३१६॥

अत्यल्प ही कर लिया परिमाण भाई ।
लेऊ पुन कुछ जरूरत जो कि आई
ऐसा विचार तक ना तुम चित्त लाओ
सतोष धार कर जीवन को चलाओ ॥३१७॥

है सात शील व्रत श्रावक भव्य ! प्यारे !
सातो व्रतो फिर गुणव्रत तीन न्यारे ।
देशावकाशिक दिशा विरती सुनो रे ।
आनर्थ दण्ड विरती इनको गुणो रे ! ॥३१८॥

सीमा विधान करना हि दशो दिशा मे,
माना गया वह दिशाव्रत है धरा मे ।
आरम्भ सीमित बने इस, कामना से,
सागार साधन करे इसका मुदा से ॥३१९॥

होते विनष्ट व्रत हो जिस देश मे ही,
जाओ वहाँ मत कभी तुम स्वप्न मे भी ।
देशावकाशिक वही ऋषि देशना है,
धारो उसे विनशती चिर वेदना है ॥३२०॥

है व्यर्थ कार्य करना हि अनर्थ दण्ड,
है चार भेद इसके अघ श्वभ्र कुण्ड ।
हिंसोपदेश, अतिहिंसक शस्त्र देना,
दुर्ध्यान यान चढना, नित मत्त होना ॥
होना सुदूर इनसे बहुकर्म खोना
आनर्थ दण्ड विरती तुम शीघ्र लो ना ! ॥३२१॥

अत्यल्प बन्धन अवश्यक कार्य से हो,
अत्यन्त बन्ध अनवश्यक कार्य से हो ।
कालादि क्योकि इक मे सहयोगि होते,
पै अन्य मे जब अपेक्षित वे न होते ॥३२२॥

ज्यादा बको मत रखो अघ शस्त्र को भी
तोडो न भोग परिमाण बनो न लोभी ।
भद्दे कभी वचन भी हँसते न बोलो,
ना अग व्यग करते दृग मीच खोलो ॥३२३॥

है सविभाग अतिथिव्रत मोक्ष दाता,
भोगोपभोग परिमाण सुखी बनाता ।
शुद्धात्म सामयिक प्रोषध से दिखाता
यो चार शैक्ष्य व्रत है यह छन्द गाता ॥३२४॥

ना कन्द मूल फल फूल फलादि खाओ,
रे ! स्वप्न मे तक इन्हे मन मे न लाओ ।
औ क्रूर कार्य न करो न कभी कराओ,
यो कार्य का अशन का परिमाण बाधो,
भोगोपभोग परिमाण सहर्ष साधो ॥३२५॥

उत्कृष्ट सामयिक से गृह धर्मभाता,
सावद्यकर्म जिससे कि विराम पाता ।
यो ज्ञान मान बुध है अघ त्याग देते,
आत्मार्थ सामयिक साधन साध लेते ॥३२६॥

सागार सामयिक मे मन ज्यो लगाता,
सच्चे सुधी श्रमण के सम साम्य पाता ।
हे भव्य सामायिक को अत एव धारो,
भाई किसी तरह से निजको निहारो ॥३२७॥

आजाय सामयिक मे यदि अन्य चिंता,
तो आर्त ध्यान बनता दुख दे तुरन्ता ।
निस्सार सामयिक हो उसका नितान्त,
ससार हो फिर भला किस भाति सान्त ? ॥३२८॥

सस्कार है न तनका न कुशीलता है,
आरम्भ ना अशन प्रोषध मे तथा है ।
लो पूर्ण त्याग इनका इक देश यो लो,
धारो सुसामयिक, प्रोषधपूर्ण पालो ॥३२९॥

दो शुद्ध अन्न यति को समयानुकूल,
देशानुकूल, प्रतिकूल कभी न भूल ।
तो सविभाग अतिथिव्रत ओ बनेगा,
रे ! स्वर्ग मोक्ष क्रमवार अवश्य देगा ॥३३०॥

आहार औ अभय औषध और शास्त्र,
ये चार दान जग मे सुख पूरपात्र ।
दातव्य है अतिथि के अनुसार चारो,
सागार शास्त्र कहता, धनको विसारो ॥३३१॥

सागार मात्र इक भोजन दान से भी,
लो ! धन्य धन्यतम हो धनवान से भी ।
दु पात्र पात्र इस भाति विचार से क्या ?
ले आम पेट भर ले !! बस पेडसे क्या ? ॥३३२॥

शास्त्रानुकूल जल अन्न दिये न जाते,
भिक्षार्थ भिक्षुक वहाँ न कदापि जाते ।
वे धीर वीर चलते समयानुकूल ?
लेते न अन्न प्रतिकूल समयानुकूल, ॥३३३॥

सागार जो अशन को मुनि को खिलाके,
पश्चात् सभी मुदित हो अवशेष पाके ।
वे स्वर्ग मोक्ष क्रमवार अवश्य पाते ?
ससार मे फिर कदापि न लौट आते ॥३३४॥

जो काल से डर रहे उनको बचाना,
माना गया अभयदान अहो सुजाना ।
है चद्रमा अभयदान ज्वलन्त दीखे,
तो शेष दान उडु है पड़ जाय फीके ॥३३५॥

है लोक मे कुछ यहाँ फिरते असाधु,
भाई तथापि सब वे कहलाय साधु।
मै तो असाधु-जनको कहता न साधु,
सत् साधु के स्तवन मे मनको लगादूँ ॥३३८॥

सम्यक्त्व के सदन हो वर बोधि धाम,
शोभे सुसयमतया तप से ललाम।
ऐसे विशेषगुण आकर हो सुसाधु,
तो बार बार शिर मै उनको नवादूँ ॥३३९॥

एकान्त से, मुनि, न कानन-वास से हो
स्वामी नहीं श्रमण भी कचलोच से हो।
ओकार जाप जप, ब्राह्मण ना बनेगा,
छालादिको पहन तापस ना कहेगा ॥३४०॥

विज्ञान पा नियम से मुनि हो यशस्वी,
सम्यक्तया तप तपे तब हो तपस्वी।
होगा वही श्रमण जो समता धरेगा,
या ब्रह्मचर्य फिर ब्राह्मण भी बनेगा ॥३४१॥

हो जाय साधु गुण पा, गुण खो असाधु,
होवो गुणी, अवगुणी न बनो न स्वादु।
जो राग रोष भर में समभाव धारें,
वे वन्द्य पूज्य निजसे निजको निहारें ॥३४२॥

जो देह मे रम रहें विषयी कषायी,
शुद्धात्म का स्मरण भी करते न भाई!
वे साधु होकर बिना दृग जी रहे है,
पीयूष त्याग कर हा! विष पी रहे हैं ॥३४३॥

भिक्षार्थ भिक्षु चलते बहुदृश्य पाते,
अच्छे, बुरे श्रवण मे कुछ शब्द आते ।
वे बोलते न फिर भी सुन मान जाते,
लाते न हर्ष मन मे न विषाद लाते ॥३४४॥

स्वाध्याय ध्यान तप मे अति मग्न होते,
जो दीर्घ काल तक है निशि मे न सोते ।
तत्वार्थ चिंतन सदा करते मनस्वी,
निद्राजयी इसीलिए बनते तपस्वी ॥३४५॥

जो अग सग रखते ममता नही है,
निस्सग है निरभिमान समता-धनी है ।
है साम्यदृष्टि रखते सब प्राणियो मे,
वे साधु धन्य रमते नहि गारवो मे ॥३४६॥

जो एक से मरण जीवन को निहारे,
निन्दा मिले यश मिले सम भाव धारे ।
मानापमान-सुख दुःख समान माने,
वे धन्य साधु, सम लाभ अलाभ जाने ॥३४७॥

आलस्य-हास्य तज शोक, अशोक होते,
ना शल्य गारव कषाय निकाय ढोते ।
ना भीति-बंधन-निदान-निधान होते,
वे साधु वन्द्य हमको, मन मैल धोते ॥३४८॥

हो अगराग अथवा छिदजाय अग,
भिक्षा मिलो, मत मिलो इकसार ढग ।
जो पारलौकिक न लौकिक चाह धारे,
वे साधु ही बस ! बसे उर मे हमारे ॥३४९॥

है हेयभूत विधि आस्रव रोक देते,
आदेयभूत वर संवर लाभ लेते ।
अध्यात्म ध्यान यम योग प्रयोग द्वारा,
हैं साधु लीन निज में तज भोग सारा ॥३५०॥

जीतो सहो दृग समेत परीषहों को,
शीतोष्ण भीति रति प्यास क्षुधादिको को ।
स्वादिष्ट इष्ट फल कायिक कष्ट देता,
ऐसा जिनेश कहते शिव पन्थ नेता ॥३५१॥

शास्त्रानुसार तब ही तप साधना हो,
ना बार!!बार!! दिनमें इक बार खाओ ।
ऐसा ऋषीश उपदेश सभी सुनाते,
जो भी चले तदनुसार स्वधाम जाते ॥३५२॥

मासोपवास करना वनवास जाना,
आतापनादि तपना तनको सुखाना ।
सिद्धान्त का मनन, मौन सदा निभाना,
ये व्यर्थ है श्रमण के बिन साम्य बाना ॥३५३॥

विज्ञान पा प्रथम, संयम भाव धारो,
रे ! ग्राम मे नगर में करदो विहारो ।
संवेग शान्ति पथ पे गममान होवो,
होके प्रमत्त मत गौतम ! काल खोओ ॥३५४॥

होगा नही जिन यहाँ, जिन धर्म आगे,
मिथ्यात्व का जब प्रचार नितान्त जागे ।
हे भव्य गौतम ! अतः अब धर्म पाया,
धारो प्रमाद पल भी न, जिनेश गाया ॥३५५॥

हो बाह्य वेश न कदापि प्रमाण भाई ।
देता जभी तक असंयत मे दिखाई ।
रे वेशको बदल के विष जोकि पीता
पीता नहीं मरण क्या रह जाय जीता ॥३५६॥

हो लोक को विदित ये जिन साधु आये,
शास्त्रादि साधन सुवेष अतः बनाये ।
औ बाह्य सयम न, लिग विना चलेगा,
जो अतरग यम साधन भी बनेगा ॥३५७॥

ये दीखते जगत मे मुनिसाधुओ के
है वेश, नेक विध भी गृहवासियो के ।
वे अज्ञ मूढ जिनको जब धारते है,
है "मोक्ष" मार्ग यह यो बस मानते है ॥३५८॥

निस्सार मुष्टि वह अन्दर पोलवाली
बेकार नोट यह है नकली निराली ।
हो काच भी चमकदार सुरत्न जैसा,
ज्यो जोहरी परखता नहि मूल्य वैसा ।
पूर्वोक्त द्रव्य जिसभाति मृषा दिखाते,
है मात्र वेश उस भांति सुधी बताते ॥३५९॥

है भावलिङ्ग वर मुख्य अतः सुहाता,
है द्रव्य लिङ्ग परमार्थ नहीं कहाता ।
है भाव ही नियम से गुण दोष हेतु
होता भवोदधि वही भव सिन्धु-सेतु ॥३६०॥

ये "भाव-शुद्धतम हों" जब लक्ष्य होता,
तो बाह्य संग तजना अनिवार्य होता ।
जो भीतरी कलुषता यदि ना हटाता,
तो बाह्य त्याग उसका वह व्यर्थ जाता ॥३६१॥

जो अच्छ स्वच्छ परिणाम बना न पाते,
पै बाहरी सब परिग्रह को हटाते ।
वे भाव शून्य करनी करते कराते,
लेते न लाभ शिव का दु.ख ही उठाते ॥३६२॥

काषायिकी परिणती जिसने घटादी,
औ निन्द्य जान तन की ममता मिटादी ।
शुद्धात्म मे निरत है तज सग सगी,
हो पूज्य साधु वह पावन भाव लिगी ॥३६३॥

२५ व्रत सूत्र

हिसादि पंच अघ हैं तज दो अघों को,
पालो सभी परमपंच महाव्रतों को ।
पश्चात् जिनोदित पुनीत विरागता का
आस्वाद लो, कर अभाव विभावता का ॥३६४॥

वे ही महाव्रत नितान्त सुसाधु धारें,
नि:शल्य हो विचरते त्रय शल्य टारे ।
मिथ्या निदान व्रतघातक शल्य माया
ऐसा जिनेश उपदेश सुनो ! सुनाया ॥३६५॥

है मोक्ष की यदि व्रती करता उपेक्षा,
चारित्र ले विषय की रखता अपेक्षा ।
तो मूढ भूल मणि जो अनमोल, देता ।
धिक्कार काच मणि का वह मोल लेता ॥३६६॥

जो जीवथान, कुल मार्ग या योनियो मे,
पा जीव बोधि, करुणा रखता सबों मे ।
आरम्भ त्याग उनकी करता न हिसा,
हो साधु का विमल भाव वही अहिंसा ॥३६७॥

निष्कर्ष है परमपावन आगमों का,
भाई ! उदार उर धार्मिक आश्रमो का ।
सारे व्रतों सदन है, सब सद्‌गुणों का,
आदेय है विमल जीवन साधुओं का ।
वो विश्वसार जयवन्त रहे अहिसा,
होती रहे सतत ही उसकी प्रशसा ॥३६८॥

ना क्रोध भीति वश स्वार्थ तराजु तोलो,
लेओ न मोल अघ हिसक बोल बोलो ।
होगा द्वितीय व्रत सत्य वही तुम्हारा,
आनन्द का सदन जीवन का सहारा ॥३६९॥

जो भी पदार्थ परकीय उन्हें न लेते,
वे साधु देखकर भी बस छोड देते ।
है स्तेय भाव तक भी मन मे न लाते,
अस्तेय है व्रत यही जिन यो बताते ॥३७०॥

ये द्रव्य चेतन अचेतन जो दिखाते,
साधू न भूलकर भी उनको उठाते ।
ना दांत साफ करने तक सींक लेते,
अत्यल्प भी बिन दिये कुछ भी न लेते ॥३७१॥

भिक्षार्थ भिक्षु जब जॉय वहॉ न जॉय,
जो स्थान वर्जित रहा अघ हो न पॉय ।
वे जाय जान कुलकी मित भूमि लौ ही,
अस्तेय धर्म परिपालन श्रेष्ठ सो ही ॥३७२॥

अब्रह्म सेवन अवश्य अधर्म मूल,
है दोष धाम दुख दे जिस भाति शूल ।
निर्ग्रन्थ वे इसलिए सब ग्रन्थ त्यागी,
सेवे न मैथुन कभी मुनि वीतरागी ॥३७३॥

माता सुता बहन सी लखना स्त्रियो को,
नारी कथा न करना भजना गुणो को ।
श्री ब्रह्मचर्य व्रत है यह मार हन्ता,
है पूज्य वन्द्य जग मे सुख दे अनन्ता ॥३७४॥

जो अतरग बहिरग निसग होता,
भोगाभिलाष बिन चारित भार ढोता ।
है पांचवा व्रत "परिग्रह त्याग" पाता,
पाता स्वकीय सुख, तू दुख क्यों उठाता ? ॥३७५॥

दुर्गन्ध अग तक "सग" जिनेश गाया,
यो देह से खुद उपेक्षित हो दिखाया ।
क्षेत्रदि बाह्य सब सग अत विसारो,
होके निरीह तन से तुम मार मारो ॥३७६॥

जो मागना नहि पडे गृहवासियों से,
ना हो विमोह ममतादिक भी जिन्हो से ।
ऐसे परिग्रह रखे उपयुक्त होवे,
पै अल्प भी अनुपयुक्त न साधु ढोवे ॥३७७॥

जो देह-देश-श्रम-काल बलानुसार,
आहार ले यदि यती करता विहार ।
तो अल्प कर्म मल से वह लिप्त होता,
औचित्य एक दिन है भव मुक्त होता ॥३७८॥

जो बाह्य मे कुछ पदार्थ यहाँ दिखाते,
वे वस्तुत नहि परिग्रह है कहाते ।
मूर्छा परिग्रह परन्तु यथार्थ मे है,
श्री वीर का सदुपदेश मिला हमे है ॥३७९॥

ना संग सकलन संयत हो करो रे ।
शास्त्रादि साधन सुचारु सदा धरो रे ।
ज्यो संग की विहग ना रखते अपेक्षा
त्यों संयमी समरसी, सबकी उपेक्षा ॥३८०॥

आहार-पान-शयनादिक खूब पाते,
पै अल्प मे सकल कार्य सदा चलाते ।
संतोष-कोष, गतरोष, अदोष साधु,
वे धन्य धन्यतर है शिर मैं नवादूं ॥३८१॥

ना स्वप्न में न मन में न किसी दशा में,
लेते नहीं अशन वे मुनि हैं निशा में ।
जिह्वाजयी जितकषाय जिताक्ष योगी,
कैसे निशाचर बनें, बनते न भोगी ॥३८२॥

आकीर्ण पूर्ण धरती जब थावरो से,
सूक्ष्मातिसूक्ष्म जग जंगम जंतुवो से ।
वे रात्रि में न दिखते युग लोचनों से,
कैसे बने अशन शोधन साधुओं से ? ॥३८३॥

२६ समिति गुप्ति सूत्र

(अ) अष्ट प्रवचन माता

ईर्या रही समिति आद्य द्वितीय भाषा,
तीजी गवेषण धरे नश जाय आशा ।
आदान निक्षिपण-पुण्यनिधान चौथा
व्युत्सर्ग पचम रही सुन भव्य श्रोता।
कायादि भेद वश भी त्रय गुप्तियाँ है,
ये गुप्तियाँ समितियाँ जननी समा हैं ॥३८४॥

माता स्वकीय सुतकी जिस भाति रक्षा,
कर्त्तव्य मान करती, बन पूर्ण दक्षा ।
गुप्तयादि अष्ट जननी उस भाति सारी,
रक्षा सुरत्नत्रय की करती हमारी ॥३८५॥

निर्दोष से चरित पालन पोषनार्थ,
उल्लेखिता समितियाँ गुरु से यथार्थ ।
ये गुप्तियाँ इसलिए गुरु ने बताई,
कोषायिकी परिणति मिट जाय भाई ! ॥३८६॥

निर्दोष गुप्तित्रय पालक साधु जैसे,
निर्दोष हो समितिपालक ठीक वैसे ।
वे तो अगुप्ति भव मानस मैल धोते,
ये जागते समिति-जात प्रमाद खोते ॥३८७॥

जी जाय जीव अथवा मर जाय हंसा,
ना पालता समितियाँ बन जाय हिंसा ।
होती रहे वह भले कुछ बाह्य हिंसा,
तू पालता समितियाँ पलती अहिंसा ॥३८८॥

जो पालते समितियाँ, तब द्रव्य हिंसा,
होती रहे, पर कदापि न भाव हिंसा ।
होती असयमतया वह भाव हिंसा,
हो जीव का न वध पै बन जाय हिंसा ॥३८९॥

हिंसा द्विधा सतत वे करते कराते,
जो मत्त संयत, असयत हैं कहाते ।
पै अप्रमत्त मुनिधार द्विधा अहिसा,
होते गुणाकर, करूँ उनकी प्रशसा ॥३९०॥

आता यती समिति से उठ बैठ जाता,
भाई तदा यदि मनो मर जीव जाता ।
साधू तथापि नहि है अघ कर्म पाता
दोषी न हिसक, अहिसक ही कहाता ॥३९१॥

संमोह को तुम परिग्रह नित्य मानो,
हिसा प्रमाद भरको सहसा पिछानो ।
अध्यात्म आगम अहो इस भाति गाता,
भव्यात्म को सतत शान्ति-सुधा पिलाता ॥३९२॥

ज्यो पद्मिनी वह सचिक्कन पत्रवाली,
हो नीर में न सड़ती रहती निराली ।
त्यो साधु भी समितियाँ जब पालता है,
ना पाप लिप्त बनता सुख साधता है ॥३९३॥

आचार हो समिति पूर्वक दु ख-हर्त्ता,
है धर्म-वर्धक तथा सुख-शान्तिकर्त्ता ।
है धर्म का जनक चालक भी वही है ।
धारो उसे मुकतिकी मिलती मही है ॥३९४॥

आता यती विचरता, उठ, बैठ जाता,
हो सावधान तन को निशि में सुलाता ।
औ बोलता, अशन एषण साथ पाता,
तो पाप कर्म उस के नहिं पास आता ॥३९५॥

(आ) समिति

हो मार्ग प्रासुक, न जीव विराधना हो,
जो चार हाथ पथ पूर्ण निहारना हो ।
ले स्वीय कार्य कुछ पै दिन मे चलोगे,
ईर्यामयी समिति को तब पा सकोगे ॥३९६॥

संसार के विषय में मन ना लगाना,
स्वाध्याय पंच विध ना करना कराना ।
एकाग्र चित्त करके चलना जभी हो,
ईर्या सही समिति है पलती तभी वो ॥३९७॥

हो जा रहे पशु यदा जल भोज पाने,
जाओ न सनिकट भी उनके सयाने ।
हे साधु ! ताकि तुम से भय वे न पावे,
जो यत्र तत्र भय से नहि भाग जावे ॥३९८॥

आत्मार्थ या निजपदार्थ परार्थ साधु,
निस्सार भाषण करे न, स्वधर्म स्वादु ।
बोले नहीं वचन हिंसक मर्म भेदी,
भाषामयी समिति पालक आत्म वेदी ॥३९९॥

बोलो न कर्ण कटु निन्द्य कठोर भाषा,
पावे न ताकि जग जीव कदापि त्रासा ।
हो पाप बन्ध, वह सत्य कभी न बोलो,
घोलो सुधा न विषमे, निज नेत्र खोलो ॥४००॥

हो एक नेत्र नर को कहना न काना,
औ चोरको कुटिल चोर नही बताना ।
या रुग्नको तुम न रुग्न कभी कहो रे !
ना! ना! नपुसक नपुसक को कहो रे ॥४०१॥

साधू करे न परनिंदन आत्म शसा,
बोले न हास्य-कटुकर्कश-पूर्ण भाषा ।
स्वामी ! करे न विकथा, मितमिष्ट बोलें,
भाषा मयी समिति मे नित ले हिलोरे ॥४०२॥

हो स्पष्ट हो विषद संशय नाशिनी हो,
हो श्राव्य भी सहज हो सुखकारिणी हो ।
माधुर्य पूर्ण, मित मार्दव-सार्थ-भाषा
बोलें महामुनि, मिले जिससे प्रकाशा ॥४०३॥

जो चाहता न फल दुर्लभ भव्य दाता,
साधू अयाचक यहाँ विरला दिखाता ।
दोनो नितान्त द्रुत ही निज धाम जाते,
विश्रान्त हो सहज मे सुख शान्ति पाते ॥४०४॥

उत्पादना-अशन-उद्गम दोष हीन-,
आवास अन्न शयनादिक ले, स्वलीन ।
वे एषणा समिति- साधक साधु प्यारे,
हो कोटिश नमन ये उनको हमारे ॥४०५॥

आस्वाद प्राप्त करने बल कान्ति पाने,
लेते नहीं अशन जीवन को बढाने ।
पै साधु ध्यान तप सयम बोध पाने,
लेते अत- अशन अल्प अये ! सयाने ॥४०६॥

गाना सुना गुण गुणा गण षट् पदो का,
पीता पराग रस फूल-फलो दलो का ।
देता परन्तु उनको न कदापि पीड़ा,
होता सुतृप्त, करता दिन रैन क्रीड़ा ॥४०७॥

दाता तथा विधि, यथाबल, दान देते,
देते बिना दुख उन्हे मुनि दान लेते ।
यो साधु भी भ्रमर से मृदुता निभाते,
वे एषणा समिति पालक है कहाते ॥४०८॥

उद्दिष्ट, प्रासुक भले, यदि अन्न लेते,
वे साधु, दोषमल मे व्रत फेक देते ।
उद्दिष्ट भोजन मिले, मुनि वीतरागी,
शास्त्रानुसार यदिलें, नहि दोषभागी ॥४०९॥

जो देख भाल, कर मार्जन पिच्छिका से,
शास्त्रादि वस्तु रखना, गहना दया से ।
आदान निक्षिपण है समिती कहाती,
पाले उसे सतत साधु, सुखी बनाती ॥४१०॥

एकान्त हो विजन, विस्तृत ना विरोध,
सम्यक् जहाँ बन सके त्रस जीव शोध ।
ऐसे अचित्त थल पे मलमूत्र त्यागें
व्युत्सर्गरूप समिती गह साधु जागे ॥४११॥

आरम्भ में न समरम्भन मे लगाना,
ससार के विषय से मन को हटाना ।
होती तभी मनसगुप्ति सुमुक्ति दात्री,
ऐसा कहे श्रमण श्री जिन शास्त्र शास्त्री ॥४१२॥

आरम्भ मे न समरम्भन में लगाते,
सावद्य से वचन योग यती हटाते ।
होती तभी वचन गुप्ति सुखी बनाती,
कैवल्य ज्योति झट से जब जो जगाती ॥४१३॥

आरम्भ मे न समरम्भनमे लगाते,
ना काय योग अघ कर्दम मे फसाते ।
ओ कायगुप्ति, जडकाय विनाशती है,
विज्ञान पंकज-निकाय विकाशती है ॥४१४॥

प्राकार ज्यो नगर की करता सुरक्षा,
किवा सुबाड कृषिकी करती सुरक्षा ।
त्यो गुप्तियाँ परम पच महाव्रतो की,
रक्षा सदैव करती मुनि के गुणो की ॥४१५॥

जो गुप्तियाँ समितियाँ नित पालते हैं,
सम्यक्तया स्वयम् को ऋषि जानते है ।
वे शीघ्र, बोध बल दर्शन धारते हैं,
ससार-सागर-किनार निहारते है ॥४१६॥

हो भेदज्ञान मय भानु उदीयमान,
मध्यस्थ भाव वश चारित हो प्रमाण ।
ऐसे चरित्र गुण मे पुनि पुष्टि लाने,
होते प्रतिक्रमण आदिक ये सयाने ! ॥४१७॥

सद्ध्यान मे श्रमण अन्तरधान होके,
रागादिभाव पर है परभाव रोके ।
वे ही निजातमवशी यति भव्य प्यारे,
जाते अवश्यक कहे उनकार्य सारे ॥४१८॥

भाई तुझे यदि अवश्यक पालना है,
होके समाहित स्व में मन मारना है ।
हीराभ सामयिक मे द्युति जाग जाती
सम्मोह तामसनिशा झट भाग जाती ॥४१९॥

जो साधु हो न षडवश्यक पालता है,
चारित्र से पतित हो सहता व्यथा है ।
आत्मानुभूति कब हो यह कामना है,
आलस्य त्याग षडवश्यक पालना है ॥४२०॥

सामायिकादि षडवश्यक साथ पाले
जो साधु निश्चय सुचारित पूर्ण प्यारे
वे वीतराग मय शुद्धचरित्र धारी,
पूजो उन्हे परम उन्नति हो तुम्हारी ॥४२१॥

आलोचना नियम आदिक मूर्त्तमान,
भाई प्रतिक्रमण शाब्दिक प्रत्यख्यान ।
स्वाध्याय ये, चरितरूप गये न माने,
चारित्र आन्तरिक आत्मिक है सयाने ! ॥४२२॥

सवेगधारक यथोचित शक्ति वाले,
ध्यानाभिभूत षडवश्यक साधुपाले ।
ऐसा नहीं यदि बने यह श्रेष्ठ होगा,
श्रद्धान तो दृढ रखे द्रुत मोक्ष होगा ॥४२३॥

सामयिक जिनप की स्तुति वन्दना हो,
कायोत्सर्ग समयोचित साधना हो ।
सच्चा प्रतिक्रमण हो अघप्रत्यख्यान
पाले मुनीश षडवश्यक बुद्धिमान ॥४२४॥

लो ! काचको कनक को सम ही निहारे,
वैरी सहोदर जिन्हें इक सार सारे ।
स्वाध्याय ध्यान करते मन मार देते,
वे साधु सामयिक को उर धार लेते ॥४२५॥

वाक्योग रोक जिसने मन मान धारा,
औ वीतराग बन आतम को निहारा ।
होती समाधि परमोत्तम ही उसी की,
पूजूं उसे शरण और नहीं किसी की ॥४२६॥

आरम्भ दम्भ तज के त्रय गुप्ति पाले,
है पंच इन्द्रियजयी समदृष्टि वाले ।
स्थाई सुसामयिक है उनमें दिखाता,
यों केवली परम शासन गीत गाता ॥४२७॥

है साम्यभाव रखते त्रस थावरों में,
स्थाई सुसामयिक हो उन साधुओं में ।
ऐसा जिनेश मत है मत भूल रे ! तू,
भाई ! अगाध भव वारिधी मध्य सेतु ॥४२८॥

आदीश आदि जिन है उनगीत गाना,
लेना सुनाम उनके यश को बढाना ।
औ पूजना नमन भी करना उन्हीं को,
होता जिनेश स्तव है, प्रणमूं उसी को ॥४२९॥

द्रव्यो थलो समयभाव प्रणालियो मे,
है दोष जो लगगये, अपने व्रतो मे ।
वाक्काय से मनस से उनको मिटाने,
होती प्रतिक्रमण की विधि है सयाने ! ॥४३०॥

आलोचना गरहणा करता स्वनिन्दा,
ना साधु दोष करता अघका न धन्धा ।
होता प्रतिक्रमण भाव मयी वही है,
तो शेष द्रव्यमय है रुचते नही है ॥४३१॥

रागादि भाव मल को मनसे हटाता,
हो निर्विकल्प मुनि है निज आत्म ध्याता ।
सारी क्रिया वचन की तजता, सुहाता-
सच्चा प्रतिक्रमण लाभ वही उठाता ॥४३२॥

स्वाध्याय रूप सर मे अवगाह पाता,
सपूर्ण दोष मल को पल मे धुलाता
सद्ध्यान ही, विषम कल्मष पातको का
सच्चा प्रतिक्रमण है घर सद्गुणो का ॥४३३॥

है देह नेह तज के जिन गीत गाते,
साधू प्रतिक्रमण है करते सुहाते ।
कायोतसर्ग उनका वह है कहाता,
संसार मे सहज शाश्वत शांतिदाता ॥४३४॥

घोरोपसर्ग यदि हो असुरो सरों से,
या मानवो मृगगणो मरुतादिको से ।
कायोतसर्गरत साधु सुधी तथापि,
निस्पद शैल, लसते समता सुधा पी ॥४३५॥

हो निर्विकल्प तज जल्प विकल्प सारे,
साधू अनागत शुभाशुभ भाव टारे
शुद्धात्म ध्यान सर मे डुबकी लगाते,
वें प्रत्यख्यान गुण धारक है कहाते ॥४३६॥

जो आतमा न तजता निज भाव को है,
स्वीकारता न परकीय विभावको है ।
दृष्टा बना निखिलका परिपूर्ण ज्ञाता,
"मै ही रहा वह" सुधी इस भाँति गाता ॥४३७॥

जो भी दुराचरण है मुझ मे दिखाता,
वाक्काय से मनससे उसको मिटाता ।
नीराग सामयिक को त्रिविधा करूँ मे,
तो बार बार तन धार नही मरूँ म ॥४३८॥

- २८ तपसूत्र (अ) बाह्यतप -

जो ब्रह्मचर्य रहना, जिन ईश पूजा,
सारीकषाय तजना, तजना न ऊर्जा ।
ध्यानार्थ अन्न तजना "तप" ये कहाते,
प्राय सदा भविकलोग उन्हे निभाते ॥४३९॥

है मूल मे द्विविध रे ! तप मुक्तिदाता,
जो अतरग बहिरग तया सुहाता ।
है अतरग तप के छह भेद होते
है भेद बाह्य तप के उतने हि होते ॥४४०॥

"ऊनोदरी" अनशना" नित पाल रे ! तू
"भिक्षाक्रिया" रसविमोचन मोक्ष हेतु ।
"सलीनता" दुख निवारक कायक्लेश,
ये बाह्य के छह हुए, कहते जिनेश ॥४४१॥

जो कर्म नाश करने समयानुसार,
है त्यागता अशनको, तन को सँवार ।
साधू वही अनशना तप साधता है,
होती सुशोभित तभी जग साधुता है ॥४४२॥

आहार अल्प करते श्रुत बोध पाने,
वे तापसी समय मे कहलाय शाने ।
भाई बिना श्रुत उपोषण प्राण खोना,
आत्मावबोध उससे न कदापि होना ॥४४३॥

ना इन्द्रियाँ शिथिल हो, मन हो न पापी,
न रोगकानुभव काय करे कदापि,
होती वही अनशना, जिससे मिली हो
आरोग्य पूर्ण नव चेतनता खिली हो ॥४४४॥

उत्साह-चाह-विधि राह पदानुसार,
आरोग्य-काल-निज-देह बलानुसार ।
ऐसा करे अनशना ऋषि साधुसारे,
शुद्धात्म को नित निरतर वे निहारे ॥४४५॥

लेते हुए अशनको उपवास साधे,
जो साधु इन्द्रियजयी निज को अराधे ।
हो इन्द्रियाँ शमित तो उपवास होता,
धोता कुकर्म मलको, सुखको सँजोता ॥४४६॥

मासोपवास करले, लघुधी यमी मे,
ना हो विशुद्धि उतनी, जितनी सुधी मे ।
आहार नित्य करते फिरभी तपस्वी,
होते विशुद्ध उरमे, श्रुत मे यशस्वी ॥४४७॥

जो एक एक कर ग्रास घटा घटाना,
और भूख से अशन को कम न्यून पाना ।
ऊनोदरी तप यही व्यवहार से है,
ऐसा कहे गुरु, सुदूर विकार से है ॥४४८॥

दाता खडे कलश ले हँसते मिले तो,
लेऊँ तभी अशन प्राङ्गण मे मिलेतो ।
इत्यादि नेम मुनि ले अशनार्थ जाते,
भिक्षा क्रिया यह रही गुरुयो बताते ॥४४९॥

स्वादिष्ट इष्ट अतिमिष्ट गरिष्ठ खाना
घी दुग्ध आदि रस है उनका न खाना ।
माना गया तप यही "रस त्याग" नामा,
धारो इसे, वर सको वर मुक्ति रामा ॥४५०॥

एकान्त मे, विजन कानन मध्य जाना,
एकासनादि शयनासन को लगाना ।
होता वही तप सुधारस पेय प्याला
प्यारा "विविक्त शयनासन" नाम वाला ॥४५१॥

वीरासनादिक लगा, गिरिगह्वरो मे
नाना प्रकार तपना वन कन्दरो मे ।
है कायक्लेश तप, तापस ताप नाशी
पुण्यात्म हो धर इसे तज पाप राशी ! ॥४५२॥

जो तत्व बोध सुख पूर्वक हाथ आता,
आते हि दुःख झट से वह भाग जाता ।
ये काय क्लेश समवेत अतः सुयोगी,
तत्वानुचिंतन करे समयोपयोगी ॥४५३॥

जाता किया जब इलाज कुरोग का है,
ना दुःख हेतु सुख हेतु न रुग्ण का है
भाई इलाज करने पर रुग्ण को ही
हो जाय दुःख सुख भी सुन भव्य ! मोही ! ॥४५४॥

त्यो मोहनाश सविपाकतया यदा हो,
ना दुःख हेतु सुख हेतु नही तदा हो ।
पै मोह के विलय मे रत है वसी को,
होता कभी दुख कभी सुख भी उसी को ॥४५५॥

(आ) आभ्यन्तर तप

''प्रायश्चिता''विनय'' औ ऋषि साधु सेवा,
''स्वाध्याय'' ध्यान धरते वर बोध मेवा
व्युत्सर्ग, स्वर्ग अपवर्ग महर्घ-दाता
हैं अतरग तप ये छह मोक्ष धाता ॥४५६॥

जो भाव हैं समितियो व्रत संयमो का,
प्रायश्चिता वह सही दम इन्द्रियो का ।
ध्याऊ उसे विनय से उर में बिठाता,
होऊ अतीत विधि से विधि सो विधाता ॥४५७॥

कषायिकी विकृतियाँ मन मे न लाना,
आजाय तो जब कभी उनको हटाना ।
गाना स्वकीय गुणगीत, सदा सुहाती,
प्रायश्चिता वह सुनिश्चय नाम पाती ॥४५८॥

वर्षों युगो भवभवों सुमपार्जितों का
होता विनाश तप से भवबन्धनों का ।
प्रायश्चित इसलिए ''तप'' ही रहा है
त्रैलोक्य पूज्य प्रभु ने जग को कहा है ॥४५९॥

आलोचना अरु प्रतिक्रमणोभया है,
व्युत्सर्ग, छेद, तप, मूल, विवेकता है ।
श्रद्धान और परिहार प्रमोदकारी,
प्रायश्चिता दशविधा इस भाति प्यारी ॥४६०॥

विक्षिप्त चित्त वश आगत दोषकों की,
हेयो अयोग्य अनभोग कृतादिको की ।
आलोचना निकट जा गुरु के, करो रे ।
भाई नही कुटिलता उर में धरो रे । ॥४६१॥

माँ को यथा तनुज, कार्य अकार्य को भी,
है सत्य, सत्य कहना, उर पाप जो भी ।
मायाभिमान तज, साधु तथा अघो की
गाथा कहे, स्वगुरु को, दुखदायको की ॥४६२॥

है शल्य शूल चुभते जब पाद मे जो,
दुर्वेदनानुभव पूरण अङ्ग मे हो ।
ज्यो ही निकाल उनको हम फेक देते,
त्यो ही सुशीघ्र सुखसिंचित स्वास लेते ॥४६३॥

जो दोष को प्रकट ना करता, छुपाता,
मायाभिभूत यति भी अति दु ख पाता ।
दोषाभिभूत मन को गुरु को दिखाओ
नि शल्य हो विमल हो सुख शाति पाओ ॥४६४॥

आत्मीय सर्व परिणाम विराम पावे,
वे साम्य के सदन मे सहसा सुहावे ।
डूबो लखो बहुत भीतर चेतना मे
आलोचना बस यही जिन देशना मे ॥४६५॥

प्रत्यक्ष-सम्मुख सुधी गुरु सन्त आते,
होना खडे, कर जुडे शिर को झुकाते ।
दे आसनादि करना गुरु भक्ति सेवा,
माना गया विनय का तप वो सदैवा ॥४६६॥

चारित्र, ज्ञान, तप दर्शन, औपचारी,
ये पाच है विनय भेद, प्रमोदकारी ।
धारो इन्हे विमल निर्मल जीव होगा,
दु खावसान, सुख आगम शीघ्र होगा ॥४६७॥

है एक का वह समादर सर्वका है,
तो एक का यह अनादर विश्वका है ।
हो घात मूल पर तो द्रुम सूखता है,
दो मूल में सलिल, पूरण फूलता है ॥४६८॥

है मूल ही विनय आर्हत्त शासनो का,
हो संयमी विनय से घर सद्गणो का ।
वे धर्म-कर्म तप भी उनके वृथा है,
जो दूर हैं विनय से सहते व्यथा है ॥४६९॥

उद्धार का विनय द्वार उदार भाता,
होता यही सुतप-सयम-बोध-धाता ।
आचार्य सघ भर की इससे सदा हो,
आराधना, विनय से सुख सम्पदा हो ॥४७०॥

विद्या मिली विनय से इस लोक मे भी,
देती सही सुख वहाँ परलोक में भी ।
विद्या न पै विनय शून्य सुखी बनाती,
शाली, बिना जल कभी फल फूल लाती ? ॥४७१॥

अल्पज्ञ किन्तु विनयी मुनि मुक्ति पाता,
दुष्टाष्ट कर्म दल को पल मे मिटाता ।
भाई अत· विनय को तज ना कदापि,
सच्ची सुधा समझ के उसको सदा पी ॥४७२॥

जो अन्न पान शयनासन आदिकों को,
देना यथासमय सज्जन साधुओं को ।
कारुण्य द्योतक यही भवताप हारी,
सेवामयी सुतप है शिवसौख्य कारी ॥४७३॥

साधु विहार करते, करते थके हो,
वार्धक्य की अवधि पे बस आ रुके हो ।
श्वानादि से व्यथित हो नृप से पिटाये,
दुर्भिक्ष रोग वश पीडित हों सताये ॥
रक्षा सँभाल करना उनकी सदैवा,
जाता कहा "सुतप" तापस साधु सेवा ॥४७४॥

सद् वाचना प्रथम है फिर पूछना है,
है आनुपेक्ष क्रमशः परिवर्तना है ।
धर्मोपदेश सुखदायक है सुधा है,
स्वाध्यायरूप तप पावन पचधा है ॥४७५॥

आमूलतः बल लगा विधि को मिटाने,
पै ख्याति लाभ यश पूजन को न पाने ।
सिद्धान्त का मनन जो करता कराता,
पा तत्त्व बोध बनता सुख धाम, धाता ॥४७६॥

होते नितान्त समलकृत गुप्तियो से,
तल्लीन भी विनय मे मृदु वल्लियो से ।
एकाग्र मानस जितेद्रिय अक्ष-जेता,
स्वाध्याय के रसिक वे ऋषि साधुनेता ॥४७७॥

सद्ध्यान सिद्धि जिन आगम ज्ञान से हो ।
तो निर्जरा करम की निज ध्यान से हो ।
हो मोक्ष लाभ सहसा विधि निर्जरा से,
स्वाध्याय मे इसलिए रम जा! जरा से ॥४७८॥

स्वाध्याय सा न तप है नहि था न होगा,
यो मानना अनुपयुक्त कभी न होगा ।
सारे इसे इसलिए ऋषि सन्त त्यागी,
धारे, बने विगतमोह, बने विरागी ॥४७९॥

जो बैठना शयन भी करना तथापि,
चेष्टा न व्यर्थ तन की करना कदापि ।
व्युत्सर्ग रूप तप है, विधि को तपाता,
पीताभ हेम सम आतम को बनाता ॥४८०॥

कायोत्सर्ग तप से मिटती व्यथाये,
हो ध्यान चित्त स्थिर द्वादश भावनाये ।
काया निरोग बनती मति जाड्य जाती,
सत्रास सौख्य सहने उर शक्ति आती ॥४८१॥

लोकेषनार्थ तपते उन साधुओ का,
ना शुद्ध हो तप महाकुल धारियो का ।
शसा अत न अपने तपकी करो रे !
जाने न अन्य जन यो तप धार लो रे ॥४८२॥

स्वामी समाहत विबोध सुवात से है,
उद्दीप्त भी तप हुताशन, शील से है ।
वैसा कुकर्म वन को पल मे जलाता,
जैसा वनानल घने वन को जलाता ॥४८३॥

- २९ ध्यान सूत्र -

ज्यो मूल, मुख्य द्रुम मे जग मे कहाता,
या देह मे प्रमुख मस्तक है सुहाता ।
त्यो ध्यान ही प्रमुख है मुनि के गुणो मे,
धर्मो तथा सकल आचरणो व्रतो मे ॥४८४॥

सद्ध्यान है मनस की स्थिरता सुधा है,
तो चित्त की चपलता त्रिवली त्रिधा है ।
चिताऽनुपेक्ष क्रमश वह भावना है,
तीनो मिटे बस यही !! मम कामना है ॥४८५॥

ज्यों नीर में लवण है गल लीन होता,
योगी समाधि सर में लवलीन होता ।
अध्यात्मिका धधकती फलरूप ज्वाला,
है नाशती द्रुत शुभाशुभ कर्म शाला ॥४८६॥

व्यापार योगत्रय का जिसने हटाया,
संसार राग रति रोपन को नशाया ।
ध्यानाग्नि दीप्त उसमें उठती निराली,
है राख खाख करती विधि को मिटाती ॥४८७॥

बैठे करे स्वमुख उत्तर पूर्व में वा,
ध्याता सुधी, स्थित सुखासन में सदा वा ।
आदर्श सा विमल चारित काय वाला,
पीता समाधि रस पूरित पेय प्याला ॥४८८॥

पल्यक आसन लगाकर आत्मध्याता,
नासाग्र को विषय लोचन का बनाता ।
व्यापार योगत्रय का कर बन्द ज्ञानी,
उच्छ्वास श्वास गति मंद करे अमानी ॥४८९॥

गर्हा दुराचरण की अपनी करो रे ।
मागो क्षमा जगत से मन मार लो रे ।
हो अप्रमत्त तबलौं निज आत्म ध्याओ,
प्राचीन कर्म जबलौं तुम ना हटाओ ॥४९०॥

निस्पंद योग जिसके, मन मोद पाता
सद्ध्यान लीन, नहि बाहर भूल जाता ।
ध्यानार्थ ग्राम पुर हो वन काननी हो,
दोनो समान उसको, समता धनी हो ॥४९१॥

पीना समाधि रस को यदि चाहते हो,
जीना युगो युगयुगो तक चाहते हो ।
अच्छे बुरे विषय ऐद्रिक है तथापि,
ना रोष तोष करना, उनमे कदापि ॥४९२॥

निस्सग है निडर नित्य निरीह त्यागी,
वैराग्य भाव परिपूरित है विरागी ।
वैचित्र्य भी विदित है भवका जिन्होको,
वे ध्यान लीन रहते, भजते गुणो को ॥४९३॥

आत्मा अनन्त दृग, केवल बोधधारी,
आकार से पुरुष शाश्वत सौख्यकारी ।
योगी नितान्त उसका उर ध्यान लाता ।
निर्द्वन्द्व पूर्ण बनता अघ को हटाता ॥४९४॥

आत्मा तना तन निकेतन मे अपापी,
योगी उसे पृथक से लखते तथापि ।
सयोग जन्य तन आदि उपाधियो को,
वे त्याग, आप अपने गुणते गुणो को ॥४९५॥

मेरे नही "पर" यहाँ परका न मै हूँ,
हूँ एक हूँ विमल केवल ज्ञान मै हूँ ।
यो ध्यान मे सतत चितन जो करेगा,
ध्याता स्वाका बन ! सुमुक्तिरमा वरेगा ॥४९६॥

जो ध्यान मे न निजवेदन को करेगा,
योगी निजी-परम-तत्व नही गहेगा ।
सौभाग्य छीन नर क्या निधि पा सकेगा ?
दुर्भाग्य से दुखित हो नित रो सकेगा ॥४९७॥

पिण्डस्थ आदिक पदस्थ रूपहीन,
है ध्यान तीन इनसे तुम हो विलीन ।
छद्मस्थता सजिनता, शिवसिद्धता ये
तीनो हि तत विषय है क्रमश सुहाते ॥४९८॥

खड्गासनादिक लगा गुरुवीर स्वामी
थे ध्यान मे निरत अतिम तीर्थनामी ।
थे ऊर्ध्व स्वर्गगत दृश्य निहारते थे,
सकल्प के बिन समाधि सुधारते थे ॥४९९॥

भोगो, अनागतगतो व तथागतो की,
काक्षा जिन्हे न स्मृति, क्या ? फिर आगतो की
ऐसे महर्षि जन कार्मिक कायको ही,
क्षीणातिक्षीण करते बनते विमोही ॥५००॥

चिता करो न कुछ भी मन से न डोलो,
चेष्टा करो न तन से मुख से न बोलो ।
यो योग मे गिरि बनो, शुभ ध्यान होता
आत्मा निजात्मरत ही सुख बीज बोता ॥५०१॥

है ध्यान मे रम रहा सुख पा रहा है,
शुद्धात्म ही बस जिसे अति भा रहा है ।
पाके कषाय न कदापि दुखी बनेगा,
ईर्षा विषाद मद शोक नही करेगा ॥५०२॥

वे धीर साधु उपसर्ग परीषहो से,
होते न भीरु चिगते अपने पदो से ।
मायामयी अमर सम्पद वैभवो मे,
ना मुग्ध लुब्ध बनते निज ऋद्धियो मे, ॥५०३॥

वर्षो पडा बहुत सा तृण ढेर चारा,
ज्यो अग्नि से झट जले बिन देर सारा ।
त्यो शीघ्र ही भव भवार्जित कर्म कूडा,
ध्यानाग्नि से जल मिटे सुन भव्य ! मूढा ! ॥५०४॥

- ३० अनुप्रेक्षा सूत्र -

स्वाधीन चित्त कर तू शुभ ध्यान द्वारा,
कर्त्तव्य आदिम यही मुनि भव्य प्यारा ।
सद्ध्यान सतुलित होकर भी सदा ये,
भा भाव से सुखद द्वादश भावनाये ॥५०५॥

ससार, लोक, वृष, आस्रव, निर्जरा है,
अन्यत्व और अशुचि, अध्रुव सवरा है,
एकत्व औ अशरणा अवबोधना ये,
भावे सुधी सतत द्वादश भावनाये ॥५०६॥

है जन्म से मरण भी वह जन्म लेता,
वार्धक्य भी सतत यौवन साथ देता ।
लक्ष्मी अतीव चपला बिजली बनी है,
ससार ही तरल है स्थिर ही नही है ॥५०७॥

हे ! भव्य मोहघट को झट पूर्ण फोडो,
सद्य क्षयी विषय को विष मान छोडो ।
औ चित्त को सहज निर्विषयी बनाओ,
औचित्य !! पूर्ण परमोत्तम सौख्य पाओ ॥५०८॥

अल्पज्ञ ही परिजनो धन वैभवो को,
है मानता "शरण" पाशव गोधनो को ।
ये है मदीय यह मै उनका बताता ।
पै वस्तुत शरण वे नहि प्राण त्राता ॥५०९॥

मै सग शल्य त्रय को त्रययोग द्वारा,
हूँ हेय जान तजता जड के विकारा ।
मेरे लिए शरण त्राण प्रमाण प्यारी,
है गुप्तियाँ समितियाँ भव दु ख हारी ॥५१०॥

लावण्य का मद युवा करते सभी है,
पै मृत्यु पा उपजते कृमि हो वहीं है ।
संसार को इसलिए बुध सन्त त्यागी
धिक्कारते न रमते उसमे विरागी ॥५११॥

ऐसा न लोक भर मे थल ही रहा हो,
मैने न जन्म मृत दु.ख जहाँ सहा हो,
तू बार बार तन धार मरा यहाँ है,
तू ही बता स्मृति तुझे उसकी कहाँ है ॥५१२॥

दुर्लघ्य है भवपयोधि अहो ! अपारा,
अक्षुण्ण जन्म जल पूरित पूर्ण खारा ।
मारी जरा मगरमच्छ यहाँ सताते,
है दुःख पाक, इसका, गुरु है बताते ॥५१३॥

जो साधु रत्नत्रय मडित हो सुहाता,
संसार मे परम तीर्थ वही कहाता ।
संसार पार करता, लख क्यो कि मौका,
हो रुढ रत्नत्रय रूप अनूप नौका ॥५१४॥

हे ! मित्र आप अपने विधि के फलो को,
है भोगते सकल जीव शुभाशुभो को ।
तो कौन हो स्वजन ? कौन निरा पराया,
तू ही बता समझ में मुझको न आया ॥५१५॥

पूरा भरा दृग विबोध मयी सुधा से,
मै एक शाश्वत सुधाकर हूँ सदा से ।
सयोग जन्य सब शेष विभाव मेरे,
रागादि भाव जितने मुझसे निरे रे ! ॥५१६॥

सयोग भाव वश ही बहु दु.ख पाया,
हूँ कर्म के तपन तप्त, गया सताया ।
त्यागूँ उसे यतन से अब चाव से मै
विश्राम लूँ सघन चेतन छाव मे मैं ॥५१७॥

तूने भवाम्बूनिधिमज्जित आतमा की,
चिता न की न अबलौ उसपे दया की ।
पै बार-बार करता मृत साथियों की,
चिता दिवंगत हुए उन बधुओं की ॥५१८॥

मैं अन्य हूँ तन निरा, तन से न नाता,
ये सर्व भिन्न मुझसे सुत, तात, माता ।
यो जान मान बुध पडित साधु सारे,
धारें न राग इनमे, निजको निहारे ॥५१९॥

शुद्धात्म वेदनतया सम दृष्टि वाला,
है वस्तुत निरखता तनको निराला ।
अन्यत्व रूप उसकी वह भावना है,
भाऊँ उसे जब मुझे व्रत पालना है ॥५२०॥

निष्पन्न है जडमयी पल हड्डियो से,
पूरा भरा रुधिर मूत्र-मलादिको से ।
दुर्गन्ध द्रव्य झरते नवद्वार द्वारा,
ऐसा शरीर फिर भी सुख दे ! तुम्हारा ? ॥५२१॥

जो मोह जन्य जडभाव विभाव सारे,
है त्याज्य यो समझ साधु उन्हे विसारे ।
तल्लीन हो प्रशम मे तज वासना को
भावे सही परम आस्रव भावनाको ॥५२२॥

वे गुप्ति औ समिति पालक अक्ष जेता,
औ अप्रमत्त परमातम तत्ववेत्ता ।
है कर्म के विविध आस्रव रोध पाते
है भावना परम सवर की निभाते ॥५२३॥

है लोक का यह वितान असार सारा,
ससार तीव्र गति मे गममान न्यारा
यो जान मान मुनि हो शुभ ध्यान धारो,
लोकाग्र में स्थित शिवालय को निहारो ॥५२४॥

स्वामी ! जरा मरण-वारिधि मे अनेकों,
जो डूबते बह रहे उन प्राणियो को ।
सद्धर्म ही शरण है गत, श्रेय द्वीप,
पूजूं उसे शिव लसे सहसा समीप ॥५२५॥

तो भी रहा सुलभ ही वर देह पाना,
पै धर्म का श्रवण दुर्लभ है पचाना ।
हो जाय प्राप्त जिससे कि क्षमा अहिसा,
ये भिन्न भिन्न बन जाय शरीर, हसा ॥५२६॥

तो भी रहा सुलभ है सुनना सुनाना,
श्रद्धान पै कठिन है उसपै जमाना ।
सन्मार्ग का श्रमण भी करते तथापि,
होते कई स्खलित हैं मतिमूढ पापी ॥५२७॥

श्रद्धान औ श्रवण भी जिनधर्म का हो,
पै सयमाचरण तो अतिदुर्लभा हो ।
लेते सुधी रुचि सुसंयम मे कई है,
पाते तथापि उसको सहसा नही है ॥५२८॥

सद्भावना वश निजातम शोभती त्यो,
नि छिद्र नाव जलमें वह शोभती ज्यो ।
नौका समान भव पार उतारती है,
ये भावना अमित दु ख विनाशती हैं ॥५२९॥

सच्चा प्रतिक्रमण, द्वादश भावनाये,
आलोचना शुचिसमाधि निजीकथाये ।
भावो इन्हे तुम निरन्तर पाप त्यागो,
शीघ्रातिशीघ्र जिससे निज धाम भागो ॥५३०॥

- ३१ लेश्या सूत्र -

ये पीत, पद्म शशिशक्ल सुलेश्यकाये,
है धर्म ध्यान रत आतम की दशाये ।
औ उत्तरोत्तर सुनिर्मलभी रहीं है,
मन्दादि भेद इनके मिलते कई है ॥५३१॥

होती कषाय वश योगप्रवृत्ति लेश्या,
है लूटती निधि सभी जिस भाति वेश्या ।
जो कर्म बन्ध जग चार प्रकार का है,
हे मित्र ! कार्य वह योग कषाय का है ॥५३२॥

है कृष्ण नीलम कपोत कुलेश्यकाये,
है पीत पद्म सित तीन सुलेश्यकाये
लेश्या कही समय मे छह भेद वाली,
ज्यों ही मिटी समझलो मिटती भवाली ॥५३३॥

मानी गई अशुभ आदिम लेश्यकाये,
तीनो अधर्म मय है दुख आपदाये ।
आत्मा इन्ही वश दुखी बनता वृथा है,
पापी बना, कुगति जा सहता व्यथा है ॥५३४॥

है तीन धर्म मय अंतिम लेश्यकाये
मानी गई शुभ सुधा सुख सम्पदायें ।
ये जीवको सुगति में सब भेजती है,
वे धारते नित इन्हे जग मे व्रती है ॥५३५॥

है तीव्र, तीव्रतर तीव्रतमा कुलेश्या,
है मन्द मन्दतर मन्दतमा सुलेश्या !
भाई ! तथैव छहथान विनाश वृद्धि,
प्रत्येक मे बरतती इनमे, सुबुद्धि ! ॥५३६॥

भूले हुए पथिक थे, पथ को मुधा से,
थे आर्त्त पीड़ित छहों वन मे क्षुधा से ।
देखा रसाल तरु फूलफलों लदा था,
मानो उन्हें कि अशनार्थ बुला रहा था

आमूल स्कन्ध टहनी झट काट डालें,
औ तोड-तोड़ फलफूल रसाल खालें ।
यो तीन दीन क्रमश· धरते कुलेश्या,
है सोचते कह रहें कर संकलेशा

है एक गुच्छ भरको इक पक्व पाता,
तोड़े बिना पतित को इक मात्र खाता ।
यो शेष तीन क्रमश धरते सुलेश्या,
लेश्या उदाहरण ये कहते जिनेशा ॥५३७-५३८॥

ये क्रूरता अतिदुराग्रह दुष्टतायें,
सद्धर्म की विकलता अदया दशायें ।
वैरत्व औ कलह भाव विभाव सारे,
है कृष्ण के दुखद लक्षण, साधु टारे ॥५३९॥

अज्ञानता विषय की अतिगृद्धतायें,
सद्बुद्धि की विकलता मतिमन्दता ये ।
सक्षेप मे समझ, लक्षण नीलके है,
ऐसे कहे, श्रमण आलय शील के है ॥५४०॥

अत्यन्त शोक करना, भयभीत होना,
कर्त्तव्य मूढ बनना, झट रुष्ट होना ।
दोषी व निन्द्य परको कहना बताना,
कापोत भाव सब ये इनको हटाना ॥५४१॥

आदेय, हेय अहिताहित बोध होना,
ससारि प्राणि भर मे सम भाव होना ।
दानी तथा सदय हो पर दु ख खोना,
ये पीत लक्षण इन्हे तुम धार लो ना !! ॥५४२॥

हो त्याग भाव, नयता व्यवहार मे हो,
औ भद्रता, सरलता, उर कार्य मे हो ।
कर्त्तव्यमान करना गुरु भक्ति सेवा,
ये पद्म लक्षण क्षमा धरलो सदैवा ॥५४३॥

भोगाभिलाष मन मे न कदापि लाना,
औ देह-नेह रति-शेषन को हटाना ।
ना पक्षपात करना समता सभी में,
ये शुक्ल लक्षण मिले मुनि मे सुधी मे ॥५४४॥

आजाय शुद्धि परिणामन मे जभी से,
लेश्या विशुद्ध बनती, सहसा तभी से ।
काषाय मन्द पड़जाय अशांति दाई,
हो जाय आत्म परिणाम विशुद्ध भाई ॥५४५॥

- ३२ - आत्म सूत्र -

संमोह योग वश आतम में अनेकों ?
होते विचित्र परिणाम विकार देखो ।
सर्वज्ञ-देव "गुणथान" उन्हें बताया,
आलोक से सकल को जब देख पाया ॥५४६॥

मिथ्यात्व आदिम रहा गुणथान भाई,
सासादना वह द्वितीय अशांति दाई ।
है मिश्र है अविरती सम दृष्टि प्यारी,
है एक देश विरती धरते आगारी ।
होती प्रमत्तविरती गिरसाधु जाता,

हो अप्रमत्तविरती निज पास आता ।
स्वामी अपूर्व करणा दुख को मिटाती,
है आनिवृत्तिकरणा सुख को दिलाती ।
है सापराय अति सूक्ष्म लोभ वाला,
है शान्त मोह गत मोह निरा उजाला ।
है केवली जिन सयोगि अयोगी न्यारे,
इत्थ चतुर्दश सुनो ! गुणथान सारे ॥५४७-५४८॥

तत्वार्थ में न करना शुचि रूप श्रद्धा,
मिथ्यात्व है वह, कहे जिन शुद्ध बुद्धा ।
मिथ्यात्व भी त्रिविध संशय नामवाला,
दूजा गृहीत, अगृहीत तृतीय हाला ॥५४९॥

सम्यक्त्वरूप गिरि से गिर तो गई है,
मिथ्यात्व की अवनिपे नहि आगई है ।
सासादना यह रही विचली दशा है,
मिथ्यात्व की अभिमुखी दुख की निशा है ॥५५०॥

जैसा दही गुड मिलाकर स्वाद लोगे,
तो भिन्न भिन्न तुम स्वाद न ले सकोगे ।
वैसा हि मिश्र गुणथानन का प्रभाव,
मिथ्यापना समपनाश्रित मिश्रभाव ॥५५१॥

छोडी अभी नहिं चरा चर जीव हिंसा,
न इंद्रियाँ दमित की तज भावहिंसा ।
श्रद्धा परन्तु जिसने जिनमे जमाई,
होता वहीं अविरती समदृष्टि भाई ! ॥५५२॥

छोडी नितान्त जिसने त्रसजीव हिंसा,
छोडी परतु नहि थावर जीव हिंसा ।
लेता सदा जिनप पाद पयोज स्वाद,
हो एक देश वरती "अलि" निर्विवाद ॥५५३॥

धारा महाव्रत सभी जिसने तथापि,
प्राय प्रमाद करता फिर भी अपापी ।
शीलादि सर्व गुण धारक सग त्यागी,
होता प्रमत्त विरती कुछ दोष भागी ॥५५४॥

शीलाभि मंडित, व्रती गुणधार ज्ञानी,
त्यागा प्रमाद जिसने बन आत्म ध्यानी ।
पै मोह को नहि दबा न खपा रहा है,
है अप्रमत्त विरती, सुखपा रहा है ॥५५५॥

जो भिन्न भिन्न क्षण मे चढ आठवे मे,
योगी अपूर्व परिणाम करे मजे मे ।
ऐसे अपूर्व परिणाम न पूर्व मे हो,
वे ही अपूर्वकरणा गुणथान मे हो ॥५५६॥

जो भी अपूर्व परिणाम सुधार पाते,
वे मोह के शमक, ध्वसक या कहाते ।
ऐसा जिनेद्र प्रभु ने हमको बताया,
अज्ञान रूप तम को जिसने मिटाया ॥५५७॥

प्रत्येक काल इक ही परिणाम पाले,
वे आनिवृत्तिकरणा गुणथान वाले ।
ध्यानाग्नि से धधकती विधि काननी को
है राख खाख करते, दुख की जनी को ॥५५८॥

कौसुम्ब के सदृश सौम्य गुलाब आभा,
शोभायमान जिसके उर राग आभा ।
है सूक्ष्म राग दशवें गुणथान वाले,
वे वन्द्य, तू विनय से शिर तो नवाले ॥५५९॥

ज्यों शुद्ध है शरद मे सर नीर होता,
या निर्मली फल डला जल क्षीर होता ।
त्यों शान्त मोह गुणधारक हो निहाला
हो मोह सत्व, पर जीवन तो उजाला ॥५६०॥

सम्मोह हीन जिसका मन ठीक वैसा
हो स्वच्छ, हो स्फचिक भाजन नीर जैसा ।
निर्ग्रन्थ साधु वह क्षीण कषाय नामी,
यो वीतराग कहते प्रभु विश्व स्वामी ॥५६१॥

कैवल्य बोध रवि जीवन मे उगा है,
अज्ञान रूपतम तो फलत भगा है ।
पा लब्धिया नव नवीन, वही कहाता,
त्रैलोक्य पूज्य परमातम या प्रमाता ॥५६२॥

स्वाधीन बोध दृगपाकर केवली है,
जीता जभी स्वयम को जिन है बली है ।
होता सयोगि जिन योग समेत ध्यानी,
ऐसा कहे अमिट अव्यय आर्षवाणी ॥५६३॥

है अष्टकर्म मल को जिनने हटाया,
सम्यक्तया सकल आस्रव रोक पाया ।
वे है, अयोगि जिन पावन केवली है,
है शील के सदन औ सुख के धनी है ॥५६४॥

आत्मा अतीत गुणथान बना जभी से,
सानन्द ऊर्ध्व गति है करता तभी से ।
लोकाग्र जा निवसता गुण अष्ट पाता
पाता न देह, भव मे नहि लौट आता ॥५६५॥

वे सिद्ध, नित्य कृतकृत्य, सुशान्त, ज्ञानी,
होते निरजन न अजन की निशानी ।
सामान्य अष्ट गुण आकर हो लसे है,
लोकाग्र मे स्थित शिवालय मे बसे है ॥५६६॥

- ३३ सल्लेखना सूत्र -

भाई सुनो तन अचेतन दिव्य नौका,
तो जीव नाविक सचेतन है अनोखा ।
ससार सागर रहा दुख पूर्ण खारा,
है तैरते ऋषि महर्षि जिसे सुचारा ॥५६७॥

है लक्ष्यबिन्दु यदि शाश्वत सौख्य पाना,
जाना मना विषयमे मन को घुलाना ।
दे, देह को उचित वेतन तू सयाने !
पाने स्वकीय सुख को विधि को मिटाने ॥५६८॥

क्या धीर, कापुरुष, कायर क्या विचारा,
हो कालका कवल लोक नितान्त सारा ।
है मृत्यु का यह नियोग, नही टलेगा,
तो धैर्य धार मरना, शिव जो मिलेगा ॥५६९॥

वो एक ही मरण है मुनि पण्डितों का,
है आशु नाश करता शतशः भवो का ।
ऐसा अत मरण हो जिससे तुम्हारा,
जो बार बार मरना, मर जाय सारा ॥५७०॥

पाण्डित्य पूर्ण मृति पण्डित साधु पाता,
निर्भ्रान्त हो अभय हो भय को हटाता ।
तो एक साथ मरणोदधिपूर्ण पीता ।
मृत्युजयी बन तभी चिरकाल जीता ॥५७१॥

वे साधु पाश समझे लघु दोष को भी,
हो दोष ताकि न, चले रख होश को भी ।
सद्धर्म और सधने तनको सँभाले,
हो जीर्ण शीर्ण तन, त्याग स्वगीत गाले ॥५७२॥

दुर्वार रोग तन मे न जरा घिरी हो,
बाधा पवित्र व्रत मे नहि आ परी हो ।
तो देह त्याग न करो, फिर भी करोगे,
साधुत्व त्याग करके, भव मे फिरोगे ॥५७३॥

सल्लेखना सुखद है सुख है सुधा है,
जो अतरग बहिरग तया द्विधा है ।
आद्या, कषाय क्रमश कृश ही कराना,
है दूसरी बिन व्यथा तनको सुखाना ॥५७४॥

काषायिकी परिणती सहसा हटाते,
आहार अल्प कर ले क्रमश. घटाते ।
सल्लेखना व्रत सुधारक रुग्ण हो वे
तो पूर्ण अन्न तज दे, अति अल्प सोवें ॥५७५॥

एकान्त प्रासुक धरा, तृण की चटाई,
सन्यस्त के मसृण सस्तर ये न भाई ।
आदर्श तुल्य जिसका मन हो उजाला,
आत्मा हि सस्तर रहा उसका निहाला ॥५७६॥

हाला तथा कुपित नाग कराल काला,
या भूत, यत्र, विष निर्मित वाण भाला ।
होते अनिष्ट उतने न प्रमादियों के,
निम्नोक्त भाव जितने शठ साधुओ के ॥५७७॥

सल्लेखना समय मे तजते न माया
मिथ्या निदानत्रयको मन मे जमाया ।
वे साधु आशु नहि दुर्लभ बोधिपाते,
पाते अनन्त दुख ही भव को बढाते ॥५७८॥

मायादि शल्य त्रय ही भव वृक्ष मूल,
काटे उसे मुनि सुधी अभिमान भूल ।
ऐसे मुनीश पद मे नतमाथ होऊँ,
पाऊँ पवित्र पद को शिवनाथ होऊँ ॥५७९॥

भोगाभिलाष समवेत कुकृष्ण लेश्या,
हो मृत्यु के समय मे जिसको जिनेशा ।
मिथ्यात्व कर्दम फसा उस जीव को ही,
हो बोधि दुर्लभतया, तज मोह मोही ! ॥५८०॥

प्राणान्त के समय मे शुचि शुक्ललेश्या,
जो धारता, तज नितान्त दुरन्त क्लेशा ।
सम्यक्त्व मे निरत नित्य, निदानत्यागी,
पाता वही सहज बोधि व्रती विरागी ॥५८१॥

सद्बोधि की यदि तुम्हे चिर कामना हो,
ज्ञानादि की सतत सादर साधना हो ।
अभ्यास रत्नत्रय का करता, उसी को,
आराधना वरण है करती सुधी को ॥५८२॥

ज्यो सीखता प्रथम, राजकुमार नाना
विद्या कला असिगदादिक को चलाना ।
पश्चात् वही कुशलता बल योग्य पाता,
तो धीर जीत, रिपु को जय लूट लाता ॥५८३॥

अभ्यास भूरि करता शुभ ध्यान का है,
लेता सदैव यदि माध्यम साम्य का है ।
तो साधु का सहज हो मन शान्त जाता,
प्राणान्त के समय ध्यान नितान्त पाता ॥५८४॥

ध्याओ निजात्म नित ही निज को निहारो
अन्यत्र, छोड निजको, न करो विहारो ।
सबन्ध मोक्ष पथ से अविलम्ब जोडो,
तो आप को नमन हो मम ये करोडो ॥५८५॥

साधू करे न मृति जीवन की चिकित्सा,
ना परलौकिक न लौकिक भोगलिप्सा ।
सल्लेखना समय में बस साम्य धारे,
ससार का अशुभ ही फल, यो विचारे ॥५८६॥

लेना निजाश्रय सुनिश्चित मोक्षदाता,
होता पराश्रय दुरन्त अशान्ति-धाता ।
शुद्धात्म में इसलिए रुचि हो तुम्हारी,
देहादि में अरुचि ही शिव सौख्यकारी ॥५८७॥

द्वितीय खण्ड समाप्त

(दोहा)

"मोक्षमार्ग" पर नित चलो दुख मिट, सुख मिल जाय,
परम सुगधित ज्ञान की मृदुल कली खिल जाय ॥१॥

तत्त्व दर्शन, तृतीय खण्ड
तत्त्व सूत्र

अल्पज्ञ मूढ जन ही भजते अविद्या,
होते दुखी, नहि सुखी, तजते सुविद्या ।
हो लुप्त गुप्त भवमे बहुबार तातें
कल्लोल ज्यो उपजते सर मे समाते ॥५८८॥

रागादि भाव भर को अघ पाश माने,
वित्तादि वैभव महा दुख खान जाने ।
औ सत्य तथ्य समझे, जग प्राणियो मे
मैत्री रखे, बुध सदैव चराचरो मे ॥५८९॥

जो "शुद्धता" "परम "द्रव्यस्वभाव", स्थाई,
है "पारमार्थ" अपरापर ध्येय भाई ।
औ वस्तु तत्त्व सुन ! ये सब शब्द प्यारे
है भिन्न भिन्न पर आशय एक धारे ॥५९०॥

होते पदार्थ नव, जीव, अजीव न्यारा,
है पुण्य, पाप विधि आस्रव, बध खारा ।
आराध्य है सुखद सवर, निर्जरा है,
आदेय है परम मोक्ष यही खरा है ॥५९१॥

है जीव, शाश्वत अनादि अनन्त ज्ञाता,
भोक्ता तथा स्वयम की विधि के विधाता ।
स्वामी सचेतन तभी तन से निराला,
प्यारा अरूप उपयोग मयी निहाला ॥५९२॥

भाई कभी अहित से डरता नही है,
उद्योग भी स्वहित का करता नही है ।
जो बोध दु ख सुख का रखता नही है,
है मानते मुनि, "अजीव" उसे सही है ॥५९३॥

आकाश पुद्गल व धर्म, अधर्म, काल,
ये है "अजीव" सुन ! तू अयि ! भव्य बाल !
रूपादि चार गुण पुद्गल मे दिखाते
है मूर्त पुद्गल, न शेष, अमूर्त भाते ॥५९४॥

आत्मा अमूर्त, नहि इद्रिय गम्य होता,
होता तथापि नित, नूतन ढग ढोता ।
है आत्म की कलुषता विधि बन्ध हेतु
ससार हेतु विधि बन्धन जान रे ! तू ॥५९५॥

जो राग से सहित है वसु कर्म पाता,
होता विराग भवमुक्त, अनन्त ज्ञाता ।
ससारि-जीव भर की विधि बन्ध गाथा,
सक्षेप मे समझ, क्यो रति गीत गाता ॥५९६॥

मोक्षाभिलाष यदि है तज राग रागी,
नीराग भाव गहले, बन वीतरागी—।
ऐसा हि भव्य जन शाश्वत सौख्य पाते,
शीघ्रतिशीघ्र भव वारिधि तैर जाते ॥५९७॥

है पाप पुण्य विधि दो विधि बध हेतु,
है जान निश्चित शुभाशुभ भाव को तू
है धारते अशुभ तीव्र कषाय वाले,
शोभे सुधार "शुभ", मन्द कषाय वाले ॥५९८॥

धारे क्षमा खलजनो कटुभाषियों मे,
लेवें नितान्त गुण शोध सभी जनों में ।
बोलें सदैव पिय बोल, उन्ही जनों के
ये है उदाहरण मन्दकषायियो के ॥५९९॥

जो वैर भाव रखना चिर, साधुओ मे,
प्रादोष को निरखना, गुण धारियों मे ।
शंसा स्वकीय करना, उन पापियो के,
ये चिन्ह है परम तीव्र कषायियों के ॥६००॥

जो राग रोष वश मत्त बना भिखारी,
आधीन इन्द्रिय निकायन का विकारी ।
है अष्ट कर्म करता त्रय योग द्वारा,
कैसे खुले ? फिर उसे वर मुक्ति द्वारा ॥६०१॥

हिंसादि पच विधि आस्रव द्वार द्वारा,
होता सदैव विधि आस्रव है अपारा ।
आत्मा भवाम्बुनिधि मे तब डूब जाती,
नौका सछिद्र, जल मे कब तैर पाती ? ॥६०२॥

हो वात से सरसि शीघ्र तरंगिता ज्यो,
वाक्काय से मनस से यह आतमा त्यो ।
त्रैलोक्य पूज्य जिन "योग" उसे बताते
वे योग निग्रहतया जग जान जाते ॥६०३॥

ज्यों ज्यों त्रियोग रुकते रुकते चलेगे,
त्यो त्यों नितान्त विधि आस्रव भी रुकेंगे ।
संपूर्ण योग रुक जाय न कर्म आता
क्या पोत में विवर के बिन नीर जाता ? ॥६०४॥

मिथ्यात्व औ अविरती कुकषाय योग,
वे चार आस्रव इन्ही वश दु ख योग ।
सम्यक्त्व सयम, विराग, त्रियोग रोध,
ये चार संवर, जगे इनसे स्वबोध ॥६०५॥

हो बन्द, पोतगत छेद सभी सही है !!!
पानी प्रवेश करता उसमे नहीं है ।
मिथ्यात्व आदि मिटने पर शीघ्रता से,
हो कर्म संवर निजातम साम्यता से ॥६०६॥

रोके नितान्त जिनने विधि-द्वार सारे,
होते जिन्हे निज समा जग जीव प्यारे ।
वे सयमी परम सवर को निभाते,
है पापरूप विधि-बन्धन को न पाते ॥६०७॥

मिथ्यात्वरूप विधि-द्वार खुले न भाई,
तू शीघ्र से दृग कपाट लगा भलाई ।
हिसादि द्वार, व्रत रूप कपाट द्वारा,
हे ! भव्य बन्द कर दे, सुख पा अपारा ॥६०८॥

होता जलास्रव जहाँ तुम बाध डालो,
आये हुये सलिल बाद निकाल डालो ।
तालाब मे जल लबालव हो भले ही,
औ सूखता सहज से पल में टले ही ॥६०९॥

हो सयमी परम आतम शोधता है,
सपूर्ण पाप विधि आस्रव रोकता है ।
निर्भ्रान्त कोटि भव सचित कर्म सारे,
होते विनिष्ट, तपसे क्षण मे बिचारे ॥६१०॥

पाये बिना परम संवर को तपस्वी,
पाता न मोक्ष तप से, कहते मनस्वी ।
आता रहा सलिल बाहर से सदा ओ,
क्या सूखता सर कभी ? तुम ही बताओ ॥६११॥

है कर्म नष्ट करता जितना वनो में
जा अज्ञ धार तप, कोटि भवो भवो मे ।
ज्ञानी निमेष भरमे त्रय गुप्ति द्वारा
है कर्म नष्ट करता उतना सुचारा ॥६१२॥

होता विनष्ट जब मोह अशान्तिदाई,
तो शेष कर्म सहसा नश जाय भाई ।
सेनाधिनायक भला रण में मरा हो
सेना कभी बँच सके ? न बचे जरा ओ ॥६१३॥

लोकान्त लौ गमन है करता सुहाता,
है सिद्ध कर्ममलमुक्त, निजात्म धाता ।
सर्वज्ञ हो लस रहा नित सर्वदर्शी
होता अतींद्रिय अनन्त प्रमोद स्पर्शी ॥६१४॥

सप्राप्त जो सुख, सुरों असुरो नरो को,
औ भोगभूमिज जनों अहमिद्रको को ।
औ मात्र बिन्दु, जब सिद्धनका सुसिधु,
खद्योत-ज्योत इक है इक पूर्ण इन्दु ॥६१५॥

संकल्प तर्क न जहाँ मन ही मरा है,
ना ओज तेज, मलकी न परंपरा है ।
संमोह का क्षय हुआ फिर खेद कैसे ?
ना शब्द गम्य वह मोक्ष, दिखाय कैसे ? ॥६१६॥

बाधा न जीवित जहाँ कुछ भी न पीडा,
आती न गन्ध सुख की दुख से न क्रीडा ?
ना जन्म है मरण है जिसमे दिखाते,
"निर्वाण" जान वह है गुरु यो बताते ॥६१७॥

निद्रा न मोहतम विस्मय भी नही है,
ये इन्द्रियाँ जडमयी जिसमे नही है
बाधा कभी न उपसर्ग तृषा क्षुधा है,
निर्वाण मे सुखद बोधमयी सुधा है ॥६१८॥

चिन्ता नही उपजती चितमे जरा सी,
नोकर्म भी नहि, नही वसु-कर्म-राशि ।
होते जहाँ नहि शुभाशुभ ध्यान चारों,
निर्वाण है वह रहा तुम यो विचरो ॥६१९॥

कैवल्य-बोध-सुख-दर्शन-वीर्य वाला,
आत्मा प्रदेश मय मात्र अमूर्त शाला ।
निर्वाण मे निवसता निजनीति धारी,
अस्तित्व से विलसता जग-आर्तहारी ॥६२०॥

पाते महर्षि-ऋषि सन्त जिसे, वही है,
निर्वाण, सिद्धि, शिव मोक्ष मही, सही है ।
लोकाग्र है सुख अबाधक, क्षेम प्यारा
वन्दूँ उसे विनय से बस बार बारा ॥६२१॥

एरण्डबीज सहसा जब सूख जाता,
है उर्ध्व ही नियम से उडता दिखाता ।
हो पक लिप्त जल में वह डूब जाती,
तुम्बी संपर्क तजती द्रुत ऊर्ध्व आती,

छूटा हुआ धनुष से जिस भाति बाण
हो पूर्व योग वश हो गतिमान मान ।
श्री सिद्ध जीव गति भी उस भाँति होती,
धूमाग्नि की गति समा वह ऊर्ध्व होती ॥६२२॥

आकाश से निरवलम्ब अबाध प्यारे,
वे सिद्ध है अचल, नित्य, अनूप सारे ।
होते अतीद्रिय पुन भव में न आते,
हैं पुण्य-पाप विधि-हीन मुझे सुहाते ॥६२३॥

३५ द्रव्य सूत्र

ये जीव, पुद्गल ख, धर्म, अधर्म, काल,
होते जहाँ समझ "लोक" उसे विशाल ।
आलोक से सकल-लोक अलोक देखा,
यो "वीर ने" सदुपदेश दिया सुरेखा ॥६२४॥

आकाश, पुद्गल अधर्म व धर्म, काल,
होते जहाँ समझ "लोक" उसे विशाल ।
आलोक से सकल-लोक अलोक देखा,
यो "वीर ने" सदुपदेश दिया सुरेखा ॥६२५॥

ये पांच द्रव्य, नभ धर्म अधर्म, काल,
औ जीव शाश्वत अमूर्तिक है निहाल ।
है मूर्त पुद्गल सदा सब में निराला,
है जीव चेतन-निकेतन, बोध-शाला ॥६२६॥

ये जीव पुद्गल जु सक्रिय द्रव्य दो है,
तो शेष चार सब निष्क्रिय द्रव्य जो है ।
कर्माभिभूत जड पुद्गल से क्रियावान्
है जीव, कालवश पुद्गल है क्रियावान् ॥६२७॥

है एक एक नभ, धर्म, अधर्म तीनो,
तो शेष शाश्वत अनन्त अनन्त तीनो ।
है वस्तुतः सब स्वतत्र स्वलीन होते,
ऐसा जिनेश कहते वसु कर्म खोते ॥६२८॥

है धर्म औ वह अधर्म त्रिलोक व्यापी,
आकाश तो सकल लोक अलोक व्यापी ।
है मर्त्त्य लोक भरमे व्यवहार काल,
सर्वज्ञ के वचन है सुन भव्य बाल ! ॥६२९॥

देते हुए श्रेय परस्पर मे मिले है,
ये सर्व द्रव्य पय शक्कर से घुले हैं ।
शोभे तथापि अपने अपने गुणो से,
छोडे नही निज स्वभाव युगो युगों से ॥६३०॥

है स्पर्शरूप, रस, गध, विहीन स्थाई,
है खण्ड खण्ड नहि पूर्ण अखण्ड भाई ।
है लोकपूर्ण सुविशाल असख्य देशी,
धर्मास्तिकाय वह है सुन तू हितैषी ॥६३१॥

त्यो धर्म, जीव जड को गति मे सहाई,
ज्यो मीन के गमन में जल होय भाई !
औदास्य भाव धरता नहि प्रेरणा है,
धर्मास्किाय यह है जिन देशना है ॥६३२॥

धर्मास्तिकाय खुद ना चलता चलाता,
पै प्राणि पुद्गल चले, गति है दिलाता ।
होता न प्रेरक निमित्त तथापि भाई,
ज्यों रेल के गमन मे पटरी सहाई ॥६३३॥

है धर्म द्रव्य उस भाँति अधर्म द्रव्य,
कोई क्रिया न करता सुन भद्र ! भव्य !
औदास्य भाव धरती सम धार लेता,
ज्यो प्राणि पुद्गल रुके स्थिति दान देता ॥६३४॥

आकाश व्यापक अचेतन भाव धाता,
होता पदार्थ दलका अवगाह दाता ।
भाई अमूर्त नभ के फिर भेद दो हैं,
है एक लोक, इक दीर्घ अलोक सो है ॥६३५॥

जीवादि द्रव्य छह ये मिलते जहाँ है,
माना गया अमितलोक यही यहाँ है
आकाश केवल अलोक वही कहाता
यो ठीक ठीक यह छन्द हमे बताता ॥६३६॥

है स्पर्श रूप रस गन्ध विहीन होता,
सवर्त्तनामय सुलक्षण जो कि ढोता ।
है धारता गुण सदा अगुरूलघू को,
है काल स्वीकृत यही जग के प्रभू को ॥६३७॥

है हो रहा नित अचेतन पुद्गलो मे,
धारा प्रवाह परिवर्तन चेतनो में ।
औ काल का बस अनुग्रह तो रहा है,
वैराग्य का परम कारण हो रहा है ॥६३८॥

घटा निमेष समयावलि आदि देखो !
होते प्रभेद जिसमें सहसा अनेकों ।
होता वही समय में व्यवहार काल,
है वीतराग जिनका मत है निहाल ॥६३९॥

दो भेद, "स्कन्ध, "अणु" पुद्गल के पिछानो,
है स्कन्ध भेद छह दो अणु के सुजानो।
है कार्य रूप अणु कारण रूप दूजा,
पै चर्मचक्षु अणु की करती न पूजा।।६४०।।

है स्थूल स्थूल, फिर स्थूल, व स्थूल सूक्ष्म,
औसूक्ष्म स्थूल पुनि सूक्ष्म सुसूक्ष्म-सूक्ष्म।
भू, नीर, आतप, हवा विधि-वर्गाये,
ये है उदाहरण स्कन्ध के गिनाये ।।६४१।।

किवा धरा सलिल, लोचन गम्य छाया,
नासादिके विषय पुद्गल कर्म माया।
अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु, छहो यहाँ ये,
हैं स्कन्ध भेद जड पुद्गल के बताये ।।६४२।।

जो द्रव्य होकर न इद्रिय गम्य होता,
है आदि मध्य अरु अन्त विहीन होता।
है एक देश रखता अविभाज्य भाता,
ऐसा कहे जिन यही परमाणु-गाथा ।।६४३।।

जो स्कन्ध मे वह क्रिया अणु मे इसीसे,
तू जान पुद्गल सदा अणु को खुशी से।
स्पर्शादि चार गुण पुद्गल धार पाता
है पूरता पिघलता पर स्पष्ट भाता ।।६४४।।

ओ जीव है, विगत में चिर जी चुका है,
जो चार प्राण धर के अब जी रहा है,
आगे इसी तरह जीवन जी सकेगा,
उच्छ्वास-आयु-बल इद्रिय पा लसेगा ।।६४५।।

विस्तार सकुचन शक्तितया शरीरी,
छोटा बडा तन प्रमाण दिखे विकारी ।
पै छोडके समुद्घात दशा हितैषी ।
है वस्तुतः एकल जीव असख्य देशी ॥६४६॥

ज्यो दूध मे पतित माणिक दूध को ही,
है लाल लाल करता सुन मूढ मोही ।
त्यो जीव देह स्थित हो निज देह को ही
सम्यक् प्रकाशित करे नहिं अन्य को ही ॥६४७॥

आत्मा तथापि वह ज्ञान प्रमाण भाता,
है ज्ञान भी सकल ज्ञेय प्रमाण साता ।
है ज्ञेय तो अमित लोक अलोक सारा,
भाई अत निखिल व्यापक ज्ञान प्यारा ॥६४८॥

वे जीव है द्विविध, चेतन धाम सारे,
''संसारि'' मुक्त'' द्विविधा उपयोग धारे ।
ससारिजीव तनधारक है दुखी हैं,
है मुक्त जीव तनमुक्त तभी सुखी हैं ॥६४९॥

पृथ्वी-जलानल समीर तथा लताये,
एकेन्द्रिय सब स्थावर ये कहायें
है धारते करण दो, त्रय, चार पच
शखादि जीव त्रय है करते प्रपच ॥६५०॥

३६ सृष्टि सूत्र

है वस्तुत यह अकृत्रिम लोक भाता,
आकाश हि इक भाग अहो ! कहाता !
आई अनादि अविनश्वर नित्य भी है
जीवादि द्रव्य दल पूरित पूर्ण भी है ॥६५१॥

पा योग अन्य अणु का अणु स्कध होता,
है स्निग्ध रूक्ष गुणधारक चूकि होता,
ना शब्द रूप अणु है, इक देश धारी,
प्रत्यक्ष ज्ञान लखता "अणु" निर्विकारी ॥६५२॥

ये सूक्ष्म स्थूल द्वयणुकादिक स्कन्ध सारे,
पृथ्वी जलाग्नि मरुतादिक रूप धारें ।
कोई इन्हे न ऋषि ईश्वर ही बनाते,
पै स्वीय शक्ति वश ही बनते सुहाते ॥६५३॥

सूक्ष्मादि स्कन्ध दल से त्रयलोक सारा,
पूरा ठसाठस भरा प्रभु ने निहारा ।
है योग्य स्कन्ध उनमे विधि रूप पाने,
होते अयोग्य कुछ है समझो सयाने ! ॥६५४॥

ज्यो जीव के विकृत भाव निमित्त पाती,
वे वर्गणा विधिमयी विधि हो सताती ।
आत्मा उन्हे न विधिरूप हठात् बनाता,
होता स्वभाव वश कार्य सदा दिखाता ॥६५५॥

रागादि से निरखता यदि जानता है,
पचेंद्रिक के विषय को मन धारता है ।
रजायनान उसमे वह हो फसेगा
दुष्टाष्टकर्म मल में चिर ओ लसेगा ॥६५६॥

सर्वत्र हैं विपुल हैं विधि वर्गणायें,
आकीर्ण पूर्ण जिनसे कि दशों दिशायें ।
वे जीव के सब प्रदेशन में समाते,
रागादिभाव जब जीव सुधार पाते ॥६५७॥

ज्यों राग रोष मय भाव स्वचित्त लाता,
है मूढ पामर शुभाशुभ कर्म पाता ।
होता तभी वह भवान्तर को रवाना
ले साथ ही नियम से विधि के खजाना ॥६५८॥

प्राचीन कर्म वश देह नवीन पाते,
ससारिजीव पुनि कर्म नये कमाते ।
यो बार-बार कर कर्म दुखी हुए है
वे कर्म बन्ध तज सिद्ध सुखी हुए है ॥६५९॥

दोहा

"तत्त्वदर्शन" यही रहा निजदर्शन का हेतु,
जिनदर्शन का सार है भवसागर के सेतु ॥

तृतीय खण्ड समाप्त

स्याद्वाद चतुर्थ खण्ड

३७ अनेकान्त सूत्र

जो विश्व के विविध कार्य हमे दिखाते,
भाई विना जिसके चल वे न पाते ।
नैकान्वाद वह है जगदेक स्वामी !
वन्दूँ उसे दिनय से शिव पन्थ गामी ॥६६०॥

आधार द्रव्य गुणका, इक द्रव्य का ही
आधार ले गुण लसे, शिव राह राही !
पर्याय द्रव्य, गुण आश्रित है कहाते,
ये वीर के वचन ना जड को सुहाते ॥६६१॥

पयार्य के बिन कही नहि द्रव्य पाता,
तो द्रव्य के विन न पर्यय भी सुहाता ।
उत्पाद-धौव्य-व्यय-लक्षण द्रव्य का है,
यो जान, लाभ द्रुत लूँ निज द्रव्य का है ॥६६२॥

उत्पाद भी न व्यय के बिन दीख पाता,
उत्पाद के बिन कहीं व्यय भी न भाता ।
उत्पाद और व्यय ना बिन धौव्य के हो,
विश्वास ईदृश न किन्तु अभव्य के हो ॥६६३॥

उत्पाद धौव्य व्यय हो इन पर्ययो मे,
हो द्रव्य मे नहि तथा उसके गुणो मे ।
पर्याय है नियत द्रव्य मयी, तभी है,
वे "द्रव्य" ही कह रहे गुरु यों सभी है ॥६६४॥

है एक ही समय में त्रय भाव होता,
उत्पाद ध्रौव्य व्यय धारक द्रव्य होता ।
तीनों अतः नियम द्रव्य पदार्थ में हैं,
योगी कहें इन स्वकीय पदार्थ में हैं ॥६६५॥

पर्याय एक नशती जब लौं यहाँ है,
तो दूसरी उपजती जब लौं यहाँ है ।
पै द्रव्य है ध्रुव त्रिकाल अबाध भाता,
ना जन्मता न मिटता यह शास्त्र गाता ॥६६६॥

पौरुष्य ना पुरुष में इक सार पाता,
ले जन्म से मरण लौं नहिं छोड़ जाता ।
वार्धक्य औ शिशु किशोर युवा दशायें,
पर्याय हैं जनमती मिटती सदा ये ॥६६७॥

पर्याय जो सदृश व्यंजन की सुहाती,
"सामान्य" नाम वह निश्चित धार पाती ।
पर्याय हो विसदृशा वह हो "विशेषा",
ये द्रव्य को तज नहीं रहती निमेषा ॥६६८॥

सामान्य और सविशेष द्विधर्मवाला,
हो द्रव्य, ज्ञान जिसको लखता सुचारा ।
सम्यक्त्व का वह सुसाधक बोध होता
मिथ्यात्व मित्र, आर्य मित्र ! कुबोध होता ॥६६९॥

हो एक ही पुरुष भानज तात भाई,
देता वही सुत किसी नय से दिखाई ।
पै भ्रात तात सुत औ सबका न होता,
है वस्तु धर्म इस भाँति अशांति खोता ॥६७०॥

जो निर्विकल्प-सविकल्प द्विधर्मवाला,
है शोभता नर मनो शशि हो उजाला ।
एकान्त से यदि उसे इक धर्मधारी,
जो मानता वह न आगम बोध धारी, ॥६७१॥

पर्याय नैक विधि यद्यपि हो तथापि,
भाई विभाजित उन्हे न करो कदापि ।
वे क्षीर नीर जब आपस मे मिलेगे,
औ "नीर" क्षीर" यह" यो फिर क्या कहेगे? ॥६७२॥

नि शक हो समय मे तज मान सारा,
स्याद्वाद का विनय से मुनि ले सहारा ।
भाषा द्विधाऽनुभय सत्य सदैव बोले,
निष्पक्ष भाव धर शास्त्र रहस्य खोले ॥६७३॥

३८ प्रमाण सूत्र

समोह-सभ्रम-ससशय-हीन प्यारा,
कल्याण खान वह ज्ञान प्रमाण प्याला ।
माना गया स्वपरभाव प्रभाव दर्शी,
साकार नैकनिध शाश्वत-सौख्य-स्पर्शी ॥६७४॥

सज्ज्ञान पंचविध ही मतिज्ञान प्यारा
दूजा श्रुतावधि-तृतीय सुधा-सुधारा ।
चौथा पुनीत मनपर्यय ज्ञान मानूँ,
है पॉचवा परम केवल ज्ञान-भानु ॥६७५॥

सज्ज्ञान पचविध ही गुरु गा रहे है,
ले के सहार जिसका शिव जा रहे है ।
सपूर्ण क्षायिक सुकेवल ज्ञान नामी,
चारो क्षयोपशमिका अवशेष स्वामी ॥६७६॥

ईहा, अपोह, मति, शोध, तथैव संज्ञा,
मीमांसा, मार्गण, गवेषण और प्रज्ञा।
ये सर्व ही अभिनिबोधिक ज्ञान भाई,
पूजा इन्हें बस यही जिन-शास्त्र गाई ॥६७७॥

आधार ले विषय का मति से जनाता-
जो अन्य अन्य, श्रुत ज्ञान वही कहाता।
या लिंग शब्दज तथा श्रुत दो विधा है,
होता नितान्त मतिपूर्वक ही सुधा है॥
है मुख्य शब्दज जिनागम में कहाता,
जो भी इसे उर धरे भव पार जाता ॥६७८॥

पांचे निमित्त मन इन्द्रिय का अधारी,
होता परस्त श्रुतज्ञान श्रुतानुसारी।
है आत्म तत्त्व परसम्मुख थापने में
स्वामी ! समर्थ श्रुत ही, मति जानने में ॥६७९॥

हो पूर्व में मति सदा श्रुत बाद में हो,
ना पूर्व में श्रुत कभी मति बाद में हो।
होती "पृ" धातु परिपूरण पालने में,
हो पूर्व में मति अतः श्रुत पूरणे में ॥६८०॥

सीमा बना, समय आदिक की सयाने।
रूपी पदार्थ भरको इकदेश जाने।
जो ख्यात भाव-गुण प्रत्यय से ससीमा,
माना गया अवधिज्ञान वही सुधीमान् ! ॥६८१॥

है चित्त चिंतित अचिंतित चिंतता है,
या सार्ध चिंतित नृलोकन में यहाँ है।
जो जानता बस उसे शिव सौख्य दाता
प्रत्यक्ष ज्ञान मन पर्यय नाम पाता ॥६८२॥

शुद्धेक औ सब, अनन्त विशेष आदि,
ये अर्थ है सकल केवल के अनादि ।
कैवल्य ज्ञान इन सर्व विशेषणो से,
शोभे अत भज उसे, बच दुर्गुणो से ॥६८३॥

जो एक साथ सहसा बिन रोक टोक,
है जानता सकल लोक तथा अलोक ।
''कैवल्य ज्ञान'' जिसको नहि जानता हो
ऐसा गतागत अनागत भाव[1] ना हो ॥६८४॥

---

१ भव शब्द को ही भाव शब्द बना कर छन्द को निर्दोष बनाने का प्रयास किया है अवधि ज्ञान ''भव प्रत्यय'' और ''गुण प्रत्यय'' दो प्रकार का होता है।

(आ) प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाण

वस्तुत्व नित्य अवरुद्ध अबाध भाता,
सम्यक्तया सहज ज्ञान उसे जनाता ।
होता प्रमाण वह ज्ञान अत सुधा है,
प्रत्यक्ष पावन परोक्षतया द्विधा है ॥६८५॥

ये धातु दो अशु तथा अश जो कहाती,
व्याप्त्यर्थ मे अशन मे क्रमश सुहाती ।
है अक्ष शब्द बनता सहसा इन्ही से,
ऐसा सदा समझ तू नहिं औ किसी से ॥६८६॥

है जीव अक्ष जग वैभव भोगता है,
सर्वार्थ मे सहज व्याप सुशोभता है ।
तो अक्ष से जनित ज्ञान वही कहाता,
''प्रत्यक्ष'' है त्रिविध आगम यो बताता ॥६८६॥

द्रव्येंद्रियाँ मनस पुद्गलभाव धारे,
है अक्ष से इसलिए अति भिन्न न्यारे ।
सजात ज्ञान इनसे वह ठीक वैसा,
होता परोक्ष बस लिगज ज्ञान जैसा ॥६८७॥

होंते परोक्ष मति औ श्रुत जीव के है,
औचित्य है परनिमित्तक क्योंकि वे है ।
किंवा अहो परनिमित्तक हो न कैसे ?
हो प्राप्त-अर्थ-स्मृति से अनुमान जैसे ॥६८८॥

होता परोक्ष श्रुत लिगज ही, महान,
प्रत्यक्ष हो अवधि आदिक तीन ज्ञान ।
स्वामी ! प्रसूत मति, इंद्रिय चित्र से जो,
"प्रत्यक्ष सव्यवहरा" उपचार से हो ॥६८९॥

३९ नय सूत्र

द्रव्यांश को विषय है अपना बनाता,
होता विकल्प श्रुत धारक का सुहाता ।
माना गया नय वही श्रुत भेद प्यारा,
ज्ञानी वही कि जिसने नय ज्ञान धारा ॥६९०॥

एकान्त को यदि पराजित है कराना,
भाई तुम्हे प्रथम है नयज्ञान पाना ।
स्याद्वाद बोध नय के बिन ना निहाला,
चाबी बिना नहि खुले गृह द्वारताला ॥६९१॥

ज्यो चाहता वृष बिना "जड" मोक्ष जाना,
किंवा तृषी जल बिना हि तृषा बुझाना ।
त्यो वस्तु को समझना नय के बिना ही,
है चाहता अबुध ही भवराह राही ॥६९२॥

तीर्थश का वचन सार द्विधा कहाता,
सामान्य आदिम द्वितीय विशेष भाता ।
दो द्रव्य पर्ययतया नय है उन्हीं के
ये ही यथा क्रम विवेचक भद्र दीखे ॥६९३॥

ये दोष भेद इनके नय शेष जो भी
तू जान ईदृश सदा तज लोभ लोभी ।
सामान्य को विषय है नय जो बनाता,
तो शून्य ही वह "विशेष" उसे दिखाता ।
जो जानता नय सदैव विशेष को है,
सामान्य शून्य दिखता सहसा उसे है ॥६९४॥

द्रव्यार्थिकी नय सदा इस भाति गाता,
है द्रव्य तो ध्रुव त्रिकाल अबाध भाता ।
पै द्रव्य है उदित होकर नष्ट होता,
पर्याय आर्थिक सदा इस भाँति रोता ॥६९५॥

द्रव्यार्थि के नयनमे सब द्रव्य आते,
पर्याय अर्थिवश पर्यय मात्र भाते ।
"एक्सरे" हमे हृदय अदर का दिखाती
तो 'कैमरा' शकल ऊपर की बताती ॥६९६॥

पर्याय गौण कर द्रव्यन को जनाता,
द्रव्यार्थिकी नय वही जग मे कहाता ।
जो द्रव्य गौण कर पर्यय को जनाता,
पर्यायआर्थिक वही यह शास्त्रगाता ॥६९७॥

जो शास्त्र मे कथित नैगम, सग्रहा रे ।
है व्यावहार, ऋजु सूत्र, सशब्द प्यारे ।
एवभुता, समभिरूढ उन्हीं द्वयो के,
है भेद मूल नय सात, विवाद रोके ॥६९८॥

द्रव्यार्थिकी सुनय आदिम तीन प्यारे,
पर्याय आर्थिक रहे अवशेष सारे ।
है चार आदिम पदार्थ प्रधान जानो,
है शेष तीन नय शब्द प्रधान जानो ॥६९९॥

सामान्य ज्ञान इतरोभयरूप ज्ञान,
प्रख्यात नेक विध है अनुमान, मान !
जाने इन्हे, सुनय नैगम है कहाता
मानो उसे "नयिक ज्ञान" अत सुहाता ॥७००॥

जो भूत कार्य इस साप्रत से जुडाना,
है भूत नैगम वही गुरु का बताना ।
वर्षों पुरा शिव गये युगवीर प्यारे,
माने तथापि हम "आज उषा" पधारे ॥७०१॥

प्रारभ कार्य भरको जन पूछने से,
"पूरा हुआ" कि कहना सहसा मजे से ।
ओ वर्तमान नय नैगम नाम पाता,
ज्यो पाक के समय ही बस भात भाता ॥७०२॥

होगा, अभी नहि हुवा फिर भी बताना,
लो ! कार्य पूरण हुवा रट यो लगाना ।
भावी सुनैगम यही समझो सुजाना,
जैसा उगा रवि न किन्तु उगा बताना ॥७०३॥

कोई विरोध बिन आपस मे प्रबुद्ध !
सत् रूप से सकल को गहते "विशुद्ध" ।
जात्येक भेद गहता उनमे "अशुद्ध",
यो है द्विधा सुनय सग्रह पूर्ण सिद्ध ॥७०४॥

सप्राप्त सग्रहतया द्विविधा पदार्थ-
जो है प्रभेद करता उसका यथार्थ ।
ओ व्यावहार नय भी द्विविधा, स्ववेदी ।
"शुद्धार्थ भेदक" अशुद्ध पदार्थ भेदी ॥७०५॥

जो द्रव्य मे ध्रुव नही पल आयुवाली,
पर्याय हो वियत मे बिजली निराली ।
जाने उसे कि ऋजु सूत्र सुसूक्ष्म भाता,
होता यथा क्षणिक शब्द सुनो सुहाता ॥७०६॥

देवादिपर्यय निजी स्थिति लौ सुहाता,
जो देवरूप उसको तबलौ जनाता ।
तू मान स्थूल ऋजू सूत्र वही कहाता,
ऐसा यहाँ "श्रमण सूत्र" हमे बताता ॥७०७॥

जो द्रव्य कथन है करता, बुलाता,
आह्वान शब्द वह है जग मे सुहाता ।
तत्-शब्द-अर्थ-भर को नय जो गहाता,
ओ हेतु सा "सुनय शब्द" अत कहाता ॥७०८॥

एकार्थ के वचन मे वच लिंग भेद,
है देख शब्दनय ही करताऽर्थ भेद
पुलिंग में व तियलिगन मे सुचारा,
ज्यो पुष्य शब्द बनता "नखक्षत्र" "तारा" ॥७०९॥

जो शब्द व्याकरण सिद्ध, सदा उसी मे,
होता तदर्थ अभिरूढ न औ किसी मे ।
स्वीकारना बस उसे उस शब्द द्वारा,
है मात्र शब्द नयका वह काम सारा ।
ज्यो देव शब्द सुन आशय "देव" लेना
भाई तदर्थ गहना तज शेष देना ॥७१०॥

प्रत्येक शब्द अभिरूढ स्वअर्थ में हो,
प्रत्येक अर्थ अभिरूढ स्वशब्द में हो
है मानता समभिरूढ सदैव ऐसे,
ये शब्द "इन्द्र" "पुरन्दर" शक्र जैसे ॥७११॥

शब्दार्थ रूप अभिरूढ पदार्थ "भूत"
शब्दार्थ से स्खलित अर्थ अतः "अभूत" ।
एवं भूता सुनय है इस भाँति गाता,
शब्दार्थ तत्पर विशेष अतः कहाता ॥७१२॥

जो जो क्रिया जब तदाश्रितया करे ओ ।
तब तब क्रिया गमक शब्द निरे निरे हो ।
एवभुता नय अतः उस शब्द का है,
सम्यक प्रयोग करता जब कामका है
जेसा सुसाधु रत साधन मे सही हो
स्तोता वही कर रहा स्तुति स्तुत्यकी हो ॥७१३॥

४० स्याद्वाद सप्त भंगी सूत्र

हो "मान" का विषय या नय का भले ही,
दोनो परस्पर अपेक्ष लिए हुए हो ।
सापेक्ष है विषय ओ तब ही कहाता,
हो अन्यथा कि इससे निरपेक्ष भाता ॥७१४॥

एकान्त का नियति का करता निषेध
हे सिद्ध शाश्वत निपाततया "अवेद"[1] ।
"स्यात्" शब्द है वह जिनागम मे कहाता,
सापेक्ष सिद्ध करता सबको सुहाता ॥७१५॥

---

१ अवेद - लिगातीत स्यात् शब्द अव्यय है

भाई प्रमाण-नय दुर्नय-भेद वाले,
है सप्त भग बनते क्रमवार न्यारे
''स्यात्'' की अपेक्ष रखते परमाण प्यारे।
शोभे नितान्त नय से नयभग सारे
सापेक्ष दुर्नय नही, निरपेक्ष होते,
एकान्त पक्ष रखते दुख को सँजोते ॥७१६॥

स्यादस्ति नास्ति उभयावक्तव्य चौथा,
भाई त्रिधा अवक्तव्य तथैव होता ।
यो सप्त भग लसते परमाण के है,
ऐसा कहे जिनप आलय ज्ञान के है ॥७१७॥

क्षेत्रादिरूप इन स्वीय चतुष्टयो से,
अस्तिस्वरूप सब द्रव्य युगो युगो से ।
क्षेत्रादिरूप परकीय चतुष्टयो से,
नास्तिस्वरूप प्रतिपादित साधुओ से ॥७१८॥

जो स्वीय और परचतुष्टय से सुहाती,
स्यादस्ति नास्तिमय वस्तु वही कहाती ।
और एक साथ कहते द्वय धर्म को है,
तो वस्तु हो अवक्तव्य प्रमाण सो है ॥
यो स्वीय स्वीय नय सग पदार्थ जानो,
तो सिद्ध हो अवक्तव्य त्रिभग मानो ॥७१९॥

एकैक भग मय ही सब-द्रव्य भाते,
एकान्त से सतत यो रट जो लगाते ।
वे सात भंग तब दुर्नय-भग होते,
स्यात् शब्द से सुनय से जब दूर होते ॥७२०॥

ज्यों वस्तु का पकड़ मे इकधर्म आता,
तो अन्यधर्म उसका स्वयमेव आता।
वे क्योंकि वस्तुगत धर्म, अतः लगाओ
"स्यात्" सप्तभंग सब मे झगड़ा मिटाओ ॥७२१॥

४१ समन्वय सूत्र

जो ज्ञान यद्यपि परोक्षतया जनाता,
नेकान्तरूप सबको फिर भी बनाता।
है संशयादिक प्रदोष विहीन साता,
नय ज्ञान मान "श्रुत ज्ञान" वही कराता ॥७२२॥

जो वस्तु के इक अपेक्षित धर्म द्वारा,
साधे सुकार्य जग के, नय ओ पुकारा।
ओ भेद भी नय वही श्रुत ज्ञान का है,
माना गया तनुज भी अनुमान का है ॥७२३॥

होते अनन्त गुण धर्म पदार्थ मे है,
पै एक ही हि चुनता नय ठीक से है।
ततकाल क्योंकि रहती उसकी अपेक्षा,
हो शेष गौण गुण, ना उनकी उपेक्षा ॥७२४॥

सापेक्ष ही सुनय हो सुख को संजोते,
माने गये कुनय है निरपेक्ष होते।
सपन्न हो सुनय से व्यवहार सारे,
नौका समान भव पार मुझे उतारे ॥७२५॥

ये वस्तुतः वचन है जितने सुहाते,
हे भव्य जान नय भी उतने हि पाते।
मिथ्या अत नय हटी कुपथप्रकाशी,
सोपक्ष सत्य नय मोह-निशा-विनाशी, ॥७२६॥

एकान्तपूर्ण कुनयाश्रित पथ का वे,
स्याद्वाद विज्ञ परिहार करे करावे ।
औ ख्याति लाभ वश जैन बना हटी हो,
ऐसा पराजित करो करो पुनि ना त्रुटी हो ॥७२७॥

सच्चे सभी नय निजी विषयो स्थलो मे,
झूठे परस्पर लडे निशि वासरो मे ।
"ये" सत्य" वे सब असत्य कभी अमानी,
ऐसा विभाजित उन्हे करते न ज्ञानी ॥७२८॥

ना वे मिले, यदि मिले तुम हो मिलाते,
सच्चे कभी कुनय पै बन है न पाते
ना वस्तु के गमक है उनमे न बोधि,
सर्वस्व नष्ट करते रिपु मे विरोधी ॥७२९॥

सारे विरूद्ध नय भी बन जायॆ अच्छे,
स्याद्वाद की शरण ले कहलायॅ सच्चे
पाती प्रजा बल प्रजापति छत्र में ज्यो
दोषी विदोष बनते मुनि सघ मे ज्यो ॥७३०॥

होते अनन्त गुण द्रव्यन मे सयाने,
द्रव्याशको अबुध पूरण द्रव्य माने
छू अग अग गज के प्रति अंगको ही,
ज्यो अध वे गज कहे, अयि भव्य मोही ॥७३१॥

सर्वागपूर्ण गज को दृग से जनाता,
तो सत्य ज्ञान गजका उसका कहाता
सपूर्ण द्रव्य लखता सब ही नयो से,
है सत्य ज्ञान उसका स्तुत साधुओ से ॥७३२॥

ससार मे अमित द्रव्य अकथ्य भाते,
श्रीवीर देव कहते मित कथ्य पाते
जो कथ्य का कथित भाग अनन्तवाँ है,
जो शास्त्र रूप वह भी बिखरा हुवा है ॥७३३॥

निन्दा तथापि नित जो पर के पदो की
शसा अतीव करते अपने मतो की
पाण्डित्य, पूजन यथार्थ दिखा रहे है
ससार को सघन और बना रहे है ॥७३४॥

ससार मे विविध कर्म प्रणालियाँ है,
ये जीव भी विविध औ उपलब्धियाँ है
भाई अत मत विवाद करो किसी से,
साधर्मि से, अनुज से, परसे, अरी से ॥७३५॥

हे भव्य जीव-मतिगम्य जिनेन्द्रवाणी,
पीयूष पूरित पुनीत-प्रशाति खानी
सापेक्ष पूर्ण नय आलय पूर्ण साता,
आसूर्य जीवित रहे जयवन्त माता ॥७३६॥

४२ निक्षेप सूत्र

कोई प्रयोजन रहे तब युक्तिसाथ
औचित्य पूर्ण पथ मे रखना पदार्थ
''निक्षेप'' है समय मे वह नाम पाता,
नामादि के वश चतुर्विध है कहाता ॥७३७॥

नाना स्वभाव अवधारक द्रव्य प्यारा,
जो ध्येय ज्ञेय बनता जिस भाव द्वारा ।
तद्भाव के वजह से इक द्रव्य के ही
ये चार भेद बनते सुन भव्य देही ! ॥७३८॥

ये ''नाम'' स्थापन'' व ''द्रव्य'' स्वभाव'' चारों,
निक्षेप है तुम इन्हे मन मे सुधारो ।
है नाम मात्र बस द्रव्यन की सुसज्ञा,
है नाम भी द्विविध ख्यात, कहे जिनज्ञा ॥७३९॥

आकार औ इतर ''स्थापन'' यों द्विधा है,
अर्हन्त बिम्ब कृत्रिमेतर आदिका है ।
आकार के बिन जिनेश्वर स्थापना को,
तू दूसरा समझ रे ! तज वासना को ॥७४०॥

जो द्रव्य को गत अनागत भाववाला,
स्वीकारता कर सुसाप्रत गौण सारा ।
निक्षेप ''द्रव्य'' वह आगम मे कहाता,
विश्वास मात्र उसमें बस भव्य लाता

निक्षेप द्रव्य, द्विविधा वह है कहाता,
नोआगमतया सहसा सुहाता ।
ना शास्त्रलीन रहता, जिनशास्त्र ज्ञाता
ओ द्रव्य आगम जिनेश तदा कहाता

नो आगमा त्रिविध "ज्ञायक देह" भावी"
औ "कर्म रूप" जिन यो कहते स्वभावी।
हे, भव्य तू समझ ज्ञायक भी त्रिधा है
जो भूत साप्रत भविष्यत या कहा है ॥
औ व्यक्त च्यावित तथा च्युत यो त्रिधा है
औ "भूत ज्ञायक" जिनागम मे लिखा है ॥

शास्त्रज्ञ की जडमयी उस देह को ही,
तद्रूप जो समझना अपि भव्य मोही
माना गया कि वह "ज्ञायक देह" भेद,
ऐसा जिनेश कहते जिनमे न खेद ॥
नीतिज्ञ के मृतक केवल देह को ले,
लो "नीति" ही मर चुकी जिस भाँति बोले

जो द्रव्य की कल दशा बन जाय कोई,
तद्रूप आज लखना उस द्रव्य को ही।
श्री वीर के समय में बस "भावि" सोही
राजा यथा समझना युवराज को ही

कर्मानुसार अथवा जग मान्यता ले,
रे, वस्तुका ग्रहण जो करले कराले।
है "कर्म भेद" वह निश्चित ही कहाता,
ऐसा "वसन्त तिलका" यह छन्द गाता ॥
देवायु कर्म जिसने बस बाध पाया,
ज्यो आज ही समझना यह "देव राया"
या पूर्ण कुम्भ कल दर्पण आदि भाते,
लोकोपचारवश मंगल ये कहाते ॥७४१-७४२॥

है द्रव्य सांप्रतदशामय यों बताता,
निक्षेप "भाव" वह आगम में कहाता।
ना आगमाऽऽगमतया वह भी द्विधा है

जो साधू आगति-अनागति कारणो को,
पीडा प्रमोद प्रद आस्रव-सवरो को ।
औजन्म को मरण को जिन के गुणो को,
त्रैलोक्य मे स्थित अशाश्वत शाश्वतो को,

औस्वर्ग को नरक को दुख निर्जरा को,
है जानते च्यवन को उपपादता को,
श्री मोक्ष पंथ प्रतिपादन कार्य मे है,
वे योग्य, वदन त्रिकाल करूँ उन्हे मै ॥७४५-७४८॥

वाणी सुभाषित सुधा, शुचि "वीर" की है
थी पूर्व प्राप्त न, अपूर्व अभी मिली है ।
क्यो मृत्यु से फिर डरूँ, तज सर्वग्रंथी,
मै हो गया जब प्रभो ! शिव-पथ-पथी ॥७४९॥

वीरस्तवन

सम्यक्त्व-बोध-व्रत पावन-झील न्यारे,
मेरे रहे शरण संयम शील सारे ।
लूँ वीर की शरण भी मम प्राण प्यारे
नौका समान भव पार मुझे उतारे ॥७५०॥

निर्ग्रन्थ हैं अभय धीर अनन्त ज्ञानी,
आत्मस्थ है अमल है कर आयु हानि ।
मूलोत्तरादिगुण धारक विश्वदर्शी,
विद्वान "वीर" जग मे जग चित्त हर्षी ॥७५१॥

सर्वज्ञ है अनियताचरणावलम्बी,
पाया भवाम्बुनिधि का तट स्वावलम्बी ।
है अग्नि से निशि नशा, स्वपर प्रकाशी,
है "वीर" धीर रवितेज अनतदर्शी ॥७५२॥

ऐरावता वर गजो हरि ज्यो मृगो मे,
गंगा नदी, गरुड श्रेष्ठ विहगमो मे ।
निर्वाणदि मनुजो, मुनि साधुओ मे,
त्यों "ज्ञातृपुत्र" वर "वीर" मुमुक्षुओं में ॥७५३॥

ज्यो श्रेष्ठ सत्य वचनो वच कर्णप्रीय,
दानों रहा "अभय दान" समर्च्यनीय ।
है ब्रह्मचर्य तप उत्तम सत्तपो मे,
त्यो "ज्ञातपुत्र" श्रमणेश धरातलो मे ॥७५४॥

है जन्मते कब कहाँ जग जीव सारे,
जानो जगद्गुरु ! तुम्ही जगदीश ! प्यारे ।
धाता पितामह चराचर मोदकारी,
हो ! लोक बन्धु भगवन् ! जय हो तुम्हारी ॥७५५॥

संसार के गुरु रहें जयवन्त नामी !
तीर्थेश अंतिम रहें जयवन्त स्वामी !
विज्ञान स्रोत जयवन्त रहे महात्मा,
ये "वीरदेव" जयवन्त रहें महात्मा ॥७५६॥

दोहा

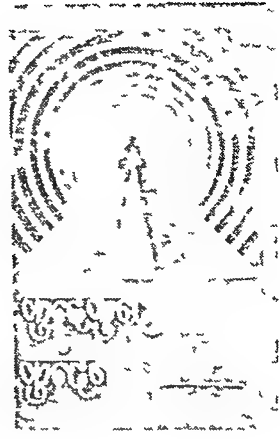
मेटे वादविवाद को निर्विवाद स्याद्वाद,
सब वादों को खुश करे पुनि पुनि कर संवाद ॥

चतुर्थ खण्ड समाप्त

भूल क्षम्य हो

दोहा

लेखक, कवि मै हूँ नही मुझ में कुछ नहिं ज्ञान,



कुंदकुद का कुदन

मूल समयसार (प्राकृत)

रचनाकार आचार्य कुदकुद स्वामी

पद्यानुवाद आचार्य विद्यासागर

गुरु स्मृति-स्तुति

वसन्ततिलका छन्द

मै आपको सदुपेदश सुधा न पीता,
जाती लिखी न मुझसे यह जैनगीता
दो ज्ञान सागर गुरो ! मुझको ''सुविद्या''
''विद्यादिसागर'' बनूँ तज दूँ अविद्या ॥२॥

मङ्गलकामना

दोहा

यही प्रार्थना ''वीर से'' अनुनय से कर जोर,
हरी भीर दिखती रहे धरती चारो ओर ॥३॥

मरहम पट्टी बाँध के वृण का कर उपचार,
ऐसा यदि ना बन सका, डंडा तो मत मार ॥४॥

फूल बिछाकर पन्थ मे पर प्रति बन अनुकूल,
शूल बिछाकर भूल से मत बन तू प्रतिकूल ॥५॥

तजो रजोगुण, साम्यको सजो, भजो निज धर्म,
शम मिले भव दुख मिटे, आशु मिटे वसु कर्म ॥६॥

स्थान एवं समय-परिचय

श्रीधर केवलि शिवगये-कुण्डगिरि से हर्ष,
धारा वर्षा योग उन-चरणन मे इस वर्ष ॥७॥

''बड़े बाबा'' बडी कृपा, की मुझपे आदीश !
पूर्ण हुई मम कामना पाकर जिन-आशीष ॥८॥

सग गगनगतिगध की भाद्रपदी सिततीज
पूर्ण हुवा यह ग्रन्थ है भुक्ति मुक्ति का बीज ॥९॥

मंगलाचरण

देव-शास्त्र-गुरु-स्तवन

"सन्मति" को मम नमन हो, मम मति सन्मति होय।
सुर नर पशु गति सब मिटे, गति पञ्चम गति होय ॥१॥

चन्दन चन्दर चाँदनी, से जिन धुनि अति शीत।
उसका सेवन मैं करूँ, मन-वच-तन कर नीत ॥२॥

सुर, सुर-गुरु तक, गुरु चरण-रज सर पर सुचढाय।
यह मुनि-मन गुरु भजन मे, निशि-दिन क्यो न लगाय? ॥३॥

श्री कुन्द-कुन्दाय नमः

"कुन्द-कुन्द" को नित नमूँ, हृदय-कुन्द खिल जाय।
परम सुगंधित महक में, जीवन मम घुल जाय ॥४॥

श्री जयसेनाचार्याय नमः

स्वीकृत हो मम नमन ये, जय जय जय "जयसेन"।
जैन बना अब जिन बनूँ, मन रटता दिन रैन ॥५॥

श्री ज्ञानसागराय नमः

तरणि "ज्ञानसागर" गुरो! तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर! करुणा करो कर से दो आशीष ॥६॥

प्रयोजन

समयसार का मै करूँ पद्यमयी अनुवाद ।
मात्र कामना मम रही, मोह मिटे परमाद ॥७॥

कुन्दकुन्द का कुन्दन

मै वन्दना कर उन्हें, शिवको पधारे,
जो सिद्ध है अतुल अव्यय सौख्य धारे ।
भाई ! वही समयसार सुनो सुनाता,
जो भद्रबाहु श्रुत-केवलि ने कहा था ॥१॥

जो शुद्धबोधव्रत दर्शन मे समाता,
होता निजी समय जीव वही सुहाता ।
रागादि का रसिक वो निजको भुलाया,
माना गया समय मे समया पराया ॥२॥

प्यारा यही समय है निजधर्म कर्ता,
एकत्व शाश्वत शुभाशुभ कर्म हर्ता ।
पै बन्धकी वह कथा दुखकारिणी है,
अच्छी लगे न मुझको भव-वर्धिणी है ॥३॥

है काम भोग विधिबन्धन की कथाये,
भोगी सुनी बहुत की पर ये व्यथाये ।
एकत्व की निज कथा सुखदा अकेली,
अत्यन्त दुर्लभ, करूँ उस-संग केली ॥४॥

स्वात्मानुभूति बल से तुमको दिखाता,
एकत्वरूप शुचि आतम जो सुहाता ।
भाई ! दिखा यदि सका उरमे सुधारो,
हो काश ! भूल इसमे छल हा ! न धारो ॥५॥

ना अप्रमत्त मम आतम ना प्रमत्त,
है शुद्ध, शुद्धनय से मद-मान-मुक्त ।
ज्ञाता वही, सकल ज्ञायक यो बताते,
वे साधु शुद्धनय आश्रय ले सुहाते ॥६॥

विज्ञान औ चरित दर्शन विज्ञ के हैं,
जाते कहे सकल ये व्यवहार से है ।
ज्ञानी परन्तु यह ज्ञायक शुद्ध प्यारा,
ऐसा नितान्त नय निश्चय ने निहारा ॥७॥

बोलो न आग्ल नर से यदि आंग्ल भाषा,
कैसे उसे सदुपदेश मिले प्रकाशा ?
सत्यार्थ को न व्यवहार बिना बताया,
जाता सुबोध शिशु में गुरु से जगाया ॥८॥

सिद्धान्त के मनन से जिसने निहारा,
शुद्धात्म को सहज से, तज राग सारा ।
है पूर्ण भावश्रुत केवलि वो निहाला,
ऐसे कहें ऋषि, करें जग में उजाला ॥९॥

जाना समस्त श्रुत को श्रुत-केवली है,
ऐसे महेश कहते जिन केवली हैं ।
औचित्य ज्ञानमय आतम है सदी से,
है वन्द्य द्रव्य श्रुत केवलि वो इसी से ॥१०॥

भूतार्थ शुद्धनय है निजको दिखाता,
भूतार्थ है न व्यवहार हमे भुलाता ।
भूतार्थ की शरण लेकर जीव होता,
सम्यक्त्व मंडित, वही मन मैल धोता ॥११॥

सौभाग्य ! बोध दृग की समुपासना हो,
चारित्र की बस निरन्तर साधना हो ।
तीनो अभिन्न गुण आतम के इसी से,
हो जा विलीन निज-आतम मे रुचि से ॥१२॥

शुद्धात्म की विमल निर्मल भावना को,
भाते सहर्ष ऋषि वे तज वासना को ।
पाते विमुक्ति भव से अघ को मिटाके,
सद्य निवास करते शिव-धाम जाके ॥१३॥

शुद्धात्म मे निरत हो जब सन्त त्यागी,
जीवे विशुद्ध नय आश्रय ले विरागी ।
शुद्धात्म से च्युत सराग चरित्र वाले,
भूले न 'लक्ष्य' व्यवहार अभी सभाले ॥१४॥

ये पुण्य पाप अरु जीव अजीव आदि,
होते पदार्थ नव मानत साम्यवादी ।
भूतार्थ से विदित हो जब ये पदार्थ,
सम्यक्त्व के विषय है 'दृग' है यथार्थ ॥१५॥

आत्मा अबद्ध नित शून्य उपाधियों से,
अत्यन्त भिन्न पर से विधि-बधनो से ।
ऐसा मुनीश्वर निजातम को निहारे,
वे ही 'विशुद्धनय' हैं जिन यो पुकारे ॥१६॥

आत्मा अबद्ध स्थिर शून्य उपाधियों से,
अत्यन्त भिन्न पर से विधिबन्धनो से ।
ऐसा निजात्म लखते मुनि अक्ष जेता,
सूत्रार्थ का कथक आगम-पूर्णवेत्ता ॥१७॥

विज्ञान मे चरण मे दृग सवरो मे,
औ प्रत्यरव्यानगुण मे लसता गुरो मै ।
शद्धात्म की परम पावन भावना का,
है पाक मात्र सुख है, दुख वासना का ॥१८॥

साधू चरित्र, दृग-बोध-समेत पाले,
आत्मा उन्हे समझ आतम गीत गा ले ।
ज्ञानी नितान्त निजमे निजको निहारे,
तो अन्त मे गुण अनन्त अवश्य धारे ॥१९॥

ज्यो निर्धनी धनिक की कर खोज पाता,
आस्था धनार्थ उसमे फिर है जमाता ।
ले मात्र एक धुन वो धन की सदैवा,
पश्चात् सहर्ष उसकी करता सुसेवा ॥२०॥

भाई ! इसी तरह आत्म गवेषणा हो,
श्रद्धा समेत उसको फिर देखना हो ।
चारित्र भी तदनुसार सुधारना हो,
ध्यातव्य ! मात्र मन मे शिव कामना हो ॥२१॥

हूँ कर्म देह मय ये मुझसे न न्यारे,
किंवा शरीर मम है वसु कर्म सारे ।
भाई सदैव रटता जड मूढ ऐसा,
दीखे उसे परम आतम गूढ कैसा ? ॥२२॥

साम्याभिभूत बन आतमलीन होना,
पा मोक्ष ईश बनना, बनना सलोना ।
स्वच्छन्द हो विषय मे मन को लगाना,
है कर्मबन्ध गहना-प्रभु का बताना ॥२३॥

आत्मा अशुद्धनय से हि विभाव कर्ता,
होता विशुद्ध नय से शुचि भाव कर्ता ।
मोहाभिभूत विविधो विधि बन्धनों का,
कर्ता अवश्य व्यवहारतया जडो का ॥२४॥

जो भी सचेतन अचेतन द्रव्य सारा,
ससार में लसरहा निज भाव द्वारा ।
मै हूँ रहा यह रहा यह ही यहाँ मैं,
मेरा रहा यह रहा इसका अहा मै ॥२५॥

मैं भी रहा विगत मे इसका यथा था,
मेरा रहा नियम से यह भी तथा था ।
मै भी नितान्त इसका यह भी बनेगा,
मेरा भविष्य भर मे क्रम यो चलेगा ॥२६॥

ऐसा सदैव पर को निज मान लेता,
होता तभी दुखित हो वह मूढ नेता ।
पै मूढता न करते मन-अक्षजेता,
वे धन्य-धन्य मुनि है निज तत्व-वेत्ता (त्रिकलम्) ॥२७॥

कर्मों जड़ात्मक तनो वचनो कुलों को,
रागादिको सुतसुतादिजनो धनो की ।
अज्ञान से भ्रमित हो 'अपने' बताता,
संसार को अबुध और अरे ! बढाता ॥२८॥

हे मित्र ! जीव उपयोगीमयी रहा है
सर्वज्ञ का सदुपदेश यही रहा है ।
तूही बता जड बना वह जीव कैसा ?
मेरा जिसे कह रहा बन अन्ध जैसा ॥२९॥

हो जाय जीव यदि पुद्गल द्रव्य भाई,
हो जाय पुद्गल सचेतन जीव स्थाई।
निशक हो कह सको जड है हमारा,
ऐसा परन्तु कब हो! प्रभु ने पुकारा (त्रिकलम्) ॥३०॥

मानो कि जीव यदि देहमयी नही है,
तो देव की सुगुरु की स्तुति ना सही है।
भाई अतः समझलो तन आतमा है,
ऐसा सदैव कहता बहिरातमा है ॥३१॥

है 'भिन्न' निश्चय-तया तन जीव मानो,
है एकमेक व्यवहारतया सुजानो।
हो दृष्टि मे यदि विराग अमूर्त-मा की,
होती शरीर स्तुति से स्तुति आत्मा की ॥३२॥

जीवात्म से पृथक् भूत शरीर को ही,
वे वंदनादि करके मुनि वीत-मोही।
है मानते नमित वदित केवली है,
बाह्योपचारवश ही हम से बली है ॥३३॥

होती शरीर स्तुति केवलिकी नही है ?
औचित्य देह गुण केवलि में नही है।
वीर्यादि अव्यय अनन्त अपूर्वधी की,
जो भी करे स्तुति वही स्तुति केवली की ॥३४॥

होता नही नगर वर्णन से कदापि,
भूपालका स्तवन जो बुध है प्रतापी।
तो देह का विषद् वर्णन तू करेगा,
कैसा भला स्तवन केवलि का बनेगा ? ॥३५॥

पूरा किया दमन इन्द्रिय काय का है,
देखा चखा स्वयं का रस बोध का है।
होता वही मुनि सही निज अक्षजेता,
ऐसा कहे जिन निजामृत के समेता ॥३६॥

समोह को शमित भी जिनने किया है,
आधार ज्ञान गुणका मुनि हो लिया है।
वे वीतराग जित मोह सुधी कहाते,
विज्ञान के रसिक यो हमको बताते ॥३७॥

जीता विमोह मुनिने, जिससे अभागा,
कोई पता नहि कहाँ कब मोह भागा
वो ही नितान्त मुनिपुगव क्षीण-मोही,
ऐसा जिनेश कहते तज मोह मोही ॥३८॥

मिथ्यात्व रागमय भाव विभाव सारे,
यो जान, ज्ञान इनको जडसे निकारे।
हो प्रत्यख्यान फलत निज 'ज्ञान' प्यारा,
मेरा उसे नमन हो शतकोटि बारा ॥३९॥

मेरी न वस्तु यह है जब जान लेता,
जैसा कि सज्जन उसे झट त्याग देता।
रागादि भाव पर है पर से न नाता,
ऐसा पिछान मुनि भी उनको हटाता ॥४०॥

मेरा न मोह परसे उपयोग मेरा,
ऐसा सदा समझता बस मै अकेला।
साधू उसे परम निर्मम है बताते,
शास्त्रानुसार निज जीवन है बिताते ॥४१॥

धर्मादि द्रव्य मम ना उपयोग मेरा,
जो जानता स्वयम को नित मै अकेला ।
वो धर्म आदि सब ज्ञेयन-का सुत्यागी,
ऐसा कहे समयविज्ञ सुधी विरागी ॥४२॥

हूं शुद्ध पूर्ण दृग बोधमयी सुधा से,
मै एक हूँ पृथक हूँ सबसे सदा से ।
मेरा न और कुछ है नित मै अरूपी,
मेरा नही जडमयी यह देह रूपी ॥४३॥

जीवाजीवाधिकार

सम्मोह से भ्रमित हैं जड मूर्ख नामी,
कर्त्तव्य मूढ कुछ है कुमतानुगामी ।
वे राग रोषमय भाव विभाव को ही,
स्वीकार 'जीव' तजते निज भाव को ही ॥४४॥

लो तीव्र मंद अनुभाव निबधनों को,
है 'जीवरूप', कहते कुछ हैं तनों को ।
संमोह का यह विपाक यथार्थ में है,
जो हो रहा भ्रम निजीय पदार्थ मे है ॥४५॥

कोई कहे, कि उदयागत कर्म को ही,
विज्ञान धारक सचेतन जीव सो ही ।
तो तीव्र मंद विधि के फल को 'निजात्मा'
है अन्य लोक कहते बनते दुरात्मा ॥४६॥

रे ! आठ काठ मिल खाट बनी यथा है,
पा कर्म योग यह जीव बना तथा है ।
या कर्म और उदयागत कर्म दो वे,
है जीव, मूढ इस भाँति सदैव रोवे ॥४७॥

मदातिमद मति-बाल, अनात्म को ही,
माने निजात्म सदा तज तत्त्व बोधि ।
ये सर्व मात्र भवकानन पथ पथी,
ऐसा कहे मुनि सुधी, तज ग्रथ ग्रथी (पंचकम्) ॥४८॥

ये पूर्व के कथित भाव विभाव सारे,
है मूर्त से उदित है जड के पिटारे ।
आश्चर्य 'जीव' फिर रे बन जाये कैसे ?
है केवली वचन ये गज-मोति जैसे ॥४९॥

सर्वज्ञ ये कह रहे जिन चित्स्वरूपी,
है कर्म अष्टविध पुद्गलरूप रूपी ।
आता यदा उदय मे बस कर्म वैरी,
दे दु ख मात्र फल हो, भव बीच फेरी ॥५०॥

जो राग रोषमय भाव तुझे दिखाते,
वे "जीव" मात्र व्यवहारतया कहाते ।
ऐसा सदा कह रही यह जैनवाणी,
पी, ले तृषा झट बुझा, अति शीत पानी ॥५१॥

है जा रही रभस से चतुरंग सेना,
भूपाल है चल रहा पर मान लेना ।
ऐसा सहर्ष व्यवहार स्वगीत गाता,
राजा यथार्थ वह यद्यपि एक जाता ॥५२॥

सयोग जन्य रति राग विभाव भावो,
को जीव मान चलती व्यवहारता वो ।
पूछो यथार्थ जिन आगम से, अकेला,
है जीव, बाह्य सब खेल झमेल मेला ॥५३॥

आत्मा सचेतन अरूप अगध प्यारा,
अव्यक्त है अरस और अशब्द न्यारा ।
आता नही पकड मे अनुमान द्वारा,
आकार से रहित है सुखका पिटारा ॥५४॥

लो जीव के सरस गंध नहीं है,
ये स्पर्श वर्ण गुण रूप सभी नहीं है ।
सस्थान सहनन सुन्दर है न काया,
आलोक धाम जिसमे तम है न छाया ॥५५॥

ये जीव के न रति राग यथार्थ मे है,
ना मोह विभ्रम विभाव पदार्थ मे है ।
नो-कर्म, कर्म अघ प्रत्यय भी नहीं है,
वंदूँ इसे बस यही शिव की मही है ॥५६॥

है जीव की न विधि वर्ग न वर्गणाएँ,
ना तीव्र मंद विधि स्पर्धक की कलाये ।
अध्यात्म और अनुभाग न थान हीन,
वन्दूँ उसे रह सकूँ निज मे विलीन ॥५७॥

ये योग थान नहिं आतम में दिखाते,
औ बन्ध-थान तक थान जहाँ न पाते ।
होते नहीं उदयथान न मार्गणाये,
शुद्धात्म को हम अत· शिर तो नवाये ॥५८॥

संक्लेश-थान स्थिति बन्धन थान दो, वे,
ना जीव के नहि सुसयम लब्धि होवे ।
ये शुद्धि थान तक आतम के नहीं है,
मै भी इसे विनत हूँ नत वे गणी है ॥५९॥

ये जीवथान गुणथान, न जीव के है
ये चूँकि सर्व जडरूप अजीव के है ।
चैतन्य धाम, जड से अति भिन्न न्यारा,
आराध्य जीव वह है मम है सहारा (षट्कम्) ॥६०॥

वर्णादि भाव इस आतम में लसे है,
माने गये सकल वे व्यवहार से है ।
आत्मा अमूर्त अजरामर निर्विकारा,
ऐसा नितान्त नय निश्चय ने निहारा ॥६१॥

वर्णादि सग रहता फिर भी निराला,
आत्मा सुशोभित रहा उपयोग वाला ।
लो क्षीर मे वह भले मिल जाय नीर,
पै नीर नीर रहता बस क्षीर, क्षीर ॥६२॥

कोई लुटा पथिक को लख के बिचारा,
मोही कहे पथ लुटा व्यवहार धारा ।
पै वस्तुत पथ कभी लुटता नही है,
देखा गया पथिक ही लुटता सही है ॥६३॥

देहादि का सुभग वर्ण, निहार, मानो,
लो 'जीव' सुन्दर सुदृश्य सुधा सुजानों ।
ऐसा पुनीत जिन शासन शस्य बोले,
भाई अवश्य व्यवहार रहस्य खोले ॥६४॥

सस्थान आदिक शरीर विकार सारे,
ये स्पर्श रूप रस गध गुणादि न्यारे ।
है जीव के पर सुनो व्यवहार से है ?
ऐसे कहे मुनि निजातम में बसे हैं (त्रिकलम्) ॥६५॥

औपादिकी परिणती बदवू निराली,
ससारिजीव भर मे दुख शील वाली ।
ससार मुक्त शुचि आतम में अकेली,
सच्चेतना महकती सुखदा चमेली ॥६६॥

वर्णादि निश्चयतया यदि जीव मे हो,
कैसे प्रभेद फिर जीव अजीव में हो ।
थोडा विचार कर तू तज भोग भाई,
भिन्नाति भिन्न जड जीव पडे दिखाई ॥६७॥

ससार मे स्थिति भले इस जीव की है,
सयोग जन्य वह चूकि अजीव की है ।
तादात्म्य जीव जड मे यदि मानते हो,
तो जीव मूर्त बनता नहि जानते हो ? ॥६८॥

हो जाय मूर्त जड जीव, अजीव होगे,
सिद्धत्व प्राप्त सब सिद्ध न जीव होगे ।
साम्राज्य मात्र जडका जग मे बनेगा,
ससार दुख फिर क्या शिव क्या रहेगा ? (युगल) ॥६९॥

पर्याप्त सूक्ष्म त्रस थावर बादरादि,
ये नाम कर्म प्रकृति विकलेंद्रियादि ।
ससारि-जीव बधता इनसे यदा है,
पूर्वोक्त नाम मिलते उसको तदा है ॥७०॥

रूपाभिभूत जड पुद्गल कर्म द्वारा,
ये जीव थान सब निर्मित है सुचारा ।
मानो उन्हें फिर सचेतन जीव कैसा ?
जो है असंभव, सुसभव होय कैसा ? (युग्मम्) ॥७१॥

पर्याप्त सूक्ष्म त्रस थावर बादरा ये,
है वस्तुत जडमयी तनकी दशाये ।
ससारिजीव इनमे तन पा बसे है ।
ये जीव है इसलिए उपचार से है ॥७२॥

हो मोह उदय मे गुण थान सारे,
माने गये परम आतम से निराले ।
जो है अचेतन निकेतन मूर्त भाई,
तो जीव होय किस भाँति अमूर्त थाई ॥७३॥

कर्तृकर्माधिकार

क्रोधादि आस्रव निरे मुझसे सदा से,
मै हूँ अभिन्न निज-बोधमयी सुधा से ।
ऐसा न मूढ जब लौ, वह जान पाता,
क्रोधाग्नि से स्वयम को तबलौ जलाता ॥७४॥

क्रोधाग्नि से यह कुधी जबलौ जलेगा,
तो कर्म का चयन भी तबलौं करेगा ।
है जीव की यह रही विधिबन्ध गाथा,
सर्वज्ञ का मत यही यह छद गाता (युग्म) ॥७५॥

रागात्म मे निहित अन्तर जान पाता,
ज्ञानी वही मुनि जिनागम मे कहाता ।
पाता न आस्रव नही विधिबन्ध नाता,
होता सामाधिरत है परको भुलाता ॥७६॥

दु खो अनात्म-मय-कार्मिक-आस्रवों को,
एकान्त से अशुचियो दुखकारणो को ।
अत्यत हेय लखके तजता विरागी,
ज्ञानी वही मुनि अत तज राग रागी ॥७७॥

मै एक शुद्ध नय से दृग बोध स्वामी,
हूँ शुद्ध बुद्ध अविरुद्ध अबद्धनामी ।
नीराग भाव करता निज लीन होऊँ,
शुद्धोपयोग बलसे विधि पक धोऊँ ॥७८॥

क्रोधादि कर्म मम आतम में बधे हैं,
ना है शरण्य ध्रुव वे मुझसे जुदे हैं ।
है दु ख, दुःख फलदायक जान ऐसा,
है छोडते मुनि इन्हें धर नग्न-भेषा ॥७९॥

आत्मा अशुद्धनय से परभाव कर्ता,
होता विशुद्ध नय से निजभाव कर्ता ।
धर्मानुराग तक को 'पर मान' ज्ञानी,
विश्रात हो स्वयम में बनते न मानी ॥८०॥

नोकर्म रूप जड पुद्गलकाय का भी,
मोहादिकर्म रतिराग विभाव का भी ।
कर्ता न आतम रहा, इस भाँति ज्ञानी,
हैं जानते हृदय से सुन सन्त वाणी ॥८१॥

जो भी अनेक विध है विधि आतमा में,
ज्ञानी उन्हे निरखते रत हो क्षमा में ।
वे साधु किन्तु न कभी पर रूप पाते,
स्वीकारते न पर को परमे न जाते ॥८२॥

निष्पाप आप अपने अपने गुणो को,
ज्ञानी सदैव लखते तज दुर्गुणों को ।
आधार ले न परका परमें न जाते,
वे साधु किन्तु न कभी पर रूप पाते ॥८३॥

ज्ञानी नितान्त सुख के दुख के दलोको,
है जानते जडमयी विधि के फलो को ।
वे साधु किन्तु न कभी पर रूप पाते,
स्वीकारते न परको पर मे न जाते ॥८४॥

विज्ञान-हीन जड पुद्गल भी सदा से,
होता सुशोभित नितान्त निजी दशा से ।
पै छोडके न जडता पर रूप पाता,
स्वीकारता न परको परमे न जाता ॥८५॥

हो जीवमे विकृत रागमयी दशाये.
तो कर्मरूप ढलती विधिवर्गणाये ।
मोहादि का उदय पाकर जीव होता,
रागादिमान फलत निज होश खोता ॥८६॥

कर्ता न जीव यह हो विधि के गुणो का,
कर्ता कभी न विधि चेतन के गुणो का ।
तो भी परस्पर निमित्त नहीं बनेगे,
तो 'राग भाव' 'विधिभाव' न जन्म लेगे ॥८७॥

भाई अतः समझ लो मनमे सुचारा,
कर्ता निजात्म, निजका निज भाव द्वारा ।
रूपादिमान जड पद्गल कर्म सारे,
आत्मा उन्हेंन करता जिन येंपुकारे (त्रिकलम्) ॥८८॥

आत्मा सुनिश्चित स्वभाव विभाव कर्त्ता,
भोक्ता स्वय स्वयमका निज शक्ति भर्त्ता ।
जैसा सुशान्त सर हो सर ही हिलोरा,
लेता, उठी लहर हो, जब वायु जोरा ॥८९॥

कर्त्ता तथापि व्यवहारतया जड़ो का,
भोक्ता सचेतन रहा विधि के फलों का ।
ऐसा न हो फिर हमे सुख क्यो न होता ?
ससार क्यो फिर भला दिन रैन रोता ॥९०॥

आत्मा उसी तरह पुद्गल कर्म को भी,
ज्यो वेदता व करता निज धर्म को भी ।
ऐसा कहो यदि अरे ! पुरुषार्थ जाता,
ससार का सृजक ईश्वर-वाद आता ॥९१॥

आत्मा, स्वभाव-पर पुद्गल भाव को ही,
हो एकमेक करता इक साथ सो ही ।
ऐसा सदैव कहता लघु-धी विकारी,
मिथ्यात्व मडित मुधा, द्विक्रियावधारी ॥९२॥

मिथ्यात्व मानमद मोह प्रलोभ द्वारा,
अज्ञान औ अविरती रतिराग सारा ।
ये है द्विधा जड़ सचेतन भेद द्वारा,
संसार मार्ग चलता इनसे असारा ॥९३॥

ज्यो मोह के उदय मे यह शीघ्र आत्मा,
रागादिभाव करता बनता दुरात्मा ।
त्यो मोहका उदय पा निजको भुलाता,
आनन्दस्वीय तजता सुख दु:ख पाता ॥९४॥

मिथ्यात्व से बन रही भव बीच फेरी,
अज्ञान औ अविरती त्रय योग वैरी ।
चारों अजीव जड पुद्गल-शील-वाले
औ चार जीवमय है, उपयोग वाले ॥९५॥

मोहाभिभूत उपयोग सुधार धरे अनादि,
निम्नोक्त तीन परिणाम करे प्रमादी ।
अज्ञान औ अविरती अरु दृष्टि मिथ्या,
पाया अत न अबलौ सुख सत्य नित्या ॥९६॥

लो वस्तुत शुचि निरजन आतमा है,
तो भी रहा त्रिविध मोहतया भ्रमा है ।
जैसा विभाव करता उपयोग भाता,
कर्त्ता उसी समय है उसका कहाता ॥९७॥

रागादिभाव कर जीव जभी सुहाता,
तत्काल पुद्गल स्वय विधि रूप पाता ।
आकाश में रवि लसे फिर होय वर्षा,
क्यो ना बने सुरधनू सहसा सहर्षा ? ॥९८॥

है अन्य रूप करता निजको विमोही,
औ आत्मरूप करता जड अन्य को ही ।
हा ! मूढ जीव विधि बन्धन को जुटाता,
धिक्कार कातप निरतर पीर पाता ॥९९॥

जो अन्य को निजमयी करता नही है,
औ आपको परमयी करता नही है ।
ज्ञानी वही मुनिवशी सुख बीज बोता,
ना कर्म बन्ध करता निज लीन होता ॥१००॥

मिथ्यादिरूप ढलता उपयोग गाता,
मै क्रोध हूँ सतत यो रट है लगाता ।
कर्त्ता अत वह निजी उस भावका है,
ज्ञाता नही विमल निर्मल भावका है ॥१०१॥

मिथ्यादि रूप ढलता उपयोग गाता ।
धर्मादि द्रव्यमय हूँ निज को भुलाता ।
कर्त्ता अत. वह निजी उस भाव का है,
ज्ञाता नहीं विमल निर्मल भाव का है ॥१०२॥

अज्ञान में भ्रमित हो पर को निजात्मा,
शुद्धात्म को परमयी करता दुरात्मा ।
घोरान्धकार चहुँ ओर घनी निशा मे,
औचित्य ! पैर पड़ते उल्टी दिशा मे ॥१०३॥

आत्मा सुनिश्चित निजीय विभाव कर्त्ता,
आत्मज्ञ है कह रहे पर भाव हर्त्ता ।
ऐसा रहस्य सुन के मुनि अप्रमादी,
कर्तृत्त्व भाव तजते, भजते समाधि ॥१०४॥

कर्त्ता कुम्हार घटका व्यवहार से है,
वो क्योकि निश्चित सहायक बाह्य से है ।
होता उसी तरह जीव निमित्त कर्त्ता,
नोकर्म कर्म मनका, निज शक्ति-भर्त्ता ॥१०५॥

मानो कुम्हार घट निश्चय से बनाता,
क्यो कुम्भ रूप ढल तन्मय हो न पाता ।
कर्तृ स्वकार्य घटकी मृतिका अत है,
कर्त्ता निजातम रहा निजका स्वतः है ॥१०६॥

कर्त्ता नही जड अचेतन वस्तुओ का,
आत्मा निमित्त तक भी न घटादिको का ।
योगोपयोग जिनमे कि निमित्त होते,
योगादिको कर कुधी जड सत्य खोते ॥१०७॥

निस्सारभूत जड पुद्‌गल भाव धारे,
ये ज्ञान-आवरण आदिक-कर्म सारे ।
आत्मा इन्हे न करता इस भाँति योगी,
ज्ञानी सदा समझते, तज भोग भोगी ॥१०८॥

आत्मा शुभाशुभ विभाव जभी करेगा,
कर्त्ता तभी नियम से उसका बनेगा ।
यो बार बार कर कर्म कुधी सरागी,
है भोगता दुख कभी सुख, दोष भागी ॥१०९॥

जो द्रव्य आप अपने-अपने गुणो मे,
होता न सक्रमित है पर के गुणो मे ।
वो अन्य को परिणमा सकता हि कैसे ?
अन्धा भला पथ दिखा सकता हि कैसे ? ॥११०॥

तादात्म्य धार निज द्रव्य निजीगुणो से,
आत्मा उन्हे कर रहा कि, युगों युगो से ।
पाया सुयोग विधि पुद्‌गल का तथापि,
स्वामी न आतम बना, विधि का कदापि ॥१११॥

अज्ञानिका विकृत भाव निमित्त होता,
तो आप पुद्‌गल अहो ! विधिरूप होता ।
जीवात्म ने विविध कर्म किये इसी से,
माना अवश्य उपचार किया खुशी से ॥११२॥

लो युद्ध यद्यपि सुसैनिकने किया है,
लोकोपचार वह भूपति ने किया है ।
दुष्टाष्ट कर्म दलको जडने बनाया,
पै मानना विकृत आतमने बनाया ॥११३॥

राजा, गुणी अवगुणी करता प्रजा को,
यो पूर्ण सत्य व्यवहार, नहीं मजा-को ।
आत्मा करे विधिमयी जडद्रव्य को है,
ऐसा न मान्य व्यवहार, अभव्य को है ॥११४॥

स्वीकारता परिणमा करता कराता,
आत्मा स्वबध पर पुद्गल को उगाता ।
ऐसा नितान्त व्यवहार सुबोलता है,
जो भव्य के सहज लोचन खोलता है ॥११५॥

सामान्य से चउविधा विधिबन्ध कर्त्ता,
निम्नोक्त है दुखद है शुचि-भाव-हर्त्ता ।
मिथ्यात्व औ अविरती कुकषाय योग,
ज्यो ये मिटे नियम से भवका वियोग ॥११६॥

मिथ्यात्त्व लेकर सुयोगि सुकेवली लो,
ये है विभेद उनके दस तीन भी लो
ये दीन जीव गुणथानन, मे पडे है,
स्वाधीन सिद्ध सब वे इनसे परे है ॥११७॥

मिथ्यात्त्व आदि गुण पुद्गल से बने है,
सारे अचेतन निकेतन ही तने है ।
ये कर्म को कर रहे यदि हो तथापि,
आत्मा न भोग सकता उनको कदापि ॥११८॥

निर्भ्रान्त ! प्रत्यय सभी गुण-नाम वाले,
दुष्टाष्ट कर्म करते मनको विदारे ।
ज्ञाता विशुद्ध नयसे,, निजधर्म धर्ता,
कर्तानआतमरहागुण, कर्म-कर्त्ता (चुतष्क) ॥११९॥

है जीव से समुपयोग अभिन्न जैसा,
है क्रोध भी यदि त्रिकाल अभिन्न वैसा ।
तो एक-मेक सब जीव अजीव होगे,
ये बध मोक्ष फिर तो सब साफ होगे ॥१२०॥

हो क्रोध आत्ममय ज्यो उपयोग भाता,
आत्मा अनात्म जड मे ढल पूर्ण जाता ।
नोकर्म कर्म तक प्रत्यय आदि सारा,
आत्मीय हो फिर नही भव का किनारा ॥१२१॥

पूर्वोक्त दोष भय से यदि मित्र मानो,
है क्रोध भिन्न निज आतम भिन्न मानो ।
बाधा रही न फिर तो अति भिन्न न्यारे,
शुद्धात्मसेजडमयीविधिकायसारे(त्रिकलम्) ॥१२२॥

जो जीव मे जड बँधा न स्वय बँधा है,
वो कर्म रूप ढलता न स्वय सदा है ।
ऐसा त्वदीय मनका यदि भाव होगा,
तो मित्र पुद्गल नही परिणामि होगा ॥१२३॥

किवा स्वय न ढलती विधि वर्गणाये,
कर्मत्व मे सहज पुद्गल की घटाये ।
साम्राज्य सांख्य मतका फिर तो चलेगा,
ससार का फिर पता रह ना सकेगा ॥१२४॥

आत्मा स्वय परिणमाकर पुद्गलो को,
देता बना विधि, मनो ! विधि शक्तियो को ।
आश्चर्य है ! जड नही परिणामि वैसे !!
आत्मा उन्हे परिणमा सकता हि कैसे ? ॥१२५॥

है कर्म-रूप ढलता जड द्रव्य आप,
हो मानते यदि यहाँ इस भाँति आप ।
आत्मा स्वय विधिमयी जड़को बनाता,
यो मानना फिर असत्य न सत्य भाता ॥१२६॥

निष्कर्ष चूँकि निकला विधि वर्गणाये,
है कर्म रूप ढलती जड शक्तियाँ ये ।
है अष्टकर्म सब पुद्गल शील वाले,
विश्वास ईदृश अत. मन मे जमाले ॥१२७॥

आत्मा स्वय यदि नही विधि से बँधा है,
क्रोधाभिभूत यदि हो न स्वय सदा है ।
तू मानता इस विधि कर बोध आत्मा,
तो क्यो न हो अपरिणामि त्वदीय आत्मा ॥१२८॥

किवा मनो अपरिणामि त्वदीय आत्मा,
क्रोधाभिभूत यदि हो न स्वय दुरात्मा ।
संसार का फिर पता चल ना सकेगा,
साम्राज्य साख्य मतका सहसा चलेगा ॥१२९॥

मानो कि क्रोध खुद, पुद्गल जो सुहाता,
क्रोधाभिभूत यदि आतम को बनता ।
आत्मा रहा अरिणामि तथापि कैसा ?
क्रोधी उसे कि, वह क्रोध बनाय कैसा ? ॥१३०॥

क्रोधाभिभूत बनता बस आत्म आप,
हो मानते यदि यहाँ इस भाँति आप ।
तो क्रोध, क्रोधमय-आतम को बनाता ।
यों मानना फिर असत्य न सत्य गाथा ॥१३१॥

आत्मा करे जब प्रलोभ तभी प्रलोभी,
मानी तभी जब करे अघ मानको भी ।
मायाभिभूत बनता कर निद्य माया,
क्रोधी बने करत क्रोध स्वको भुलाया ॥१३२॥

हो अन्तरग बहिरग निसग नगा,
जो लीन आत्मरति मे बनके अनगा ।
साधू निसग रह निश्चय से कहाता,
ऐसा कहे सब पदार्थ यथार्थ ज्ञाता ॥१३३॥

सम्मोह को शमित भी जिनने किया है ?
आधार ज्ञान-गुणका मुनि हो लिया है ।
वे वीतराग निज मोह सुधी कहाते,
विज्ञान के रसिक यो हमको बताते ॥१३४॥

शुद्धोपयोग भजते तज सर्व भोग,
धर्मानुराग तक त्याग शुभोपयोग ।
वे है सुधी मुनि पराश्रित धर्मत्यागी,
ऐसा कहे गणधरादिक वीतरागी ॥१३५॥

आत्मा स्वय हृदय मे कुछ भाव लाता,
कर्त्ता उसी समय वो उसका कहाता ।
हो ज्ञान-भाव मुनि मे अपरिग्रही मे,
अज्ञान भाव जु गृहस्थ परिग्रही मे ॥१३६॥

है ज्ञान भाव करता मुनि अप्रमादी,
तो कर्म से न बँधता लखता समाधि ।
अज्ञान भाव कर नित्य गृही प्रमादी,
है कर्म जाल फसता मति को मिटादी ॥१३७॥

लो ! ज्ञान से उदित ज्ञान नितान्त होता,
है साधु बीज सम ही फल चूंकि होता ।
हो वीतराग मुनि जो कुछ ध्यान ध्याता,
वो सर्व ज्ञानमय ही, विधि को मिटाता ॥१३८॥

उत्पन्न मात्र भ्रम से भ्रमभाव होता,
औचित्य कारण समा बस कार्य होता ।
अज्ञानि-जीव मन मे कुछ भी विचारे ?
अज्ञान से भरितभाव नितान्त पाले ॥१३९॥

लो ! स्वर्ण के मुकुट कुण्डल ही बनेगे,
अच्छे किसे नहिं लगे मनको हरेगे ।
विज्ञानि के विमल भाव रहे रहेगे,
वे पूर्व के समल कर्म हरे हरेगे ॥१४०॥

लो ! लोह, लोहमय आयुध का विधाता,
देखो जिन्हे कि भय से मन कॉंप जाता ।
अज्ञानि मे तरल राग तरंग माला,
देती उसे दुख पिलाकर पाप हाला ॥१४१॥

अज्ञान का उदय आतम मे जभी हो ।
है आत्म ज्ञान मिटता, उलटा सभी हो ।
मिथ्यात्व के उदय मे पर को निजात्मा,
है मान भूल करता, बनता दुरात्मा ॥१४२॥

आत्मा स्वयं जब असयम से घिरेगा,
स्वच्छन्द हो विषय सेवन ही करेगा ।
कालुष्य की सघन कालिख से लिपेगा-
आत्मा, कषायमय दीपक ज्यों जलेगा ॥१४३॥

आत्मा स्वय तब तरगित हो हिलोरा-
लेता, चले जब शुभा-शुभ योग जोरा ।
हो तीव्र या पवन मद जभी चलेगी,
भाई अवश्य सरमे लहरे उठेगी ॥१४४॥

पूर्वोक्त रूप घटना घटती जभी से,
तो वर्गणा विधिमयी विधि हो तभी से ।
है अष्ट कर्म बॅधते इस जीव से हैं,
देते अतीव दुख है कटुनीम से है ॥१४५॥

ये ही यदा उदय मे वसु कर्म आते,
तो जीव की विकृति मे पड़ हेतु जाते ।
ससार की प्रगति औ गति हो चलेगी,
मेटेइन्हेमुनि जिन्हेमुकती मिलेगी (पञ्चकम्) ।१४६।

रागादि ये विकृत चेतन की दशाये,
मोहादि के उदय मे दुख आपदाये ।
पै जीव कर्म मिलके यदि राग होगा,
तो कर्म चेतन, अचेतन जीव होगा ॥१४७॥

मोहादिका उदय पाकर जीव रागी,
होता स्वय नहि कभी कहते विरागी ।
धूली बिना जल कलकित क्या बनेगा ?
क्या अग्नि योग बिन नीर कभी जलेगा ? ॥१४८॥

लो ! जीव सग यदि पुद्गल वर्गणाये,
है कर्म रूप ढलती दुख आपदाये ।
दोनो नितान्त तब पुद्गल ही बनेगे,
आकाश फूल भव औ शिव भी बनेंगे ॥१४९॥

रागादि भाव करता जड जीव ज्योंही,
हे कर्म रूप ढलते जड द्रव्य त्यो ही ।
रागादि से पृथक पुद्गल है इसी से,
ऐसा समाधिरत साधु लखे रुची से ॥१५०॥

गाता विशुद्धनय जीव सदा जुदा है,
दुष्टाष्ट कर्म दलसे न कभी बँधा हे ।
ससारिजीव विधि से बँधता बँधा था,
यो भावभीनि स्वर मे व्यवहार गाता ॥१५१॥

है पक्षपात यह तो नय नीति सारी,
है निर्विकार यह आतम या विकारी ।
वे वस्तुत. समयसार बने लसे है,
जो साधु ऊपर उठे नय पक्ष से हैं ॥१५२॥

सर्वज्ञ ज्यो समयसारमयी बने है,
साक्षी बने सहज दो नयके तने है ।
त्यो साधु भी न बनता नय पक्षपाती,
हो आत्मलीन तजता पररीति-जाति ॥१५३॥

संसार मे समयसार सुधा सुधारा,
लेता प्रमाण नय का न कभी सहारा ।
होता वही दृगमयी व्रत बोध धाम,
मेरे उसे विनय से शतश प्रणाम ॥१५४॥

पुण्यपापाधिकार

मोही कहे कि शुभ भाव सुशील प्यारा,
खोटा बुरा अशुभभाव कुशील खारा ।
ससार के जलधि मे जब जो गिराता,
कैसे सुशील शुभ भाव ! मुझे न भाता ॥१५५॥

दो बेडियाँ कनक की इक लोह की है,
ज्यों एकसी पुरुष को कस बाँधती है ।
लो कर्म भी अशुभ या शुभ क्यो न होवे,
त्यो बाँधते नियम से जड जीव की वे ॥१५६॥

दोनों शुभाशुभ कुशील, कुशील त्यागो,
ससर्ग राग इनका तज नित्य जागो ।
ससर्ग राग इनका यदि जो रखेगा,
स्वाधीनता विनशती, दुख ही सहेगा ॥१५७॥

सरक्षणार्थ निजको लख तस्करो को,
जैसा यहाँ मनुज सज्जन, दुर्जनो को ।
ससर्ग राग उनका, झट छोड देता,
देता न साथ, उनसे मुख मोड लेता ॥१५८॥

वैसा हि दु ख सुखदो अशभो शभो को,
कर्मों असार जड-पुद्गल के फलो को ।
शुद्धात्म में निरत साधु विसारते है,
सानन्द वे समय-सार निहारते है ॥१५९॥

जो राग मे रँगरहा वसुकर्म पाता,
योगी विराग भवमुक्त बने प्रमाता ।
ऐसा जिनेश कहते शिव है विधाता,
रागी ! विराग बन क्यो रति गीत गाता ॥१६०॥

ये केवली समय औ मुनि शुद्ध ध्यानी,
एकार्थ के वचन है परमार्थ ज्ञानी ।
साधू स्वभाव रत वे निज धाम जाते,
आते न लौट भव बीच विराम पाते ॥१६१॥

आतापनादि तपसे तनको तपाना,
अध्यात्म से स्खलित हो व्रत को निभाना ।
हे सन्त बाल तप सयम वो कहाता,
ऐसा जिनेश कहते भव मे घुमाता ॥१६२॥

लो ! अज्ञ साधु यम सयम शील धारी,
शास्त्रानुसार करता तप धीर भारी ।
मानो न लीन परमार्थ समाधि मे है,
पाता न पार दुख पाय भवाब्धि मे है ॥१६३॥

साधू समाधि-च्युत मूढ यथार्थ मे है,
दूरातिदूर परमार्थ पदार्थ से है ।
संसार हेतु शिव हेतु न जानते है,
वे पुण्य को इसीलिए बस चाहते है ॥१६४॥

तत्त्वार्थ की रुचि सुदर्शन नाम पाता,
औ तत्व को समझना वह ज्ञान साता ।
रागादि त्याग करना वह व्रत्त होता,
तीनो मिले बस वही शिव पन्थ होता ॥१६५॥

ज्ञानी कभी न भजते व्यवहार व्याधि,
होनिर्विकल्प, तजते न सुधी समाधि ।
होते विलीन परमार्थ पदार्थ मे है,
काटे कुकर्म बस साधु यथार्थ में है ॥१६६॥

ज्यों वस्त्रपे चिपकती मल-धूल-माती,
तो वस्त्र की धवलता मिट क्या न जाती ?
मिथ्यात्व की मलिनता मुझको न भाती,
सम्यक्त्व की उजलता शुचिता मिटाती ॥१६७॥

ज्यो वस्त्रपे चिपकती मल-धूल-माती,
तो वस्त्र की धवलता मिट क्या न जाती ?
अज्ञान की मलिनता चिपकी जभी से,
विज्ञान की उजलता मिटती तभी से ॥१६८॥

ज्यो वस्त्रपे चिपकती मलधूल-माती,
तो वस्त्र की धवलता मिट क्या न जाती ?
काषायिकी मलिनता लगती जभी से,
चारित्र की उजलता मिटती तभी से ॥१६९॥

आत्मा विशुद्ध-नयसे निज भाव स्पर्शी,
होगा भले सकलविज्ञ त्रिकाल दर्शी ।
पै वर्त्तमान ! विधिसे कस के बँधा है,
है जानता न कुछ भी समझो मुधा है ॥१७०॥

सम्यक्त्व का यदि जग मे विरोधी,
मिथ्यात्व है, कह रहे जिन, धार बोधि ।
मिथ्यात्व के उदय मे यह जीव होता,
मोही कुदृष्टि, दुख से दिन रैन रोता ॥१७१॥

आलोक का तम विरोधक ज्यो बताया,
अज्ञान ज्ञान गुण का जिन देव राया ।
अज्ञान के उदय मे यह जीव होता,
कर्त्तव्य मूढ फिरता भव बीच रोता ॥१७२॥

चारित्र का रिपु कषाय, कषाय-त्यागी,
ऐसा जिनेश कहते, प्रभु-वीतरागी ।
दु:खात्मिका उदय में कुकषाय आती,
तो जीवको चरितहीन बना, सताती ॥१७३॥

आस्रवाधिकार

मिथ्यात्व औ अविरती कुकषाय योग,
ये है अचेतन सचेतन से द्वियोग ।
सयोग रूप जड है पुनि आत्म रूप,
होते अनेक विध है अघ दु:ख कूप ॥१७४॥

सयोग रूप जड प्रत्यय हेतु होते,
दुष्टाष्ट कर्म दलके दुख बीज बोते
रागादिमान उनके पुनि हेतु होते,
होते तभी नित दुखी जग जीव रोते ॥१७५॥

ना कर्म बध करता समदृष्टि होता,
पै रोक आस्रव, सुसवर तत्त्व जोता ।
प्राचीन बंध भरको बस जानता है,
पूजूँ उसे झट तजूँ अभिमानता मै ॥१७६॥

ज्यो जीव राग करता निज भूल जाता,
तो कर्म बध करता प्रतिकूल जाता ।
जो राग से मुनिसुधी मन मोड लेता,
होता अबध भव बधन तोड देता ॥१७७॥

आ, जारहा उदय मे फल दे तथापि,
वो ही पुन: करम ना बँधता कदापि ।
ज्यों वृक्ष से फल पका गिरता महीपे,
जाके पुन: वह वहीं लगता नहीं पे ॥१७८॥

रागादिरूप उपयोग ढला नही है,
ज्ञानी तभी निरखता विधिको सही है ।
अज्ञान से कुछ बँधे विधि हो पुराणे,
दीवार पे चिपकती रज के प्रमाणे ॥१७९॥

प्रत्येक काल चउप्रत्यय कर्म-भारा,
बाँधे सरागमय-दर्शन-बोध द्वारा ।
ज्ञानी अत न बँधता विधि बधनो से,
होता विभूषित सदा मुनि सद्‌गुणो से ॥१८०॥

ना निर्विकल्प, सविकल्पक हो तना है,
वो ज्ञान-ज्ञान नहि रागमयी बना है ।
है बार-बार वह ज्ञान कुकर्म लाता,
स्वामी ! नही परम पूरण व्रत्त पाता ॥१८१॥

सम्यक्त्व बोध व्रत ये जबलौं न पूरे,
होते सराग फलत रहते अधूरे ।
ज्ञानी नितान्त तबलौ विधिबध बाँधे,
साधे न मोक्ष निजको न लखे अराधे ॥१८२॥

बाँधे हुए विगत मे विधि बंध सारे,
सम्यक्त्व युक्त मुनि मे रहते विचारे ।
आते यदा उदय मे यदि राग होता,
होता नवीन विधि बधन, साम्य खोता ॥१८३॥

जैसी यहाँ नव लता सम सौम्य बाला,
होती युवा पुरुष की नहिं भोग शाला ।
ज्यो ही वही मद भरे कुचधार पाती,
भोग्या, बनी पुरुष के मनेको चुराती ॥१८४॥

वे सुप्त गुप्त विधि भी नहि भोग्य होते,
आते सदा उदय मे फिर भोग्य होते ।
रागादि, जीवकृत-भाव निमित्त पाते,
सप्ताष्ट भेद मय कर्म तभी बनाते ॥१८५॥

शुद्धोपयोग बलसे समदृष्टि योगी,
होता न बधक अत., तज भोग भोगी ।
औचित्य आस्रव विना विधिबध कैसा ?
हो जाय कारण विना फिर कार्य कैसा ? ॥१८६॥

योगी विराग समदृष्टि वही सही है,
समोह रोष रति ये जिसमे नही है ।
रागादि आस्रव बिना, विधि बध हेतु,
होते न प्रत्यय कभी यह जान रे तू ॥१८७॥

सिद्धान्त मे कथित प्रत्यय चार होते,
दुष्टाष्ट कर्म जिस कारण बध होते ।
रागादि हेतु बनते चउ प्रत्ययो के,
रागादिका विलय ही विधि-बध रोके ॥१८८॥

जैसा यहाँ उदर के अनलानुसार,
औ क्षेत्र आयु निजकाय बलानुसार ।
खाया हुआ अशन मांसवसादिकों में,
कालानुसार ढलता तन-धातुओ मे ॥१८९॥

वैसा अनेक विधि पुद्गल प्रत्ययो मे,
ज्ञानी बँधा विगत में विधिबंधनो से ।
हो ! कर्म-बन्ध, परसे मन जोडता है,
आधार शुद्धनयका जब छोडता है ॥१९०॥

संवराधिकार

शुद्धात्म मे नियम से उपयोग भाता
क्रोधादि मे न उपयोग कभी सुहाता ।
वो क्रोध, क्रोध भर मे उपयोग मे ना,
हे ! भव्य क्रोध अब तो बस छोड देना ॥१९१॥

चैतन्य धाम उपयोग निरा निहाला,
नोकर्म कर्म जिसमे न सदा उजाला ।
नोकर्म कर्म जड पुद्गल का पिटारा,
होता कभी न उसमे, उपयोग प्यारा ॥१९२॥

ऐसा जिसे अविपरीत विबोध होता,
सारी प्रवृत्ति तजता, मन मैल धोता ।
शुद्धोपयोग सर मे डुबकी लगाता,
योगी वही, नित उसे शिर मै नॅवाता ॥१९३॥

भारी तपा कनक यद्यपि हो तथापि,
भाई नहीं कनकता तजता कदापि ।
त्यो कर्म के उदय मे तप साधु जाता,
पै साधुता न तजता, सुख आशु पाता ॥१९४॥

ज्ञानी सहर्ष शुचि जीवन नित्य जीता,
शुद्धोपयोग-पयको भर-पेट पीता ।
रागी, सराग-निजको लखता रहेगा,
अज्ञान-रूपतम मे भटका फिरेगा ॥१९५॥

साधू समाधिरत हो निजको विशुद्ध,
जाने, बने सहज शुद्ध अबद्ध बुद्ध ।
रागी स्वको समझ रागमयी बिचारा,
अज्ञान के तिमिर मे निजको बिसारा ।
होता न मुक्त भव से दुख हो अपारा ॥१९६॥

जो आपको सब शुभाशुभ वृत्तियो से,
पूरा बचाकर सुखासुख साधनो से ।
सम्यक्त्व बोधव्रत मे रुचि से लगाता,
है त्याग राग परका, निज गीत गाता ॥१९७॥

वो सर्व सग तज के मुनि हो इसी से,
जाने नितान्त निज मे निजको निजी से ।
एकत्व की वह छटा मनको लुभाती,
नोकर्म, कर्म तक को सबको भुलाती ॥१९८॥

ऐसा निरन्तर निजातम-तत्त्व ध्यानी,
सम्यक्त्व बोध व्रत में रत साधु ज्ञानी ।
हो, कर्म-मुक्त गुणयुक्त सदा लसेगा,
लोकाग्र मे स्थित शिवालय मे बसेगा ॥१९९॥

शिल्पादि लेख लख के जिस भाँति जाना-
जाता परोक्षतम-पूर्ण पदार्थ बाना ।
सत् शास्त्र के मनन से गुरुदेशना से,
हो जाय ज्ञात यह जीव सुसाधना से ॥२००॥

प्रत्यक्ष ज्ञान बल से जिन केवली है,
जैसे निजात्म लखते सबसे बली है ।
साक्षातकार निजका बन जाय ऐसा-
छद्मस्थ होकर कहे बुध कौन वैसा ॥२०१॥

मिथ्यात्व औ अविरती जड़-बोध, योग,
रागादि के जनक ये सुख के वियोग ।
आलोक से सकल लोक अलोक देखा,
सर्वज्ञ ने सदुपदेश दिया सुरेखा ॥२०२॥

होता जभी विलय भी इनका तभी से,
हो नष्ट आस्रव मुनीश्वर का सही से ।
औचित्य ! आस्रव जभी मिटते सभी है,
आठो कुकर्म मिटते सहसा तभी है ॥२०३॥

दुष्टाष्ट कर्म मिटते तन मेल टूटे,
संदेह क्या तन मिटा जग जेल छूटे ।
विज्ञान की किरण उज्ज्वल पूर्ण फूटे,
आनन्द लाभ फिर तो चिरकाल लूटे ॥२०४॥

निर्जराधिकार

धारा विराग दृग जो मुनिधर्म पाके,
होते उन्हे विषय कारण निर्जरा के ।
भोगोपभोग करते सब इद्रियो से,
साधू सुधी न बंधते विधि बँधनो से ॥२०५॥

भोगोपभोग जब वे मुनि भोगते है ?
होते अवश्य सुख-दु.ख नियोग से है ।
ले स्वाद दु ख सुख का बनते न रागी,
वे निर्जरा करम की करते विरागी ॥२०६॥

खाता भले विष सुधी विष मंत्र ज्ञाता,
पाता न मृत्यु फिर भी दुख भी न पाता ।
त्यों निर्विकल्पक समाधि विलीन ध्यानी,
भोगे विपाक विधि के बँधते न ज्ञानी ॥२०७॥

होता प्रमत्त नहि मादकता घटाके,
जो मद्यपान करता रुचिको हटाके ।
ज्ञानी विराग मुनि भोगत भोग सारे,
ये कर्म से न बँधते, निजको निहारे ॥२०८॥

लो भोग भोग कर भी मुनि हो न भोगी,
भोगे बिना जड़ कुधी बन जाय भोगी ।
इच्छा बिना यदि करे कुछ कार्य त्यागी,
कर्ता कथं फिर बने परके विरागी ॥२०९॥

विश्वास हो विविध है विधि के विपाक,
ऐसे कहें जिन, जिन्हें मम ढोक लाख ।
होगा नहीं यह विभाव, स्वभाव मेरा,
ज्ञानी निरामय निरा, नित मैं अकेला ॥२१०॥

होता यदा उदय पुद्गल क्रोध का है,
तो भाव क्रोध उगता रिपु बोध का है ।
होगा नहीं यह विभाव, स्वभाव मेरा,
ज्ञानी निरामय निरा नित मैं अकेला ॥२११॥

रागादि भाव तुममे जब हो रहे है,
कैसा कहो फिर उन्हे पर वे रहे है ।
भाई 'विभाव' न 'स्वभाव' अतः निरे है,
कायादि भी पर अत मुझसे घिरे है ॥२१२॥

होता वही श्रमण है समदृष्टि वाला,
पीता सदा परम पावन बोध प्याला ।
है डूबता बहुत भीतर-चेतना मे,
देता न दृष्टि उदयागत वेदना मे ॥२१३॥

तू राग को तनिक भी तन मे रखेगा,
शुद्धात्म को फिर कदापि नहीं लखेगा,
होगा विशारद जिनागम मे भले ही
आत्मा त्वदीय कुछ औ भव मे डुले ही ॥२१४॥

आत्मा न आतम अनातम को लखेगा,
सम्यक्त्व पात्र किस भाँति अहो बनेगा ।
यो कुन्द-कुन्द कहते बन वीतरागी,
क्यों व्यर्थ दु ख सहता तज राग रागी ॥२१५॥

ये द्रव्य भाव मय कर्म विभाव सारे,
छोडो इन्हे ध्रुव नही व्यय शील वाले ।
शुद्धात्म से प्रभव भाव-स्वभाव धारो,
जो है अबाध ध्रुव केवल विश्व सारो ॥२१६॥

विज्ञान पचविधि एक निजातमा है,
सत्यार्थ है निरखते अघ-खातमा है ।
लेता सहारा निजका यदि चाव से तू,
लेगा विराम चिर चेतन छाँव मे तू ॥२१७॥

होते कई मुनि, बिना निज बोध जीते,
पीते सुधा न निजकी रह जाय रीते ।
विज्ञान को भज अत विधि काटना है,
तू चाहता यदि निजी निधि छाँटना है ॥२१८॥

सद्बोध रूप सर मे डुबकी लगाले,
सतप्त तू स्नपित हो सुख शाति पाले ।
और अन्त मे बल अनन्त ज्वलन्त पाके,
विश्राम ले अमित काल स्वधाम जाके ॥२१९॥

ऊबा हुआ विषय से मुनि वीतरागी,
डूबा हुआ स्वमय मे सब ग्रन्थ त्यागी ।
मेरा शरीर यह है तज बुद्धिमानी,
ऐसा भला कहत है वह कौन ज्ञानी ? ॥२२०॥

देहादि को यदि मदीय मनो ! कहूँगा,
निःशक चेतन, अचेतन मै बनूँगा ।
मे तो सचेतन निकेतन हो तना हूँ ?
मेरा, नही पर, परिग्रह मे बना हूँ ॥२२१॥

हो जीर्ण शीर्ण तन पूर्ण सड़े गले ही,
भाई भले अनल से पल मे जले ही ।
हो खड खड अणु होकर भी खिरेगा,
मेरा न राग तन मे फिर भी जगेगा ॥२२२॥

धर्मानुराग शुभराग शुभोपयोग,
चाहे नही मुनि परिग्रह का सुयोग ।
त्यागी रहा इसीलिए शुभ धर्म का है,
ज्ञाता निरन्तर, न बधक कर्म का है ॥२२३॥

होता अधर्ममय है अशुभोपयोग,
ज्ञानी न चाहत कभी अघ सग योग ।
ज्ञाता अत मुनि निसग कुभोग का है,
सच्चा उपासक रहा उपयोग का है ॥२२४॥

ज्ञानी वही श्रमण है अपरिग्रही है,
वो-चाहता तरलपान कभी नही है ।
ज्ञाता रहा इसीलिए रस पान का है,
निस्संग है रसिक भी निज ज्ञान का है ॥२२६॥

तत्त्वार्थ का सब पदार्थन का यथार्थ,
शब्दार्थ अर्थ गहता सबके हितार्थ ।
साधू तथापि श्रुत का अभिमान त्यागी,
ससार सौख्य नहिं चाहत वीतरागी ॥२२७॥

यो अतरग बहिरग निसग ज्ञानी,
होता निरीह सबसे सुनसत वाणी ।
आकाश सा निरवलम्बन जी रहा है,
ज्ञानाभिभूत-समता रस पी रहा है ॥२२८॥

ना भूत की स्मृति अनागत की अपेक्षा,
भोगोपभोग मिलने पर भी उपेक्षा ।
ज्ञानी जिन्हे विषय तो विष दीखते हैं,
वैराग्य पाठ उनसे हम सीखते है ॥२२९॥

सभोग-भाव सब भोग्य पदार्थ भाई,
प्रत्येक काल मिटते न यथार्थ स्थाई ।
ज्ञानी मुनीश इस भाँति जभी लखेगा,
काक्षा पुन किसलिए किसकी रखेगा ? ॥२३०॥

ससार काय, विधिबंधन भोग द्वारा ।
धारा प्रवाह चलते जग मे सुचारा,
ज्ञानी तभी मुनि करे उनमें न प्रीति,
आश्चर्य क्या ? जब हुई निजकी प्रतीति ॥२३१॥

ज्ञानी न बध करता विधि से घिरा हो,
पंचेन्द्रि के विषय से जब वो निरा हो ।
हो पक मे कनक पै रहता सही है,
आत्मीयता कनकता तजता नहीं है ॥२३२॥

पचेद्रियो विषय मे रममान होता,
तो मूढ बंध विधि को स्वयमेय ढोता ।
लोहा स्वय कि जब कर्दम संग पाता,
धिक्धिक् स्वभाव तजता झट जग खाता ॥२३३॥

सिंदूर नाग-फणिकी जड़ दूध लाओ,
ओ मूत्र भी हथिनि की उनमे मिलाओ ।
ज्यो धौंकनी धुनकते रस प्राप्त होता,
सीसा सुवर्ण बनता जब भाग्य होता ॥२३४॥

हैं अष्ट कर्म मल किट्ठ असार सारा,
लोहा बना पतित आतम है हमारा ।
रागादि ही कलुष कालिख मात्र जानो,
सम्यक्त्व बोध व्रत औषध पात्र मानो ॥२३५॥

सद्ध्यान की धधकती अगनी जलाओ,
त्यो धौंकनी तपमयी तुम तो चलाओ ।
योगी बनो सतत आतम गीत गालो,
ज्योतिर्मयी शुचिमयी निज को बनालो ॥२३६॥

जैसा सफेद वह शंख सुशोभता है,
निर्जीव जीवमय द्रव्य सुभोगता है ।
कोई नही धवलता उसकी मिटाता,
है कृष्णता न उसमे पुनि डाल पाता ॥२३७॥

नाना अचेतन सचेतन भोग भोगे,
ज्ञानी मुनीश मुनिके-व्रत पा अनोखे ।
ऐसा विबोध मुनिका डिग क्यो सकेगा ?
रागाभिभूत कर कौन उसे सकेगा ? ॥२३८॥

मानो कि शंख खुद ही निज से चिगेगा,
आत्मीयता धवलता यदि वो तजेगा ।
तो कृष्णता कलुषता उसमे उगेगी,
वैभाविकी परिणती फिर क्यो रुकेगी ? ॥२३९॥

निर्जीवशख खुद वो निज से चिगेगा,
आत्मीयता धवलता यदि है तजेगा ।
तो कृष्णता कलुषता उसमे उगेगी,
वैभाविकी परिणती फिर क्यो रुकेगी ॥२४०॥

ज्ञानी स्वय यदि मनो । भजता विधि को,
विज्ञान की उजलता तजता निधी को ।
अज्ञान रूप ढलता फिर क्या बताना ।।
दुर्भाग्य पाक सहता भव दु ख नाना ॥२४१॥

कोई यहाँ नर नराधिप की सुसेवा,
मानो धनाढ्य बनने करता सदैव ।
राजा उसे सुखद सुन्दर सम्पदाये,
देता सुदुर्लभ अभीष्ट विलासताये ॥२४२॥

हो कर्म-सेव करता इस ही प्रमाणे-
ससारिजीव यदि सपति-भोग पाने ।
तो कर्म भी विविध सौख्य प्रमोदकारी,
देता उसे क्षणिक भौतिक दु खकारी ॥२४३॥

मानो धनाढ्य बनने करता न सेवा,
कोई यहाँ नर नराधिप की सदैवा ।
राजा कभी न मनवाछित सम्पदायें,
देता उसे सुखद पूर्ण विलासताये ॥२४४॥

साधू विराग दृग पा निजमे लसें वे,
ना कर्म को विषय सेवन हेतु सेवे ।
तो कर्म भी न उनको सुख सम्पदा दे,
तू कर्म धर्म पर ध्यान अतः सदा दे ॥२४५॥

निःशंक हो मुनि सदा समदृष्टि वाले,
सातों प्रकार भय छोड़ स्वगीत गाले ।
निःशंकिता अभयता इक साथ होती,
तो भीति भी स्वयम् ही भयभीत रोती ॥२४६॥

मिथ्यात्व औ अविरती कुकषाय योगों -
को रोकते, विधिविमोहक बाधकों को ।
निःशंक हैं निडर हैं समदृष्टि वाले,
रे वीतराग बनके मुनिशील-पाले ॥२४७॥

कांक्षा कभी न रखता जड पर्ययों में,
धर्मों पदार्थ दल के विधि के फलों में ।
होता वही मुनि निकांक्षित अंग धारी,
वंदूं उसे बन सकूँ द्रुत निर्विकारी ॥२४८॥

कोई घृणास्पद नहीं जग मे यथार्थ,
सारे सदा परिणमें निज मे यथार्थ ।
ज्ञानी न ग्लान करते मुनि हो किसी से,
धारे तृतीय दृग अंग तभी रुची से ॥२४९॥

ना मुग्ध मूढ मुनि हो जग वस्तुओं में,
हो लीन आप अपने अपने गुणों में ।
वे ही महान समदृटि समूढ दृष्टि,
नासाग्र दृष्टि रख नासत कर्म सृष्टि ॥२५०॥

मिथ्यात्व आदिक शुभाशुभ भाव छोडे,
है सिद्धभक्तिरत है मनको मरोडे ।
सम्यक्त्वसंग उपगूहण अंगधारी,
वे मान्य पूज्य अनगार, नही अगारी ॥२५१॥

उन्मार्ग पे विचरता मन को हटाता,
सन्मार्ग पे नियम से मुनि जो लगाता ।
वो ही स्थितीकरण अग सुधारता है,
ससार से तिर रहा जग-तारता है ॥२५२॥

ज्ञानादि रत्नत्रय मे शिवपथियों मे,
वात्सल्य भाव रखता मुनि-पुंगवो में ।
माना गया समय मे सम-दृष्टिवाला,
वात्सल्य अग अवधारक शांत शाला ॥२५३॥

हो रूढ ध्यान रथ, हाथ लगाम लेता,
जो धावमान मन को झट थाम लेता ।
सम्यक्त्व मंडित महा मुनि साधना है,
होती नितान्त जिन-धर्म प्रभावना है ॥२५४॥

बन्धाधिकार

फैली जहाँ मलिन धूलि अमेय राशि,
कोई सशस्त्र नर जाकर के विलासी ।
लो अग अग तिल तेल लगा लगाके,
आयाम नित्य करता बलको जगाके ॥२५५॥

स्वच्छद हो सरसा नीरस पादपों को
बासो तमाल कदली तरुके दलो को ।
वो तोड-तोड टुकडे-टुकडे बनाता,
आमूलत कर उखाड उन्हें मिटाता ॥२५६॥

नाना प्रकार इस ताण्डव नृत्य द्वारा,
लो देह मे चिपकती रज आ अपारा ।
क्यो वस्तुत चिपकती रज आ वहाँ है ?
क्या जानते तुम कि कारण क्या रहा है ॥२५७॥

यों तेल लेप वश ही रज आ लगी है,
भाई आकदय ध्रुव सत्य यहीं सही है ।
व्यायाम कारण नही उस कार्य मे है,
ऐसा जिनेश कहते निज कार्य मे है ॥२५८॥

मिथ्यात्व मडित कुधी त्रय योग द्वारा,
चेष्टा निरतर किया करता विचारा ।
ज्यो रागरग रगता उपयोग को है,
पाता स्वय नियम से विधि योग को है ॥२५९॥

फैली जहाँ मलिन धूलि अमेय राशि,
कोई सशस्त्र नर जाकर के विलासी ।
लो ! अग-अग तिल तेल बिना लगाया,
व्यायाम नित्य करता बलको जगाया ॥२६०॥

स्वच्छन्द हो सरस नीरस पादपो को,
बासो तमाल कदली तरुके दलो को ।
वो तोड-तोड टुकडे-टुकडे बनाता,
आमूलत. कर उखाड उन्हे मिटाता ॥२६१॥

नाना प्रकार इस ताण्डव नृत्य द्वारा,
है देह मे न चिपकी रज आ अपारा ।
क्यो वस्तुत चिपकती रज ना वहाँ है,
क्या जानते तुम कि कारण क्या रहा है ? ॥२६२॥

ना तेल लेप तन पे उसने किया है,
भाई नितान्त यह कारण ही रहा है ।
व्यायाम कारण नहीं उस कार्य मे है,
ऐसा जिनेश कहते निज कार्य मे है ॥२६३॥

होता इसी तरह ही सम दृष्टि वाला,
चेष्टा अनेक विध है करता निहाला ।
रागाभिभूत उपयोग नही बनाता,
पाता न बंध, उसको शिर मैं नवाता ॥२६४॥

मारूँ उसे वह मुझे जब मारता है,
मोही कुधी मनमना यह मानता है ।
मेरा नहीं मरण, है ध्रुव शीलवाला,
ज्ञानी कहे मुनि, निरा जड मे निराला ॥२६५॥

देहावसान जब आयु विलीन होती,
है भारती जिनप की सुख को सँजोती ।
तू जीव की जब न आयु चुरा सकेगा,
कैसा भला सहज मार उसे सकेगा ? ॥२६६॥

देहावसान जब आयु विलीन होती,
है भारती जिनप की सुख को सजोती ।
कोई त्वदीय नहि आयु चुरा सकेगा ?
तेरा भला मरण क्या कि करा सकेगा ? ॥२६७॥

मैं आपकी मदद से बस जी रहा हूँ,
जीता तुम्हे सहज आज जिला रहा हूँ ।
ऐसा सदैव कहता वह मूढ प्राणी,
ज्ञानी विलोम चलता जड से अमानी ॥२६८॥

है आयु के उदय पा जग जीव जीता,
ऐसा कहे जिन जिन्हें मद ने न जीता ।
तू जीव मे यदपि आयु न डाल देता,
कैसा उसे तदपि जीवित पाल लेता ? ॥२६९॥

है आयु के उदय पा जग जीव जीता,
ऐसा कहे जिन जिन्हे मद ने न जीता।
कोई न आयु तुझमे जब डाल देता,
कैसे तुझे फिर सुजीवित पाल लेता ? ॥२७०॥

मैंने तुझे धन दिया कि सुखी बनाया,
मारा, चुरा धन अपार, दुखी बनाया।
मोही प्रमत्त जडकी यह धारणा है,
ज्ञानी चले न इस भांति महामना है ॥२७१।

साता यदा उदय मे अथवा असाता,
होता सुखी जगदुखी, यह छद गाता,
तू डालता न पर मे जब कर्म वैसा,
भाई दुखी जग सुखी बन जाय कैसा ? ॥२७२॥

लो कर्म का उदय जीवन मे जभी जो,
औचित्य है जग दुखी व सुखी तभी हो।
देता न कर्म जग है तुमको कदापि,
कैसे हुए तुम अपार दुखी तथापि ॥२७३॥

लो कर्म का उदय जीवन मे जभी हो,
सिद्धांत है जग दुखी व सुखी तभी हो।
देता न कर्म जग है तुमको कदापि,
कैसे अकारण सुखी तुम हो तथापि ॥२७४॥

दु.खानुभूति करता यम धाम जाता,
संसारिजीव उदया-गत कर्म पाता।
मारा तुम्हे दुखित पूर्ण किया कराया,
वो मान्यता तव मृषा, जिन देव गाया ॥२७५॥

मानो दुखी नहि हुवा न मरा सदेही,
जो भी हुवा वह सभी विधिपाक से ही ।
मैने दुखी मृत नही तुमको बनाया,
ऐसा विचार भ्रम है जिनने बताया ॥२७६॥

मै शीघ्र ही अति दुखी परको बनाता,
किवा उसे सहज शीघ्र सुखी बनाता ।
ऐसा कहो भ्रमित ही मति आपकी है,
बाँधे शुभाशुभ विधि खानि पापकी है ॥२७७॥

ऐसा विकल्प यदि हो जग को दुखी ही,
सामर्थ्य है कर सकूँ अथवा सुखी ही ।
वो पाप का मलिन सग दिला सकेगा,
या पुण्य का मुख तुम्हे दिखला सकेगा ॥२७८॥

मै मित्र मे सदय हो कर प्राण डालू,
औशत्रु को अदय होकर मार डालू ।
ऐसा विभाव मन मे यदि धारते हो,
तो पुण्य पाप क्रमश तुम बाधते हो ॥२७९॥

प्राणो हरो मत हरो जग जगमो के
सकल्प, बध करता विधिबंधनों के ।
लो बधका विधि विधान यही रहा है,
ऐसा सहर्ष नय निश्चय गा रहा है ॥२८०॥

एव असत्य अरु स्तेय सब्रह्महानी,
औ सग सकलन मे रुचि की निशानी ।
माने गये अशुभ अध्यवसाय सारे,
ये पाप बध करते दुख के पिटारे ॥२८१॥

बहिरंग सत्य समतावत को निभाना,
या ब्रह्मचर्य धर, संग सभी हटाना ।
ये हैं अवश्य शुभ अध्यवसाय सारे
है पुण्य बंधक कथंचित, पाप टारे ॥२८२॥

पंचेन्द्रि के विषय को लखता जभी से
रागादिमान यह आतम हो तभी से ।
पै वस्तुत विषय बंधक वे नहीं हैं ।
रागादिभाव विधिबंधक है सही है ॥२८३॥

मै आपको अति दुखी व सुखी बनाता,
या बाँधता झटिति बधन से छुडाता ।
ऐसी त्वदीय मति सन्मति हारिणी है,
मिथ्यामयी विषमयी दुखकारिणी है ॥२८४॥

रागादि से जबकि बधन जीव पाते,
आरूढ मुक्ति पथ पे मुनि मुक्ति जाते ।
मै बाँधता जगत को अथवा छुडाता,
तेरा विकल्प फिर वो किस काम आता ? ॥२८५॥

ज्यो जीव राग रति की कर आरती है
होता सुरेश नर वानर नारकी है ।
है पाप-पुण्य परिपाक जु आप पाता,
ऐसा वसन्ततिलका यह छद गाता ॥२८६॥

शुद्धात्म से पृथक् द्रव्य छहो निराले,
है भिन्न-भिन्न गुण लक्षण धर्म धारे ।
ससारि-जीव पर, अध्यवसान द्वारा,
ससार को हि अपना करता बिचारा ॥२८७॥

रे कायसे जगत को दुख है दिलाते,
ऐसा कही तुम कहो बलधार पाते ।
निर्भ्रान्त भ्रान्त तब तो मति है तुम्हारी,
ससार कर्मवश पीडित क्योकि भारी ॥२८८॥

लो विश्व को वचन से दुख है दिलाते,
ऐसा कही तुम मनो मति धार पाते ।
निर्भ्रान्त ! भ्रान्त मति है तब तो तुम्हारी,
ससार कर्मवश पीडित क्योकि भारी ॥२८९॥

ससार को दुखित है मनसे कराते,
ऐसी कही तुम मनो मति धार पाते ।
निर्भ्रान्त ! भ्रान्त मति है तब तो तुम्हारी,
ससार कर्मवश पीडित क्यो कि भारी ॥२९०॥

या विश्व को दुखित आयुध से कराते,
ऐसा कही तुम मनो मति धार पाते ।
निर्भ्रान्त ! भ्रान्त मति है तब तो तुम्हारी,
ससार कर्मवश पीडित क्योकि भारी ॥२९१॥

या काय से वचन से मन से कराते,
है विश्व को हम सुखी करुणा दिखाते ।
ऐसा कहो मति मृषा फिर भी तुम्हारी,
पा कर्म का फल सुखी जग क्योंकि भारी ॥२९२॥

ऐसे अनेक विध अध्यवसाय छोडे,
नीराग भाव धरके मनको मरोडे ।
ज्ञानी मुनीश्वर शुभाशुभ रेणुओ से,
होते नहीं मलिन, शोभत हो गुणो से ॥२९३॥

संकल्प जन्य सविकल्प अरे ! करेगा,
तो पाप-पुण्य विधिबध नही टरेगा ।
ना बोध दीप दिल मे उजला जलेगा,
फैला विमोहतम ना तबलौ टलेगा ॥२९४॥

जो पारिणाम मति अध्यवसाय भाव,
विज्ञान बुद्धि व्यवसाय चितीविभाव ।
हे भव्य ये वसु जिनोदित शब्द सारे,
है भिन्न-भिन्न, पर आशय एक धारे ॥२९५॥

है नित्य निश्चय निषेधक मोक्षदाता,
होता निषिद्ध व्यवहार मुझे न भाता ।
लेते सुनिश्चय नयाश्रय संत योगी,
निर्वाण प्राप्त करते, तज भोग भोगी ! ॥२९६॥

भाई अभव्य व्रत क्यों न सदा निभा ले,
लेते भले हि तप संयम गीत गा ले ।
औ गुप्तियाँ समितियाँ कल शील पाले,
पाते न बोध दृग वे न बने उजाले ॥२९७॥

एकादशाग श्रुत पा न स्व-में रुचि है,
श्रद्धान मोक्ष सुख का जिसको नही है ।
ऐसा अभव्य जनका श्रुत पाठ होता,
रे राम ! राम ! रटता दिन रात तोता ॥२९८॥

सद्धर्म धार उसकी करते प्रतीति,
श्रद्धान गाढ रखते रुचि और प्रीति ।
चाहे अभव्य फिर भी भव भोग पाना,
ना चाहते धरम से विधि को खपाना ॥२९९॥

तत्त्वार्थ मे रुचि हुई दृग हो वही से,
सज्ज्ञान हो मनन आगम का सही से ।
चारित्र, पालन चराचर का सुहाता,
सगीत ईदृश सदा व्यवहार गाता ॥३००॥

विज्ञान मे चरण मे दृग संवरो मे,
औ प्रत्यख्यान गुण मे लसता गुरो मै ।
शुद्धात्म की परम-पावन भावना का,
है पाक मात्र सुख, है दुख वासना का ॥३०१॥

ज्योतिर्मयी स्फटिक शुभ्रमणी सुहाती,
आत्मीयता तज स्वय न विरूप पाती ।
पै पार्श्व मे मृदुल फूल गुलाब होती,
आश्चर्य क्या फिर भला मणि लाल होती ॥३०२॥

ज्ञानी मुनीश इस भाँति निरा निहाला,
होता स्वय नहि कदापि विकार वाला ।
मोहादि के वश कभी प्रतिकूलता मे,
रजाय-मान बनता निज भूलना में ॥३०३॥

समोहराग करते नहि रोष, ज्ञानी,
होते प्रभावित नही पर से अमानी ।
कर्त्ता अत नहि कषाय उपाधियो के,
साधू उपास्य जब है हम प्राणियो के ॥३०४॥

क्रोधादियो विकृतभाव-प्रणालियो मे,
मोही उदीरित कुकार्मिक-नालियो मे ।
होता प्रवाहित तभी निज-भूल जाता,
है कर्म कीच फसता प्रतिकूल जाता ॥३०५॥

अज्ञान की कलुष-राग तरग माला,
कापायिकी परिणती भव दु:ख-शाला ।
भावी नवीन विधिबधन हेतु होती,
आत्मा सबध बनता मिट जाय ज्योति ॥३०६॥

होता द्विधा परम पाप अप्रत्याख्यान,
हे भव्य दो हि अप्रतिक्रमण सुजान ।
माना गया इसीलिए मुनि वीतरागी,
हे कर्म का वह अकारक सग-त्यागी ॥३०७॥

हे द्रव्य भावमय दोय अप्रत्यख्यान,
एव द्विधाहि अप्रतिक्रमण सुजान ।
ये निद्य निद्यतर निद्यतमा रहे है,
ज्ञानी इन्हे तज सदा निज मे रहे है ॥३०८॥

आत्मा समाधिगिरि से गिर के सरागी,
मानो इन्हे कर रहा मुनि दोष भागी ।
तो धूलि-धूसरित भूपर आ हुवा है ?
कर्माभिभूत बन के पर को छुवा है ॥३०९॥

अध्वादि कर्म कृत भोजन दोष सारे,
जाते अजीव पर पुद्गल के पुकारे ।
साधू करे फिर उन्हे किस भाँति ज्ञानी,
वे अन्य द्रव्य गुण है यह वीर वाणी ॥३१०॥

औद्देशिकादि सब कर्म निरे-निरे है,
चैतन्य से रहित है जडता धरे है,
ज्ञानी विचार करता मुनिराज ऐसा,
वो अन्य कर्म जडकर्म मदीय कैसा ॥३११॥

अध्वादि कर्म कृत भोजन दोष सारे,
जाते अजीव जड पुद्‌गल के पुकारे ।
है अन्य से रचित ये गुण देख लेता,
ज्ञानी उन्हे अनुमती किस भाँति देता ? ॥३१२॥

औद्‌देशिकादि सब कर्म निरे निरे है,
चैतन्य से रहित है जडता धरे हैं ।
हूँ ज्ञानवान जब मै मुझसे कराया,
कैसा गया वह, नही कुछ जान पाया ॥३१३॥

मोक्षाधिकार

मै पाश से कस कसा करके कसा हूँ ?
बधानुभूति करता चिर से लसा हूँ ।
यो बंध बधफल बधित गीत गाता,
कोई मनो पुरुष है तुम को दिखाता ॥३१४॥

पै बध को यदि नही वह छोडता है,
हा ! जान बूझकर भी नहिं तोडता है ।
पाता न मुक्ति उस बधन से कदापि,
दुस्सह्य दु:ख सहता चिर काल पापी ॥३१५॥

त्यो कर्म कर्म-स्थिति, कर्म प्रदेश जाने,
औ कर्म की प्रकृति औ अनुभाग माने ।
छोडे न बंध यदि जान सराग होते,
होते न मुक्त, मुनि मुक्त विराग होते ॥३१६॥

जो पाश बद्ध, बस बधन चिंतता है,
होता न मुक्त उससे वह अधता है ।
तू कर्म बध भर को यदि चिंतता है,
होगा न मुक्त विधि से, मति मंदता है ॥३१७॥

जो पाश से कस बंधे यदि पाश तोड़े,
तो पाश से झट विमुक्त नितान्त होले ।
न कर्म बंध झट से यदि काटता है,
पाता विमुक्त बन शीघ्र विराटता है ॥३१८॥

शुद्धात्म का परम निर्मल धर्म क्या है,
क्या बंध लक्षण विलक्षण कर्म क्या है ।
यों जान, मान मतिमान प्रमाण द्वारा,
छोड़े कुबंध, गहते शिवधाम द्वारा ॥३१९॥

ये जीव, बंध अपने अपने गुणो से,
है भिन्न मोहवश एक हुए युगो से ।
है भिन्न-भिन्न कहती इनको, सुपैनी,
तो एकमात्र वर बोधमयी सुछैनी ॥३२०॥

यो स्वीय स्वीय गुण लक्षण भेद द्वारा,
तू भिन्न-भिन्न कर बंध निजात्म सारा ।
शुद्धात्म है समयसार-मयी सुधा पी,
हे ! भव्य बंध विष पै मत पी कदापि ॥३२१॥

कैसा निजातम मिले यदि भावना हो,
विज्ञान की सतत सादर साधना हो ।
जाता किया पृथक् बंधन से निजात्मा,
विज्ञान से हि मिलता बनता महात्मा ॥३२२॥

संवेदनामय निजी वह चेतना "मै",
यो जान, लीन रहना निजचेतना मे ।
जो भी अचेतन निकेतन शेष सारे,
है हेय ज्ञेय मुझसे चिर से निराले ॥३२३॥

विज्ञान से विदित निश्चत शर्म दृष्टा
मै ही रहा वह स्वय निजधर्म सृष्टा ।
जो भी अचेतन निकेतन शेष सारे,
है हेय ज्ञेय मुझसे चिरसे निराले ॥३२४॥

विज्ञान से विदित चेतन राम ज्ञाता,
मैं ही रहा वह निजी गुण धाम धाता ।
जो भी अचेतन निकेतन शेष सारे,
है हेय ज्ञेय मुझसे चिरसे निराले ॥३२५॥

साधू जिसे स्वपर बोध भला मिला है,
सौभाग्य से दृग सरोज खुला खिला है ।
वो क्या कदापि परको अपना कहेगा,
ज्ञानी न मूढसम भूल कभी करेगा ॥३२६॥

ऐसा न होकि मुझको कहि मार देवे,
तू चोर है कह मुझे जन बाँध देवे ।
ऐसा विचार करता नहि ठीक सोता,
चौर्यादि पापकर चोर सुभीत होता ॥३२७॥

चौर्यादि कार्य करता नहिं है कदापि,
निर्भीक हो विचरता जग मे अपापी ।
होता जिसे कि भय भी अघगैल से है,
चिंता उसे न फिर बंधन जेल से है ॥३२८॥

त्यो संग सकलनलीन असंयमी है,
हो बंध भीति उसको यमी है ।
साधू जिसे भय भला किस बात का है,
है राग भी न जिसको निज गात का है ॥३२९॥

संसिद्धि राध अरु साधित सिद्ध सारे,
आराधना वचन आशय एक धारे।
आराधना रहित आतम ही कहाता,
है दोष-धाम अपराधक पाप पाता ॥३३०॥

निश्चिंत हो निडर हो निजको निहारे,
निर्दोष वे निरपराधक साधु प्यारे।
आराधना स्वयम की करते सुहाते,
ना तो स्वयं न परको डरते डराते ॥३३१॥

निंदा निवृत्ति परिहार सुधारणाएँ,
गर्हा प्रतिक्रमण शुद्धि प्रसारणाएँ।
पीयूष कुम्भ तब ही शुद्धि मुनिमत्त होते,
शुद्धोपयोग जब हो विषकुम्भ होते ॥३३२॥

आठो अनिंदन अशुद्धि अधारणादि-
पीयूष कुम्भ जब साधु सधे समाधि।
ऐसा सुजान समयोचित कार्य साधो।
एकान्तवाद तजदो अयि आर्य साधो ॥३३३॥

सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार

होते अनन्य अपने-अपने गुणो से,
उत्पद्यमान सब द्रव्य युगो युगो से ।
ज्यो पीलिमा व मृदुता तजता न सोना,
लो कुण्डलादिमय ही लसता सलोना॥३३४॥

वो जीव लक्षण अनन्य स्वचेतना है,
है जीव जीवित तभी जिन देशना है ।
एवं अजीव अपने गुण पर्ययो से,
जीते त्रिकाल चिरसे निज लक्षणो से ॥३३५॥

उत्पन्न जो न परकीय पदार्थ से है,
आत्मा अत न परकार्य यथार्थ से है ।
उत्पन्न भी कर रहा परको नहीं है,
आत्मा अत. कि परकारण भी नही है ॥३३६॥

कर्त्ता हमे विदित हो लख कर्म को है,
कर्त्ता लखो कि अनुमानित कर्म ही है,
कर्त्ता व कर्म इनकी विधि बोलती है,
ऐसी कही न मिलती दृग खोलती है ॥३३७॥

आत्मा विमोहवश ही निज को विसारा,
उत्पन्न हो विनशता अघभाव द्वारा ।
रागादिमान इस चेतन का सहारा-
ले कर्म भी उपजता मिटता बिचारा ॥३३८॥

एवं परस्पर निमित्त बने सकाम,
रागी व कर्म बधते बनते गुलाम ।
ससार का तब प्रवाह अबाध भाता,
रागादि भाव मिटता भवनाश पाता ॥३३९॥

मारादि से मोहि प्रमादित हो रहा है।
आत्मा और आगम के प्रति सो रहा है।
मिथ्यात्व मण्डित असंयत है कहाना,
अज्ञान जन्य दुख की वह गंध पाना॥३४०॥

होता न लीन उदयागत कर्म में है,
ज्ञानी वशी निरत आतम धर्म में है।
शीघ्रातिशीघ्र मुनि केवल ज्ञान-दर्शी,
होता विमुक्त भवसे शिव सौख्य-स्पर्शी ॥३४१॥

मक्खी बना मुदित मानस हो मलों में,
है मूर्ख मूढ रमता विधि के फलों में।
साक्षी बना, न विधि के फल भोगता है,
ज्ञानी वशी न तजता निज योगता है ॥३४२॥

निश्चित हो निडर हो निज को निहारे,
निर्दोष वे निरपराधक साधु प्यारे।
आराधना स्वयम की करते सुहाते,
न तो स्वय, न पर को, डरते डराते ॥३४३॥

हे भव्य ! पूर्ण पढ भी जिन-दिव्य वाणी,
त्यागे अभव्यपन को न अभव्य प्राणी।
मिश्री मिला पयपिलाकर हा अही भी,
क्या कालकूट तजता जग मे कभी भी ॥३४४॥

निर्वेग भाव मुनि होकर धारता है,
जो मात्र कर्मफल मौन निहारता है।
साता रहो सुखद दु:खद हो असाता,
ज्ञानी उन्हे न चखता यह साधु-गाथा ॥३४५॥

सभोगते न करते विधि को कदापि,
ज्ञानी समाधिरत हो मुनि वे अपापी ।
पै पाप पुण्य विधि बधन के फलो को,
है जानते, नमन हो उनके पदो को ॥३४६॥

दृष्टा बने युगल लोचन देखते हैं,
ना दृष्य-स्पर्श करते न हि हर्षते है,
ज्ञानी अकारक अवेदक जानता है ।
त्यों बंध मोक्ष विधि को तज मानता है ॥३४७॥

विख्यात लोकमत है सुरमानवो का,
निर्माण विष्णु करता पशुनारको का ।
स्वीकारते श्रमण चूंकि चराचरो को,
आत्मा जगाय जगजगम जन्तुओं को ॥३४८॥

माना कि एक मत में वह विष्णु कर्त्ता,
आत्मा रहा इतरमे जग जीव कर्त्ता ।
दोनो समा श्रमण लौकिक वादियो मे,
पाया न भेद फिर भी इन दो मतों मे ॥३४९॥

हाँ मोक्ष की महक ही इन मे न आती,
कर्तृत्व की विषमगध सही न जाती ।
कोई विशेष इनमे न हि भेद भाता,
ऐसा सुनों समयसार सदैव गाता ॥३५०॥

मेरे खरे धन मकॉ परिवार आदि,
पी मोह मद्य बकता व्यवहारवादी ।
लेते विराम मुनि निश्चय का सहारा,
गाते सदा, न परका अणु भी हमारा ॥३५१॥

कोई यहा पुरुष हैं कहते हमारे,
ये देश खेट पुर गोपुर प्रान्त प्यारे ।
ये वस्तुत न उनके बनते कदापि,
व्यामोह से जड प्रलाप करे तथापि ॥३५२॥

है काय भिन्न पर जानत भी अमानी,
शुद्धोपयोग तज के यदि काश ज्ञानी ।
मानो मदीय तन है इस भाँति बोले,
मिथ्यात्व पा नियम से भव बीच डोले ॥३५३॥

ऐसा विचार, पर को अपना न मानो,
औ राग त्याग परको पर रूप जानो ।
कर्त्तृत्ववाद धरते इन दो मतों को,
मिथ्यात्व मण्डित लखों उन पामरो को ॥३५४॥

मिथ्यात्व की प्रकृति पापिन जो कहाती,
मिथ्यात्व मण्डित हमें यदि है कराती ।
तो कारिका वह बनी कि अचेतना हो,
स्वीकार किन्तु नहि वो जिन देशना को ॥३५५॥

कि वा कहो यदि निजातम ही जडो को,
मिथ्यात्व रूप करता इन पुद्गलो को,
मिथ्यात्व पात्र फिर पुद्गल ही बनेगा,
आत्मा त्रिकाल फिर शुद्ध बना तनेगा ॥३५६॥

आत्मा तथा प्रकृति ये मिल के जडो को,
मिथ्यात्व रूप कर ते इनपुद्गलों को
ऐसा कहो यदि तदा जड़ के-दलो को
दोनों हि स्वाद चखते विधि के फलों का ॥३५७॥

आत्मा तथा प्रकृति भी न कभी जडो को,
मिथ्यात्व रूप कहते इन पुद्गलो को ।
ऐसा कहो तदपि पुद्गल ही हुआ है,
मिथ्यात्व क्या मत त्वदीय नही हुआ है ॥३५८॥

सम्यक्त्व की प्रकृति पुद्गल को सुहाती,
सम्यक्त्व मडित हमे यदि है कराती ।
तो कारिका वह बनी कि अचेतना हो,
स्वीकार पे न यह है जिन देशना को ॥३५९॥

अज्ञान का सदन पुद्गल कर्म द्वारा,
होता विबोध घर आतम पूर्ण प्यारा ।
है कर्म से विवश हो कर गाढ सोता,
है कर्म के वश सुजागृत पूर्ण होता ॥३६०॥

पा कर्म के फल अतीव सदीव रोते,
मिथ्यात्व मडित असयत जीव होते ।
हैं डूबते भव पयोनिधि मे दुखी है,
होते कभी क्षणिक पा सुख को सुखी हैं ॥३६१॥

आत्मा शुभाशुभ कभी पशु योनियो में,
पाता निवास कुछ काल सुरालयो में।
है कर्म ही नरक मे इसको गिराता,
संसार के विपिन मे सबको भ्रमाता ॥३६२॥

जो भी करे करम ही करता कराता,
ससार का रचियता बस कर्म भाता ।
ऐसा हि सांख्य मत 'सा' यदि तू कहेगा,
आत्मा अकारक रहा, भव क्या रहेगा ॥३६३॥

स्त्रीवेद को पुरुष वेद सदैव चाहे,
पुंवेद को नियम से त्रियवेद चाहे ।
आचार्य की परम पूत परंपरा है,
जो जन में जबकि स्वीकृत सुन्दरा है ॥३६४॥

यों बार बार हम तो कहते उसी से,
है ब्रह्मलीन सब जीव सदा रुची से ।
है कर्म कर्म भरको बस चाहता है,
आत्मा जिसे सतत मात्र निहारता है ॥३६५॥

होती विनष्ट परसे परको मिटाती,
एकान्त से प्रकृति ही नव जन्म पाती ।
भाई अत: प्रकृति भी पर घात वाली,
हे सर्व सम्मत रही जड-गात-वाली ॥३६६॥

आत्मा रहा अमर वो मरता नहीं है,
औ मारता न पर को कहना सही है ।
तो कर्म कर्म भर को बस मारता है,
यो मात्र साख्यमत आशय धारता है ॥३६७॥

ऐसा हि सॉख्य मत से यदि बोलते हो,
साधू हुए अमृत मे विष घोलते हो ।
रागादिका करन ही बन जाय कर्त्ता,
तो सर्वथा सकल जीव बने अकर्त्ता ॥३६८॥

आत्मा मदीय करता निजको निजी से,
ऐसा त्वदीय मत स्वीकृत हो सदी से ।
तो भी रहा मत नितान्त असत्य तेरा,
कूटस्थ नित्य मत मे न हि हेर फेरा ॥३६९॥

है एक हेतु इसमे सुन ए हितैषी,
आत्मा रहा अमर नित्य असख्य देशी ।
वो एकसा, न घटता बढता नही है,
ऐसा कथन आगम का सही है ॥३७०॥

हो केवली समुद्घात त्रिलोक व्यापी,
आत्मा प्रमाण तनके, तनमे तथापि ।
ऐसी दशा फिर भला उसको बढाता,
वो कौन सक्षम उसे क्रमश घटाता ॥३७१॥

आत्मा त्रिकाल यदि ज्ञायक ही रहा हो,
वैराग्य राग किसको कब हो कहां हो ?
आत्मा कथचित अत· विधि से सरागी,
हो बोध-दाम तज राग बने विरागी ॥३७२॥

आत्म सदा मिट रहा निज पर्ययो से,
शोभे वही ध्रुव किन्ही ध्रुव सद्गुणों से ।
एकान्त है यह नही ध्रुव दृष्टि द्वारा-
कर्त्ता वही इतर , पर्यय दृष्टि द्वारा ॥३७३॥

पर्याय से मिट रहा गुण से नही है,
आत्मा त्रिकाल धुव भी रहता वही है ।
एकान्त है नहि, वही ध्रुव भाव द्वारा
भोक्ता, निरा क्षणिक पर्यय भाव द्वारा ॥३७४॥

भोक्ता वही न बनता बन कर्म कर्त्ता,
यो बौद्ध लोक कहते निज धर्म हर्त्ता ।
सिद्धान्त जो कि क्षण-भंगुर वादियो का,
उद्भ्रान्त है वितथ मात्र कुदृष्टियो का ॥३७५॥

भोक्ता निरा बस निरा बन जाय कर्त्ता,
सिद्धान्त बौद्ध यह है अघकार्य कर्त्ता।
जो भी समर्थ उसका गुण गीत गाते,
सद्धर्म से सरकते विपरीत जाते ॥३७६॥

शिल्पी स्वयं मुकुट आदिक को बनाते,
होते न तन्मय नहीं पर रूप पाते।
मोहादि कर्म करता रहता निराला,
आत्मा कभी न तजता निज चित्त-शाला ॥३७७॥

हस्तादि से मुकुट आदिक को बनाते,
शिल्पी न शिल्पमय किन्तु हुए दिखाते।
है जीव कर्म करता निज इन्द्रियों से
तादात्म्य पै न रखता उन पुद्गलों से ॥३७८॥

शस्त्रास्त्र शिल्प करने गहता अनेकों,
शिल्पी न तन्मय बना वह भिन्न देखो।
स्वीकारता यदपि कर्म तथापि, पापी,
आत्मा न कर्ममय आप बना कदापि ॥३७९॥

है शिल्प कार्य करता धन धान्य पाता,
शिल्पी अनन्य बनता नहिं, अन्य भाता।
नाना प्रकार फल भोग शुभाशुभों के,
आत्मा न पुद्गल बना निज बोध खो के ॥३८०॥

आत्मा कुकर्म करता फल चाखता है,
ऐसी अवश्य कहती व्यवहारता है।
पै भोगता व करता परिणाम को ही,
ऐसा सुनिश्चय कहे सुन ए विमोही ॥३८१॥

मै कुण्डलादिक करूँ मन भाव लाता,
शिल्पी उसी समय तन्मय हो सुहाता ।
रागादिभाव करता जब जीव ऐसा,
तद्रूप आप बन जाय तदीव ऐसा ॥३८२॥

ऐसा विकल्प कर आकुल हो उठेगा
शिल्पी सुनिश्चित दुखी बन वो मिटेगा ।
रागाभिभूत बनता निज भूल जाता,
जो जीव दु.खमय हो प्रतिकूल जाता ॥३८३॥

दीवार के वश नही खटिका सफेदी,
दीवार भिन्न वह भिन्न स्वयं सफेदी ।
है ज्ञेय ज्ञेय वश ज्ञेय प्रकाशता है,
वो ज्ञान, ज्ञान रह ज्ञायक भासता है ॥३८४॥

दीवार के वश नहीं खटिका सफेदी,
दीवार भिन्न वह भिन्न स्वय सफेदी ।
है दृश्य दृश्य बस दृश्य दिखा रहा है,
आत्मा सुदर्शक सुदर्शक भा रहा है ॥३८५॥

दीवार के वश नहीं खटिका सफेदी,
दीवार भिन्न वह भिन्न स्वयं सफेदी ।
त्यो त्याज्य त्याज्य पर त्याग न तन्मयी है,
साधू स्वय सहज सयत सयमी है ॥३८६॥

दीवार के वश नही खटिका सफेदी,
दीवार भिन्न वह भिन्न स्वय सफेदी ।
श्रद्धेय के वश नही समदृष्टि वाला,
साधू स्वदृष्टि वश ही समदृष्टिवाला ॥३८७॥

ऐसे विबोध व्रत दर्शन तीन प्यारे,
होते सुनिश्चय सदा अघ हीन सारे ।
सक्षेप मे अब सुनो व्यवहार गाता,
सन्मार्ग साधक सुनिश्चय का विधाता ॥३८८॥

चूना निसर्ग धवला शशिसी सुहाती,
दीवार को उजल रग यही दिलाती ।
विज्ञान से विशद् विश्व सुजानता है,
ज्ञाता बना सहज भाव सुधारता है ॥३८९॥

चूना निसर्ग धवला शशिसी सुहाती,
दीवार को उजल रूप यही दिलाती ।
आलोक से सकल लोक अलोक देखा,
दृष्टा बना विमल दर्शन पा सुरेखा ॥३९०॥

चूना निसर्ग धवला शशिसी सुहाती,
दीवार को उजलरूप यही दिलाती ।
यो जान मान परको पर रूप ज्ञानी,
है त्यागता व भजता निजरूप ध्यानी ॥३९१॥

चूना निसर्ग धवला शशि सी सुहाती,
दीवार को उजलरूप यही बनाती ।
जीवादि तत्त्व भर मे रख पूर्ण आस्था,
सम्यक्त्व धारक चले अनुकूल रास्ता ॥३९२॥

ज्ञानादि जो न निजकी करते उपेक्षा,
भाई तथापि पर की रखते अपेक्षा ।
सिद्धान्त में बस यही व्यवहार माना,
सर्वत्र यो समझना भवपार जाना ॥३९३॥

पचेद्रि के विषय चेतन से परे है,
सम्यक्त्व बोध व्रत से नहि वे भरे है ।
हे साधु चेतन अचेतन का तथापि,
कैसा विघात करता, नहि वो कदापि ॥३९४॥

दुष्टाष्ट कर्म शुचि चेतन से परे है,
सम्यक्त्व बोध व्रत से नहि वे भरे है ।
हे साधु चेतन अचेतन कर्म का भी,
कैसा विघात करता नहि वो कदापि ॥३९५॥

काया अचेतन निकेतन हो तभी है,
सम्यक्त्व बोध व्रत से न हि वो बनी है ।
हे ! साधु चेतन, अचेतन काय का भी,
कैसा विघात करता नहि हा कदापि ॥३९६॥

विज्ञान चारित सुदर्शन ये भले ही,
समोह के वश मिटे क्षण में टले ही ।
होता न घात पर पुद्गल का इसी से,
गाता यही समयसार सुनो रुची से ॥३९७॥

ज्ञानादि दिव्य गुण आतम मे अनेको,
दीखे परन्तु परपुद्गल मे न देखो ।
सम्यक्त्व की मुनि विराग, पराग पीते,
पीते न राग विष, सो चिरकाल जीते ॥३९८॥

है जीव की यह अनन्य विभाववाली,
संमोह रोष रति की दुखदा प्रणाली ।
रागादि ये इसीलिए जडमें नही है,
हे साधु तेल, मिलता तिल मे सही है ॥३९९॥

भाई बना न सकता परके गुणों को,
कोई पदार्थ, कहते जिन सन्तजनों को।
प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने गुणों से,
उत्पन्न हो लसे यों कि गुणी-गुणों से ॥४००॥

निन्दामयी स्तुतिमयी वचनावली है,
चैतन्य शून्य जड़ पुद्गल की कली है।
हो रुष्ट तुष्ट उसको सुन मूढ़ ऐसा,
मैं निन्द्य पूज्य मुझ ही कह भूल ऐसा ॥४०१॥

जो शब्द रूप ढल पुद्गल द्रव्य आता,
बोला मुझे न कुछ भी मुझसे न नाता।
हे! मूढ़ क्यों न इस भाँति विचारता है,
क्यों रोष-तोष कर होश बिसारता है ॥४०२॥

वो शब्द हो अशुभ हो शुभ हो "सुनो" रे,
ऐसा कभी न कहता कि मुझे गुणो रे।
जो कर्ण का विषय मात्र बना हुवा है,
होता गृहीत न, स्वतन्त्र तना हुवा है ॥४०३॥

वो रूप! हो अशुभ हो, शुभ हो, लखो रे!
ऐसा कहे न कि मुझे दृग से चखो रे!
जो नेत्र का विषय मात्र बना हुवा है,
होता गृहीत न स्वतन्त्र तना हुआ है ॥४०४॥

वो गंध हो अशुभ यो शुभ सूँघ लेना,
ऐसा कहे न कि मुझे कुछ मूल्य देना।
पे नासिका विषय केवल वो बनी है,
आती नहीं पकड़ मे यह तो सही है ॥४०५॥

ऐसा तुम्हे न कहता रस वो कदापि,
चाखो मुझे अशुभ या शुभ हो तथापि ।
जिह्वेन्द्रिका विषय हो पर स्वाश्रयी है,
आता नही पकड मे न पराश्रयी है ॥४०६॥

बोले न स्पर्श कि शुभा-शुभ यो किसी से,
संस्पर्श तू कर मुझे कर से रूची से ।
पै स्पर्श स्पर्श रहता वश में न आता,
हो काय का विषय वो पर भिन्न भाता ॥४०७॥

जानो हमे गुण शुभा-शुभ ये कदापि,
ऐसा न बाध्य करते तुमको अपापी ।
वे बुद्धि के विषय मात्र बने हुए है,
होते नही वश स्वतंत्र तने हुए है ॥४०८॥

अच्छे बुरे सब पदार्थ हमे पिछानो,
ऐसा कभी न कहते कि हमे सुजानो ।
वे बुद्धि के विषय मात्र बने हुए है,
होते नही वश स्वतत्र तने हुए है ॥४०९॥

यो भाव की पकड़ से रह मूढ रीता,
जीता पिपासु बन, साम्य सुधा न पीता
सम्भोग का रसिक मात्र परानुरागी,
विज्ञान से विरत है विधि से सरागी ॥४१०॥

अज्ञान से विगत मे निजभाव बाना,
भूला किया अशुभ या शुभ भाव नाना ।
शुद्धात्म को सजग हो उनसे छुडाना,
माना प्रतिक्रमण आज उसे निभाना ॥४११॥

भावी शुभा-शुभ विभाव विकार देखो ।
होंगे प्रमादवश आगम मे अनेको ।
आत्मा स्वय यदि उन्हे निज से हटाता,
है प्रत्याख्यान वह है सुख का विधाता ॥४१२॥

तत्काल जो कलुषराग तरगमाला,
है जन्मती हृदय मे दुख पूर्ण हाला ।
विज्ञान से बस उसे झट से हटाना,
आलोचना वह सही प्रभु का बताना ॥४१३॥

जो प्रत्याख्यान करता रुचिसग साता,
साधु प्रतिक्रमण धार, सदा सुहाता ।
आलोचना सरसि मे डुबकी लगाता,
चारित्र निश्चय जिसे शिर मे नवाता ॥४१४॥

आए हुए उदय मे विधि के फलो को,
आत्मीय मान, चखता जड़ के दलो को ।
मोही नवीन विधि के दुख बीज बोता,
खोता विवेक चिर औ भव बीच रोता ॥४१५॥

आए हुए उदय मे विधि को फलो को,
है भोगता तज कुधी निज मे गुणो को ।
मैंने किया यह सभी जब मान लेता,
मोही नवीन दुख को पुनि मॉग लेता ॥४१६॥

आए हुए उदय मे विधि के फलो को,
जो भोगता तज कुधी निज के गुणो को ।
मोही दुखी यदि सुखी नित हो रहा है,
हा दु ख बीज विधि के पुनि बो रहा है ॥४१७॥

है जानता स्वपर को न कभी निजी से,
वो शास्त्र, ज्ञान नहि हो सकता इसी से ।
पै शास्त्र, शास्त्र 'जड' केवल नाम पाता,
पै ज्ञान, ज्ञान बस चेतन धाम भाता ॥४१८॥

ये शब्द ज्ञान नहि हो सकते इसी से,
वे जानते न परको निजको निजी से,
पै शब्द शब्द पर पुद्‌गल है निराला,
पै ज्ञान ज्ञान बस चेतन है निहाला ॥४१९॥

रे ! रूप, ज्ञान नहि है जिन है बताते,
वे क्योकि आप-पर को नहिं जान पाते ।
तो रूप रूप जडकूप निरा निरा है,
औ ज्ञान ज्ञान जगभूप निरा खरा है ॥४२०॥

ना जानता वह कभी कुछ भी यतः है,
रे वर्ण ज्ञान नहि हो सकता अतः है ।
हो वर्ण, वर्ण यह वर्णन वर्ण का है,
हो ज्ञान ज्ञान, मत दिव्य जिनेन्द्र का है ॥४२१॥

जो जानता न कुछ भी जड़ की निशानी,
है 'गध' ज्ञान नहि है यह वीर वाणी ।
हो 'गध' 'गध' भर ही यह गध गाथा,
हो ज्ञान ज्ञान ध्रुव जीवन संग-नाता ॥४२२॥

ना जानता रस कभी रस को यत. है,
होता न ज्ञान, रस वो रस ही अत· है ।
है ज्ञान भिन्न रस भिन्न निरे निरे है,
ऐसा कहे जिन हुए अघ से परे है ॥४२३॥

वो स्पर्श ज्ञान है नहि कहते यमी है,
हो जानता स्वपर को न यही कमी है ।
हो स्पर्श स्पर्श पर हो जड मात्र न्यारा,
हो ज्ञान ज्ञान गुण चेतन पात्र प्यारा ॥४२४॥

ना कर्म जान सकता कुछ भी यत है,
वो कर्म, ज्ञान नहि हो सकता अत. है ।
है कर्म कर्म पर पुद्‌गल धर्म-वाला,
है ज्ञान ज्ञान शुचिचेतन-शर्मशाला ॥४२५॥

धर्मास्तिकाय वह ज्ञान नही अत है,
वो जानता स्वपर को न कभी यत· है ।
धर्मास्तिकाय वह भिन्न सदा रहा है,
है ज्ञान भिन्न मत यो जिनका रहा है ॥४२६॥

होता न ज्ञान यह द्रव्य अधर्म ज्ञाता-
औचित्य है न कुछ भी वह जान पाता ।
अत्यन्त भिन्न चिर द्रव्य अधर्म भाता,
है ज्ञान भिन्न पर से रखता न नाता ॥४२७॥

वो काल ज्ञान नहिं हो सकता अत· है,
वो काल जान सकता कुछ भी यतः है ।
पै काल काल जड ही चिरकाल भाता,
लो ज्ञान ज्ञान मणिमाल निहाल साता ॥४२८॥

आकाश जान सकता कुछ भी नही है,
आकाश ज्ञान नहि हो सकता सही है ।
आकाश भिन्न यह ज्ञान विभिन्न प्यारा,
देते जिनेश जग को उपदेश सारा ॥४२९॥

होता ना ज्ञान यह अध्यवसान सारा,
वो जानता न कुछ भी जड का पिटारा ।
बोले जिनेश वह अध्यवसान न्यारा,
चैतन्य धाम यह ज्ञान प्रमाण प्यारा ॥४३०॥

है जानता सतत जीव अत: प्रमाणी ।
है शुद्ध ज्ञान घन ज्ञायक पूर्ण ज्ञानी ।
होता न ज्ञान उस ज्ञायक से निराला,
जैसा अनन्य इस दीपक से उजाला ॥४३१॥

विज्ञान संयम सुदर्शन है सुहाता,
औ द्वादशांग श्रुत पूर्ण वही कहाता ।
विज्ञान साधुपन धर्म अधर्म भी है,
ऐसा सदैव कहते बुध ये सभी है ॥४३२॥

आत्मा अमूर्त वह मूर्त कभी नहीं है,
आहार ग्राहक अत: बनता नहीं है ।
आहार मूर्त जड पुद्गल धर्म वाला,
पीते मुनीश कहते शिव शर्म-प्याला ॥४३३॥

होता सदोष गुण है पर द्रव्य ग्राही,
ऐसा सदा समझते शिवराह राही ।
निर्दोष आत्म गुण निश्चय से किसी को,
पै त्यागता न गहता, गहता निजी को ॥४३४॥

ना तो चराचर सजाति विजातियो को,
जो छोडती न गहती पर वस्तुओं को ।
आदर्श सी विमल निर्मल चेतना है,
पूजूँ उसे विनशती चिर वेदना है ॥४३५॥

ये दीखते जगत मे मुनिसाधुवो के,
है भेष, नैक विधि भी गृहवासियो के ।
वे अज्ञ मूढ इनको जब धारते है,
है मोक्ष मार्ग यह यो बस मानते है ॥४३६॥

पर्याप्त केवल नही तन नग्नता है,
तू मान पथ शिवका निज मग्नता है ।
होते निरीह तन से अरिहन्त ताते,
चारित्र बोध दृग लीन स्वगीत गाते ॥४३७॥

पाखडिलिग गृहिलिग धरो तथापि ।
वो मोक्ष मार्ग नहि हो सकता कदापि ।
तीनों मिले चरितदर्शन बोध सोही,
है मोक्ष-मार्ग कहते जिन वीत-मोही ॥४३८॥

सागार और अनगार पदानुराग,
वाक्काय से मनस से झट त्याग जाग ।
सम्यक्त्व बोध व्रत मे शिवपथी मे ही,
भाई विहार कर तो सुख हाथ मे ही ॥४३९॥

ध्याओ निजात्म नित ही निज को निहारो ।
अन्यत्र छोड निजको न करो विहारो ।
संबंध मोक्ष पथ से अविलब जोड़ो,
तो आपको नमन हो मम ये करोड़ो ॥४४०॥

गार्हस्थ्यलिग भर मे मुनिलिग मे ही,
जो मुग्ध साधक रहा बहिरग मे ही ।
अज्ञात ही समयसार उसे रहेगा,
संसार में भटकता दुख ही सहेगा ॥४४१॥

दो द्रव्य भावमय लिंग नितान्त पाये-
जाते विमोक्ष पथ में 'व्यवहार' गाये ।
पै लिंग का न शिव के पथ में सहारा,
'आत्मा' अल सहज निश्चय ने पुकारा ॥४४२॥

साधु स्वयं समयसार सुना सुनाता,
सारांश आदर सदा गुणता गुणाता ।
पीता सदा समयसार-सुधा-सुधारा,
सानन्द शीघ्र तिरता भवसिंधु-दारा ॥४४३॥

समाप्त

हे ! कुन्द-कुन्द गुरु कुन्दनरूपधारी,
स्वीकार हो कृति तुम्हे कृति है तुम्हारी ।
दो ज्ञानसागर गुरो ! मुझको सुविद्या,
विद्यादिसागर बनूँ तज दूँ अविद्या ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible] रहा हूँ!
[illegible]
[illegible] पर,
[illegible] में,
[illegible] हुआ,
[illegible] हुआ
[illegible] हुआ,
[illegible] हुआ,
[illegible] रहा हूँ,
आर-पार [illegible] रहा हूँ।
अपार [illegible] रहा हूँ।
पथ में कोई आपत्ति नहीं है।
आपत्ति की सामग्री अवश्य,
ऊपर-नीचे,
आगे-पीछे
बिछी है।
किन्तु अभी कोई ओर।
छोर
दृष्टि में नहीं आ रही है,

[illegible] नहीं।
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] नहीं।
[illegible]
[illegible]
[illegible]
पर से भिन्न
अपने से अभिन्न
जिस आकाश-मण्डल में
उडुगण की भांति
ज्ञानादि उज्ज्वल उज्ज्वल गुणमणियां
अवभासित हैं,
अवलोकित हैं।

आलोक का परिणमन यहा
घनीभूत प्रतीत होता है।
लो!
यही पर मिथ्यात्व रूपी मगर-मच्छ से भी
साक्षात्कार।
किन्तु उधर से आक्रमण नही,
कटाक्ष नही
सघर्ष के लिये
कोई आमन्त्रण भी नही।
अनन्तकाँटो से निष्पन्न
उसका शरीर है।
कठोरता का शुद्ध परिणमन
कठोरता की परम सीमा है।
परन्तु मृदुता विरोध नही करती।
विरोध मे बोध कहाँ ?
बोध बिना शोध कहाँ ?
विरोध तो अज्ञान का प्रतीक,
अन्धकार॥
ओ!
नयन-गवाक्षो से
फूटती हुई
अबाधित ज्योति किरण
मेरी ओर चान्दी की पतली धार सी,
आ रही है।
सानन्द आसीन है,
सत्तागत अनन्तानुबन्धी सर्प
कदर्प-दर्प से पूरा भरा है।
ज्ञान-ज्ञेय का सहज सम्बन्ध हुआ।
शुद्ध-सुधा
और विष का सगम हुआ।
यह ज्ञान के लिए अपूर्व अवसर है।
ज्ञान न तो दुखित हुआ,
न सुखित हुआ
किन्तु यह सहज
विदित हुआ
कि
ध्यान-ध्येय के सम्बन्ध से भी
ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध
महत्वपूर्ण है
पूर्ण है।
सहज है।
कोई तनाव नही।
इसमे केवल स्वभाव है।
भावित भाव।
ध्येय एक होता है।
जब ध्यान ध्येय मे उतरता है,
तब ज्ञान सकीर्ण होता है,
ससीम होता है।
सकुचित ज्ञान
अनत का मुख, छू नही सकता।
अत ज्ञान प्रवाहित होता हुआ,
अनाहत बहता हुआ
जा रहा है।
सहज अपनी स्वभाविक गति से।
अद्भुत है।
अननुभूत है।
विकार नही,
निर्विकार है।
तप्त नही,
क्लान्त नही।
तृप्त है,
शान्त है।
जिसमे नही ध्यान्त है।
जीवित है

[illegible]

[illegible]

प्रकाश मे प्रकाश का [illegible]।
विकाश मे विकाश का [illegible] होता हुआ,
सम्मिलित होता हुआ,
सत साकार हो उठा।
आकार मे निराकार हो उठा।
इस प्रकार
उपयोग की इसी यात्रा
सत, त्यत और तत को
चीरती हुई

ज्ञात से अज्ञात की ओर जाने के लिए भगवत् कुन्दकुन्द आचार्य कृत समय-सार पथ एव पाथेय का कार्य करता है। इसका आश्रय लेकर ही सत-पथ-पथिक, ध्रुव-बिन्दु की ओर गतिमान होता हुआ, समुचित -समय पर कृत-कृत्य हो जाता है। सत्य तथ्य पाता है। ऐसे अपूर्व ग्रन्थराज समयसार के ऊपर, सर्वप्रथम अमृत चन्द्र सूरिजी ने आत्म-ख्याति नामक वृहत्त सस्कृत टीका का अविर्मान किया जो अपने आप मे एक अनुपम निधि है। मैंने जब इसका अवलोकन किया, तब भाषा की गहनता का पूर्ण परिचय मिला और साथ-साथ अनुपम पद लालित्य ने मन को मोहित किया। इसी पद लालित्य ने इस कृति का बार-बार अवलोकन कराया। फलस्वरूप विषय विदित हुआ, अवगत हुआ, आत्मा से सहज सगम हुआ।

समय-सार

हम भाषा के माध्यम से मन मे उठते हुए विचारो को दूसरो तक सहज एव स्पष्टरूपेण भेज सकते है। इसी प्रकार ग्रथ के गूढतम विषयो को टीकाओ, भाष्यो एव अनुवादो के माध्यम से अवगत करा सकते हैं। भाव स्पष्ट करने की पद्धति भिन्न-भिन्न हो सकती है। कोई लेखक गद्य के, कोई पद्य के, कोई अभय नाटक (चम्पू) के माध्यम से ग्रन्थ के आशय को उद्घाटित करते है। प्रासगिक समयसार पर लिखी हुई आत्म-ख्याति टीका भी नाटक-पद्धति का अनुकरण करती है जो विश्व का प्रथम संस्कृत नाटक काव्य माना जा सकता है। अत इस नाटक काव्य के अन्तर्गत आई हुई २७८ भिन्न-भिन्न कारिकाओं का (काव्यों का) पृथक् रूपेण सकलन कर ग्रन्थ का रूप देना नाटक काव्य-प्रणाली को समाप्त-लुप्त करना है जो इष्ट नहीं है। तथापि हमने इन कारिकाओ का पृथक् जो पद्यानुवाद किया है, उसका कारण भिन्न है। उसका स्पष्टीकरण यही आगे करेंगे।

आचार्य कुन्दकुन्द की तीन रचनाये बहुत प्रौढ मानी जाती है। एक प्रवचन सार, दूसरा पचास्तिकाय और तीसरा समयसार। इन्ही तीन रचनाओ पर पू अमृतचन्द्र सूरि ने विशद्-सस्कृत टीकायें लिखी है जो भाषा की दृष्टि से बहुत क्लिष्ट बन पडी है और शब्दान्वयी नही होने से प्रत्येक पाठक की, मूल तक गति नही हो पाती है। इन्ही समयसार आदि पर पूज्य जयसेन आचार्य कृत टीकाये, जो शब्दान्वयी है, उपलब्ध होती है, अत सुगम सरस होने से मूल ग्रन्थो की कली-कली खोलती है। कुन्दकुन्द से परिचय कराती है। एक विशेष ध्यान देने की बात यह है कि इस अभय टीकाओ मे मूल गाथाओं की सख्या समान नही मिलती।

पूज्य श्री अमृतचन्द्र की टीकागाथा में कम और आचार्य श्री जयसेनजी की टीकाओं में अधिक। (बहुत कुछ विचार करने के उपरान्त भी इसका हल नहीं मिला था) किन्तु जब प्रवचन-सार की चूलिका का लेखन कर रहा था, उस समय एक विशेष प्रसंग पर ध्यान गया - वह प्रसंग है "श्री मुनि-दीक्षा का"। वहाँ पर एक साथ १०-१२ गाथायें ऐसी हैं जिन पर श्री अमृतचन्द्र सूरिजी की टीका उपलब्ध नहीं होती। जबकि उन सभी प्रासंगिक गाथाओं की टीका श्री जयसेनजी ने लिखी है। ज्ञात होता है कि श्री अमृतचन्द्रजी को श्री मुनि-दीक्षा का प्रसंग इष्ट प्रतीत नहीं हुआ। आगे जाकर उभय टीकाओं की समाप्ति पर क्रमशः जो प्रशस्तियाँ भी मिलती हैं। श्री अमृतचन्द्रसूरि कृत टीका के अन्त में जो प्रशस्ति लिखी गई है, उसमें काष्ठा संघ की परम्परा का ज्ञान प्राप्त होता है और श्री जयसेनजी को मूल संघ के अन्तर्गत माना गया है। इस प्रकार उभय प्रशस्तियों से ज्ञात होता है कि श्री श्री जयसेनजी मूल संघ के और अमृतचन्द्र सूरिजी काष्ठा संघ के सिद्ध होते हैं। टीकागत गाथायें कम क्यों? इस विषय की अन्वेषणा ने मुझे नव निर्णय कराया। इससे एक नवीन विषय उपलब्ध हुआ।

मनोगत भावों को भाषा का रूप देना तो कठिन है ही, उन्हें लयबद्ध करना उससे भी कठिन है। भाषा को काव्य के साँचे में ढालना तो कठिन से कठिनतर कार्य है। प्रत्येक लेखक को काव्य कला प्राप्त नहीं होती। काव्य-कला निष्णात लेखनी से, काव्य के नियमों का उल्लंघन किए बिना, भाषा एक विशेष लय में ढलती जाती है और वही काव्य बनता है। श्राव्य बनता है। सामान्यतः पद्यात्मक रचना को ही काव्य संज्ञा प्राप्त है। किन्तु काव्य का यह सही लक्षण नहीं है। कवेः कृति काव्यम्। कवि की प्रत्येक कृति काव्य है। चाहे गद्य हो, चाहे पद्य वह काव्य है जिससे पर्याप्त मात्रा में लय-ध्वनियाँ प्रकटती हों। आत्म-ख्याति भी एक अनुपम काव्य है जो अध्यात्म रस से भरपूर है। उस काव्य में, नाटक की पद्धति होने से, प्रत्येक अधिकार में कुछ पद्य काव्य भी हैं जो काव्य-रसिक-पाठक के चंचल मन को अविचल बनाते हैं और अध्यात्म की गहराइयों में सहज ही ले जाते हैं। उन पद्य काव्यों की संख्या २७८ है। उन्हीं का संकलन आज वर्तमान में कलशा के नाम से ख्याति प्राप्त है। किन्तु ये भिन्न-भिन्न छन्दो-बन्धनों से अलंकृत हैं। कहीं अनुष्टुप आर्या, द्रुतविलंबित आदि छन्द हैं, तो कहीं मन्दाक्रान्ता, शार्दूल, शिखरिणी वसन्ततिलका, स्रग्धरा, मालिनी आदि छन्द हैं। इससे यह भी ज्ञात होता है कि आचार्य श्री को केवल छन्द शास्त्र का ही ज्ञान नहीं, अपितु उन पर अधिकार भी है।

लयात्मक काव्य का (अतुकान्त) आविष्कार

कुछ दिनो तक इस कलश का प्रतिदिन पाठ भी किया करता था। फलस्वरूप कुछ काव्य कण्ठस्थ भी हुए थे। किन्तु १८८ वा काव्य, जिसमे यद्यपि लय की धारा प्रवाहित है, कण्ठस्थ होना तो दूर रहा, किन्तु कण्ठ को ही पकडने लगा, लगा मुझे, इस काव्य मे अवश्य दोष है या मुझे इस छन्द का ज्ञान नही है। तब भिन्न-भिन्न सस्थाओ से प्रकाशित समयसार का एव कलशो का अवलोकन प्रारम्भ किया। किन्तु कुछ भी हाथ नही लगा। एक दिन निर्णय सागर मुद्रणालय से मुद्रित प्रथम गुच्छक का अवलोकन कर रहा था। तब प्रासंगिक काव्य को सख्या क्रम में तो स्थान मिला था, परन्तु इस काव्य के सम्मुख प्रश्नार्थक चिन्ह अवश्य लगा था तब लगा कि इस काव्य मे कुछ ना कुछ रहस्य अवश्य है। इसी वर्षा योग की बात है, सिद्ध क्षेत्र नैनागिरि पर डा पन्नालालजी साहित्याचार्य से भी इस काव्य के सम्बन्ध मे चर्चा हुई। आपने भी यह कहा कि आज तक इसके सम्बन्ध मे कुछ निर्णय नही हुआ कि यह गद्य है या पद्य और कुछ ऐसे ही प्रकरण हरिवश आदि पुराणो मे भी उपलब्ध होते है। पंडितजी के विचार सुनकर और भी अभिरुचि बढ गई कि इस काव्य के सम्बन्ध मे सही-सही निर्णय लेना ही होगा। अत इस ओर अविरल चिन्तन की धारा चलती ही रही। उसी का यह सुफल मानता हूँ कि आकस्मिक, गत तीन-चार वर्षों पूर्व की बात स्मृति मे उतर आई। वह भी "निराला" की अनामिका और तार सप्तक अज्ञेय का सपादन। इन कृतियो मे भी भाषा न तो गद्य मे ढली है और न तो छन्दो-बद्ध पद्य मे सब बन्धनो से मुक्त, स्वतन्त्र। किन्तु भाषा मे उच्छ्रखलता, स्वच्छन्दता नही, एक लय बद्ध-धारा मे भाषा अपनी सहज गति से प्रवाहित है। यद्यपि सर्वप्रथम इन कृतियो का हिन्दी साहित्य क्षेत्र में समादर नही हुआ, तथापि नूतन-आविष्कार होने से दिनो-दिन लोकप्रियता बढती गई और ये कृतिया विशेष सम्मानित है इसीलिए निराला आदि कवियों को हिन्दी कवि-जगत् लयात्मक नूतन काव्यो के आविष्कर्ता स्वीकार करता है।

इससे यह पूर्ण निर्णय होता है कि प्रासंगिक कलशा काव्य सदोष नहीं किन्तु निर्दोष, एक लयात्मक काव्य है जो हिन्दी लयात्मक काव्यो की अपेक्षा प्राचीनतम है। ऐसी स्थिति मे आ पूज्य अमृतचन्द्रजी सस्कृत-लयात्मक काव्य के आद्य आविष्कर्ता है। अत केवल जैन समाज के लिए ही नही अपितु दिगम्बर साधुओ के लिए भी यह गौरव का विषय है।

ज्ञान आत्मा का अनन्य गुण है। वह आत्मा से किसी भी तरह कभी पृथक् हो नही सकता। उसका कार्य केवल ज्ञेय-भूत पदार्थो को जानना है ज्ञेय भूत पदार्थ स्व भी हो सकता है पर भी। किन्तु समयसार मे, आत्म ज्ञान की प्राप्ति के लिए, ज्ञान और तद्वान ज्ञानी की स्तुति की गई है। वह ज्ञान सामान्यत. तीन प्रकार का है। शब्द-ज्ञान, अर्थ ज्ञान और ज्ञानाभूति। जैसाकि 'आत्मा' उस शब्द का स्वर व्यजन के साथ ज्ञान होना, शब्द ज्ञान है - अर्थात उस ज्ञान के साथ अर्थ ज्ञान और ज्ञानानु-भूति का सम्बन्ध नही रहता। केवल तोते के समान 'आत्मा' 'आत्मा' रटना होता है। उस ज्ञान के उपरान्त, अर्थ ज्ञान होता है। यह पदार्थ के स्वरूप, लक्षण, गुण धर्म के सम्बन्ध मे परोक्ष रूप ज्ञान कराता है। जसेकि आत्मा अमूर्त है, ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाला है इत्यादि। इन दोनो ज्ञानो के साथ आत्म पदार्थ सम्बन्धी यथार्थ श्रद्धान तो हो सकता है, किन्तु तदनुभूति का कोई नियम नहीं है। हा, प्राप्त श्रद्धान के बल पर ही उसकी यात्रा ज्ञानानुभूति के लिए होगी। ऐसी ज्ञानानुभूति जब तक परिग्रह एव प्रमाद-दशा रहेगी तब तक केवल गृहस्थ को ही नही अपितु दिगम्बर मुनियो के लिए भी प्राप्त नही होगी। परिग्रहवान् को भी यदि ज्ञानानुभूति (आत्मानुभूति) का लाभ हो जाये तो कैवल्य प्राप्ति भी होना चाहिए, क्योंकि कैवल्य का कारण ही ज्ञानानुभूति, आत्मानुभूति है। अतः गृहस्थ दशा मे ज्ञानानुभूति मानना कैवल्य ज्ञान को प्रकारान्तर से उसी दशा मे मानना है। यह महान दोष है एव सिद्धान्त विरुद्ध है संप्रति ऐसे भी अध्यात्म प्रेमी बन्धु हैं जो शब्द-ज्ञान एवं अर्थ-ज्ञान भर को ज्ञानानुभूति-आत्मानुभव मान कर विषय वासना मे आपाद-कण्ठ डूबे है और बताते है कि विषय-वासना तो चरित्र-मोहनीय का परिणाम है। हम तो ज्ञान मे व्यस्त है, मस्त है। एकान्त से उनका भी यह कहना दोषपूर्ण नहीं है क्योंकि समय-सार ही एक ऐसा ग्रथ है कि अच्छे-अच्छे विद्वान भी उसके सही-सही अर्थ से भाव से वचित रह जाते है। आज से वर्षो पूर्व की बात है कि समयसार का गहन अध्ययन करते हुए भी प. कविवर बनारसीदासजी बिना रस के ही रहे। उन्ही के शब्दो मे देखिए ॥

करनी को तो रस मिट्यो आयो न निज को स्वाद।
भई बनारसी की दशा जैसो ऊट को पाद ॥

समयसार, समयसार कलश आदि इन ग्रन्थों मे, सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी, सम्यग्दृष्टि का भोग, निर्जरा का कारण, इत्यादि प्रयोगो का बाहुल्य है। अत पाठक सहज ही यह निर्णय ले लेता है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान गृहस्थावस्था [illegible] है। अत पूर्वकृत-कर्मो की निर्जरा होगी ही। भोग भले, भोगते रहो,

उससे कुछ होने वाला नहीं है इत्यादि। इससे विदित होता है कि प बनारसीदासजी परम्परा अभी अबाधित चल रही है। बुद्धिमानो को यह विचार करना चाहिए कि भोग निर्जरा कारण हो तो बन्ध का कारण क्या होगा ? और 'सम्यग्दृष्टि का भोग' निर्जरा का कारण है तो कौन से सम्यग्दृष्टि का भोग निर्जरा का कारण है ? क्योंकि शुभोपयोग मे आया हुआ सम्यग्दृष्टि जब देव गुरु आदि आराध्यो की आराधना करता है तब उसका भी उपयोग बन्ध का कारण है, ऐसा आगम मे उल्लेख मिलता है। बात यह है कि सम्यग्दृष्टि मुनि या श्रावक के पूजन आदि आवश्यक तो बन्ध का कारण और सम्यग्दृष्टि का भोग निर्जरा का कारण, यह किस दशा मे ?

बन्धुओ ! इन समयसारादि अध्यात्म ग्रन्थो मे वीतरागी सम्यग्दृष्टि को ही ग्रहण किया है और वीतराग चरित्र के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाला वीतराग विज्ञान ज्ञानानुभूति या आत्मानुभव स्वीकार किया है। अत ये रत्नत्रय की निधिया अपरिग्रही नि सग दिगम्बर मुनियो मे ही उपलब्ध हो सकती हैं। उनका जो पूर्व कर्म के उदय से अनिच्छापूर्वक पंचेन्द्रिय विषयो का भोग भोगना होता है वह निर्जरा का कारण होता है रागपूर्वक भोग तो केवल बन्ध का ही कारण है।

अत: गृहस्थ दशा मे राग के साथ भोगानुभूति तो सभव है किन्तु ज्ञानानुभूति, उपयोगानुभूति तो त्रिकाल असभव। हा ज्ञानानुभूति या आत्मानुभूति ही उपादेय है, ऐसी भावना वह गृहस्थ सराग सम्यग्दृष्टि सध्याकालीन सामायिको मे भा सकता है, कर सकता है, करता ही है, किन्तु भावना और अनुभूति, इस दोनो मे उतना ही अन्तर है, जितना अन्तर जल के चिन्तन में और जलपान मे। अस्तु !

इसी विषय को पुष्ट एव स्पष्ट करने वाले प्रसग कलशा का अनुवाद देखिए !

ज्ञान बिना, रट निश्चय, निश्चय निश्चयवादी भी डूबे,
क्रिया-कलापि भी ये डूबे, डूबे सयम से ऊबे ।
प्रमत बन कर कर्म न करते अकम्प, निश्चल शैल रहे,
आत्म-ध्यान मे लीन किन्तु मुनि, तीन लोक पे तैर रहे ॥१११॥

वीतराग-विज्ञान को स्वीकार किए बिना विषय-कषाय रूपी दलदल में फसे हुए, अपने आपको ज्ञानी मानने वाले, दम्भी निश्चय-वादी, केवल निश्चय की दिन रात रट लगाते लगाते डूब गये अर्थात् ससार समुद्र को पार नही कर पाये। उसी प्रकार वीतराग की भूमिका का बहि निर्वाह करने वाला-दिगम्बरत्व को स्वीकार करते हुए भी कुछ ऐसे मुनि, जो मात्र बाह्य क्रिया काण्ड मे दिन रात लीन है, वे भी

भव-कूल-किनारा नहीं पाये। डूब गये। और संयम से भयभीत होने वाले भी संसार सागर मे डूब गये! किन्तु ख्याति-पूजा-लाभादिक की वांछा नहीं रखने वाले सभी प्रकार के प्रमादो से दूर, अप्रमत दशा का अनुभव करते हुए निर्विकल्प-समाधि मे लीन, पर्वत के समान निश्चल, आत्मानुभूति के बल पर वीतरागी ज्ञानी मुनिराज तैर रहे है। वे अब संसार-सागर मे डूब नहीं सकते।

ऐसे ही अनेक प्रसंग शुभचन्द्राचार्य कृत ज्ञानार्णव मे भी उपलब्ध होते है। यथा-

रत्नत्रयमनासाद्य य· साक्षाद्ध्यातुमिच्छति।
खपुष्पे कुरुते मूढ: स वन्ध्या सुत शेखरम् ॥

आकाश के फूलो से वन्ध्या के पुत्र के लिए सेहरा (मुकुट) बनाने का प्रयास करने वाला जैसा मूर्ख माना जाता है, वैसा ही रत्नत्रय अर्थात महाव्रत को स्वीकार किए बिना जो आत्मध्यान की इच्छा करता है वह मूर्ख माना जाता है।

अनिषिध्याक्ष संदोह य: साक्षात मोक्तुमिच्छति।
विदारयति दुर्बुद्धि स शिरसा मही धरम् ॥

इन्द्रिय-दमन किये बिना, जो व्यक्ति मोक्ष-ध्यान के फल को प्राप्त करने मे उद्यत हुआ है वह उसी तरह हास्य का पात्र है जिस तरह कोई मूढ-मति-हीन, मस्तक के बल पर पर्वत को फोडने मे रत है। यह निश्चित है कि पर्वत के बदले मे उसका मस्तक ही फूटेगा।

अत: वीतराग स्वसंवेदन, वीतराग सम्यग्दर्शन, वीतराग चारित्र, शुद्धोपयोग, स्वरूपाचरण, शुद्ध ज्ञान चेतना, शुद्धात्मानुभूति, निर्विकल्प समाधि, आत्मा-ध्यान आदि, इस अपूर्व निधियो का अधिकारी-स्वामी कौन हो सकता है यह गूढ रहस्य उद्घाटित हो इसी भावना से कलशा का पृथक् रूपेण भावानुवाद (पद्यानुवाद) किया है। किन्तु अब अनुभव कर रहा हूँ कि इन विषयो को और स्पष्ट करने हेतु कलशा, भले ही छोटा हो, परन्तु भाष्य नितान्त आवश्यक है। देखो !! समय पर !!! सम्भावना है!

प्रेरणा

सर्व सेवा सघ, वाराणसी से प्रकाशित समणसुतम् का पद्यानुवाद "जैन गीता" के नाम से जो किया है, उसी पूर्वार्द्ध की पाडुलिपि सतना में पूर्ण की। उसे देख कर स्थानीय धर्म-प्रेमी श्री धीमान् नीरजजी ने कहा कि जैन गीता को पूर्ण करने के उपरान्त हिन्दी के प्रचलित छन्द मे कलशा का पद्यानुवाद हो तो एक नई चीज हम लोगो को उपलब्ध होगी। उत्तर मे मैने और कुछ नही कहा देखो !!! समय पर जो बन जाये !! अभी तो जैन गीता पूर्ण करना है।

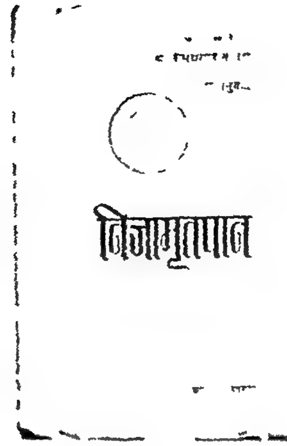
उसी समुचित प्रेरणा का यह सुफल है कि "जैन गीता" को सिद्ध क्षेत्र कुण्डल गिरि पर पूर्ण करने के उपरान्त, उसी पवित्र स्थान पर, ग्रन्थराज समयसार का भी पद्यानुवाद "कुन्द कुन्द का कुन्दन" के नाम से पूर्ण किया। आज यह अध्यात्मरस से भरपूर कलशा का पद्यानुवाद "निजामृत-पान" के रूप मे प्रस्तुत है जो "मेरी-भावना" के लय पर है तथा इस छन्द का नाम आचार्य गुरुवर ज्ञानसागरजी महाराज की पुण्य स्मृति मे ज्ञानोदय रखा है। हा ! यह अनुवाद कही-कही पर शब्दानुवाद बन पडा, तो कही-कही पर भाव निखर आया है। आशा ही नही अपितु विश्वास है कि "निजामृत पान" का पान कर भव्य मुमुक्षु पाठकगण भावातीत ध्यान मे तैरते हुए अपने आप को उत्सर्गित पायेंगे, चेतना मे समर्पित पायेंगे।

यह सब स्व वयोवृद्ध, तपोवृद्ध एव ज्ञानवृद्ध आचार्य गुरुवर श्री ज्ञानसागरजी महाराजश्री के प्रसाद का परिपाक है। परोक्ष-रूप से उन्हीं के अभय चिन्ह-चिन्हित-युगल कर-कमलो मे "निजामृतपान" का समर्पण करता हुआ ।

गुरुचरणारविन्द चचरीक
ॐ शुद्धात्मने नम
ॐ निरजनाय नम.
ॐ जिनाय नम·
ॐ निजाय नम

- आचार्य विद्यासागर

वीर जयन्ती
(चैत शुक्ला त्रयोदशी)
वीर स २५०४
दमोह (कुण्डलपुर)



निजामृत पान

मूल समयसार कलश (संस्कृत)

रचनाकार आचार्य अमृतचंदजी

पद्यानुवाद - आचार्य विद्यासागर

निजामृतपान

मंगलाचरण

दोहा:

देवशास्त्र गुरु स्तवन

सन्मति को मम नमन हो, मम मति सन्मति होय ।
सुर-नर-पशु-गति सब मिटे, गति पंचम-गति होय ॥१॥

चन्दन चन्दर-चांदनी, से जिन-धुनि, अति शीत ।
उसका सेवन मै करू, मन-वच-तन कर नीत ॥२॥

सुर, सुर गुरु तक, गुरु चरण-रज सर पर सुचढाय ।
यह मुनि, मन गुरु भजन मे, निशि-दिन क्यो न लगाय ? ॥३॥

श्री कुन्द कुन्दाय नमः

"कुन्द कुन्द" को नित नमूँ, हृदय कुन्द खिल जाय ।
परम सुगन्धित महक मे, जीवन मम घुल जाय ॥४॥

श्री अमृतचन्द्राय नमः

"अमृतचन्द्र" से अमृत है, झरता जग अपरूप ।
पी पी मम मन मृतक भी, अमर बना सुख कूप ॥५॥

श्री ज्ञानसागराय नमः

तरणि "ज्ञानसागर" गुरो ! तारो मुझे ऋषीश ।
करुणाकर ! करुणा करो, कर से दो आशीष ॥६॥

प्रयोजन

अमृत-कलश का मै करूँ, पद्यमयी अनुवाद ।
मात्र कामना मम रही, मोह मिटे परमाद ॥७॥

ज्ञानोदय-छन्द

मणिमय, मनहर निज अनुभव से झग झग झग झग करती है ।
तमो रजो अरु सतोगुणो के गण को क्षण मे हरती है ।
समय समय पर समय-सार मय चिन्मय निज ध्रुव मणिका को,
नमता मम निर्मम मस्तक, तज मृणमय जडमय मणिका को ॥१॥

गाती रहती गुरु की गरिमा अगणित धारे गुण गण है,
मोह मान मद माया मद से हरित हुए है ये जिन है ।
अनेकान्तमय वाणी जिनकी जीवित जग मे तब लौ हो,
रवि शशि उडुगण लसते रहते विस्तृत नभ मे जब लौ हो ॥२॥

समय सार की व्याख्या करता, चाहूँ कुछ नहि विरत रहूँ,
चिदानन्द का अनुभव करता निशिदिन निज में निरत रहूँ ।
मोह भाव मम बिखर-बिखर कर क्षण-क्षण कण-कण मिट जावे,
पर परिणतिका मूल यही बस मोह मूल झट कट जावे ॥३॥

स्यात् पद भूषित, दूषित नहि है जिन वच मुझे सुहाते है,
उभय-नयो के आग्रह कर्दम इकदम स्वच्छ धुलाते है ।
जिन वच रमता, सकल मोह मुनि बन वन मे वमन किया,
समकित अमित 'समय' लख मुनि ने शत शत वन्दन नमन किया ॥४॥

निर्विकल्पमय समाधि जब तक साधक मुनिगण नहि पाते,
तब तक उनको प्रभु का आश्रय समयोचित है मुनि गाते ।
निश्चय नयमय नभ मे लखते चम चम चमके चेतन ज्योत,
अन्तर्विलीन मुनिवर को पर, प्रभु आश्रय तो जुगनू ज्योत ॥५॥

विशुद्ध नय का विषय भूत उस विरागता का पूरा-पन,
पूर्ण ज्ञान का अवलोकन औ सकल सग से सूना-पन ।
निश्चय सम्यग्दर्शन है वह वही निजामृत है प्यारा,
वही शरण है वही शरण लूँ तज नव-तत्त्वो का भारा ॥६॥

निर्मल निश्चय-नय का जब-तक आश्रय करिए अवधारण हो,
अन्तर्जगती-तल जब तक रग रग रग रग जाग्रत हो।
फलतः निश्चित लगता नहीं था मुनि के मन में मैलापन,
नव तत्त्वों में भला रहा हो चला न जाता उजला-पन ॥७॥

नव तत्त्वों में रहा करे चेतन गुणमय तन के स्थानन में,
अनुमानित है चिर से सोना कनक कनक पाषाणन में।
वहीं दीखता समाधि रत को शोभित नृतिमय शाश्वत है
एक अकेला तन से न्यारा ललाम आनंद भास्वत है ॥८॥

निजानुभव का उद्भव उसमें विराग मनि में हुआ नहीं,
भेदभाव का खेदभाव का प्रलय नियम से हुआ नहीं।
प्रमाण नय निक्षेपादिक सब पता नहीं कब मिट जाते,
उदयाचल पर अरुण उदित हो उडुगण चुप लुप छुप जाते ॥९॥

आदि रहित है मध्य रहित है अन्त रहित है अरहन्ता,
विकल्प जल्पों संकल्पों से रहित अवगुणों गुणवन्ता।
इस विध गाता निश्चय नय है पूरण आनंद प्रकटाता,
समरस रसिया ऋषि उसमें ही उदित उजाला उपजाता ॥१०॥

क्षणिक भाव है तणिक काल लों ऊपर ऊपर दिख जाते
तन मन वच विधि दृग चरणादिक जिसमें चिर नहि टिक पाते।
निजमें निज से निज को निज ही निरख निरख तू नित्यालोक,
सकल मोह तज फिर झट करले अवलोकित सब लोकालोक ॥११॥

विशुद्ध नय आश्रय ले होती स्वानुभूति है कहलाती,
वही परम ज्ञानानुभूति है वाणी जिनकी बतलाती।
जान मान कर इस विध तुमको निजमें रमना वांछित है,
निर्मल बोध निरंतर प्यारा परित पूर्ण प्रकाशित है ॥१२॥

आत्मध्यान मे विलीन होकर मोह भाव का करे हनन,
विगत अनागत आगत विधि के बन्धन तोडे झट मुनिजन ।
शाश्वत शिव बन शिव सुख पाते लोक अग्र पर बसते है,
निज अनुभव से जाने जाते कर्म-मुक्त, ध्रुव लसते है ॥१३॥

चिन्मय गुण से परिपूरित है परम निराकुल छविवाली,
बाहर भीतर सदा एकसी लवण डली सी अति प्यारी ।
सहज स्वय बस लस लस लसती ललित-चेतना उजयाली,
पीने मुझको सतत मिले बस समता-रस की वह प्याली ॥१४॥

ज्ञान सुधा रस पूर्ण भरा आतम नित्य निरजन है,
यदपि साध्य साधक वश द्विविधा तदपि एक मुनि रजन है ।
ऋद्धि सिद्धि को पूर्ण वृद्धि को यदि पाने मन मचल रहा,
स्वातम साधन करलो, करलो चंचल मन को अचल अहा ॥१५॥

द्रव्य दृष्टि से निरखो आतम एक एक आकार बना,
पर्यय दृष्टि बनती दिखता अनेक नैकाकारतना ।
चचल मन मे वही उतरता विद्यादृगव्रत धरा हुआ,
दिखता समाधिरत मुनियो को सचमुच चिति से भरा हुआ ॥१६॥

दृग-व्रत बोधादिक मे साधक नियम रूप से ढलता है,
पल-पल-पग-पग आगे बढता अविरल शिवपथ चलता है ।
एक यदपि वह तदपि इसी से बहुविध स्वभाव धारक है,
इस विध यह व्यवहार कथन है कहते मुनि व्रत पालक है ॥१७॥

पूर्ण रूप से सदा काल से व्यक्त पूर्ण है उचित रहा,
ज्ञान-ज्योति से विलस रहा है एक आप से रचित रहा ।
वैकारिक-वैभाविक भावो का निज आतम नाशक है,
इसीलिये वह माना जाता एक भाव का शासक है ॥१८॥

एक स्वभावी नक स्वभावी द्रव्य गुणों से खिलता है,
ऐसा आतम चिन्तन से वह मोक्ष धाम नहीं मिलता है ।
समकित विद्यावत से मिलती मुक्ति हमें अविनश्वर है,
सच्चा साधन साध्य दिलाता इस विध कहते ईश्वर है ॥१९॥

रत्नत्रय में ढली धुली पर मिली खिली इक सारा है,
धारा प्रवाह बहती रहती जीवित चेतन धारा है ।
कुछ भी हो पर स्वयं उसी में अवगाहित निज करता हूँ,
नहि-नहि उस बिन शांति, नमि हो, आत्म-पाप सब हरता हूँ ॥२०॥

स्वपर बोध का मूल स्वानुभव जहाँ जगत प्रतिबिम्बित हो,
जिन-मुनिवर को मिला स्वत या सुन गुरु वचन अशंकित हो ।
पर न विभावों से वे अपना कलुषित करते निजपन है,
कई वस्तुयें झलक रही है तथापि निर्मल दर्पण है ॥२१॥

मोह मद्य का पान किया चिर अब तो तज जड़मति ! भाई,
ज्ञान सुधारस एक घूंट ले मुनि जन को जो अति भाई ।
किसी समय भी किसी तरह भी चेतन तन मे ऐक्य नहीं,
ऐसा निश्चय मन मे धारो, धारो मन में दैन्य नहीं ॥२२॥

खेल खेलता कौतुक से भी रुचि ले अपने चिन्तन मे
मर जा "पर कर निजानुभव कर" घडी घडी मत रच तन मे ।
फलत पल मे परम पूत को द्युतिमय निज को पायेगा,
देह-नेह तज, सज-धज निजको निज से निज घर जायेगा ॥२३॥

दशो दिशाओ को है करते स्नपित सोम्य शुचि शोभा से,
शत शत सहस्र रवि शशियो को कुन्ठित करते आभा से ।
हित मित वच से कर्ण तृप्त है करते दश-शत-अठ गुण-धर,
रूप सलोना धरते, हरते जन मन जिनवर है मुनिवर ॥२४॥

गोपुर नभ का चुम्बन लेता ढलती वन-छवि वसुधातल,
गहरी खाई मानो पीती निरी तलातल रासातल ।
पुर वर्णन तो पुर वर्णन है पर नहि पुर-पति की महिमा,
मानी जाती इसीलिये वह केवल जडमय पुर महिमा ॥२५॥

अनुपम अद्भुत जिनवर मुख है रग रग मे है रूप भरा,
जय हो सागर सम गभीर शम यम दम का कूप निरा ।
रूपी तन का "रूप रूप" भर तन से जिनवर है न्यारे,
इसीलिए यह तन की स्तुति है मुनिवर कहते है प्यारे ॥२६॥

तन की स्तुति से चेतन-स्तुति की औपचारिकी कथनी है,
यथार्थ नहि तन चेतन नाता यह जिन-श्रुति, अघ-मथनी है ।
चेतन स्तुति पर चेतन गुण से निर्विवाद यह निश्चित है,
अत ऐक्य तन चेतन मे वो नहीं सर्वथा किंचित है ॥२७॥

स्वपर तत्व का परिचय पाया निश्चय नय का ले आश्रय,
जड काया से निज चेतन का ऐक्य मिटाया बन निर्भय ।
स्वरस रसिक वर बोध विकासित क्या नहि उस मुनिवर मे हो,
भागा बाधक ! साधा साधक ! साध्य सिद्ध बस पल मे हो ॥२८॥

सयम बाधक सकल संग को मन वच तन से त्याग दिया,
बना सुसयत, अभी नही पर प्रमत्त पर मे राग किया ।
तभी सुधी मे निजानुभव का उद्भव होना सभव है,
पर भावो से रहित परिणती अविरत मे ना सभव है ॥२९॥

सरस स्वरस परिपूरित परित सहज स्वयं शुचि चेतन का,
अनुभव करता मन हर्षाता अनुपम शिव सुख केतन का ।
अत नहीं है कभी नही है मान मोह-मद कुछ मेरा,
चिदानन्द का अमिट धाम हूँ द्वैत नही अद्वैत अकेला ॥३०॥

राग द्वेष से दोष कोष से सुदूर शुचि उपयोग रहा,
शुद्धातम को सतत अकेला बिना थके बस भोग रहा ।
निश्चय रत्नत्रय का बाना, धरता नित अभिराम रहा,
विराम-आतम उपवन मे ही करता आठो याम रहा ॥३१॥

परम शान्त रस से पूरित वह बोध सिन्धु बस है जिनमे,
उज्ज्वल उज्ज्वल उछल रहा है पूर्ण रूप से त्रिभुवन मे ।
भ्रम विभ्रम नाशक है प्यारा इसमे अवगाहन करलो,
मोह ताप सतप्त हुए हो हृदय ताप को तुम हरलो ॥३२॥

भव बन्धन के हेतु भूत सब कर्म मिटाकर हर्षाता,
जीव देहगत भेद भिन्नता भविजन को है दर्शाता ।
चपल पराश्रित आकुल नहि पर उदार धृनि धर गत आकुल,
हरा भरा निज उपवन मे नित ज्ञान खेलता सुख सकुल ॥३३॥

राग रग से अग अग से शीघ्र दूर कर वच तन रे !
सार हीन उन जग कार्यो से विराम ले अब अयि ! मन रे !
मानस-सर मे एक स्वय को मात्र मास छह देख जरा,
जड से न्यारा सबसे प्यारा शिवपुर दिखता एक खरा ॥३४॥

तन मन वच से पूर्ण यत्न से चेतन का आधार धरो,
सवेदन से शून्य जडो का अदय बनो सहार करो ।
आप आप का अनुभव करलो अपने मे ही आप जरा,
अखिल विश्व मे सर्वोपरि है अनुपम अव्यय आत्मखरा ॥३५॥

विश्वसार है सर्वसार है समयसार का सार सुधा,
चेतन रस आपूरित आतम शत शत वन्दन बार सदा ।
असार-मय ससार क्षेत्र मे निज चेतन से रहे परे,
पदार्थ जो भी जहाँ तहाँ है मुझ से पर है निरे निरे ॥३६॥

वर्णादिक औ रागादिक ये पर है पर से है उपजे,
समाधि रत को केवल दिखते सदा पुरुष जो शुद्ध सजे,
लहरे सर मे उठती रहती झिलमिल झिलमिल करती है,
अन्दर तल मे मौन-छटा पर निश्चित मुनि मन हरती है ॥३७॥

जग मे जब जब जिसमे जो जो जन्मत है कुछ पर्याये ।
वे वे उसकी निश्चित होती समझ छोड दो शकाये ।
बना हुआ जो काचन का है सुन्दरतम असि कोष रहा,
विज्ञ उसे काचनमय लखते, कभी न असि को, होष रहा ॥३८॥

वर्णादिक है रागादिक है गुणस्थान की है सरणी,
वह सब रचना पुद्गल की है जिन-श्रुति कहती भवहरणी ।
इसीलिए ये रागादिक है मल है केवल पुद्गल है,
शुद्धात्म तो जड से न्यारा ज्ञान पुज है निर्मल है ॥३९॥

मृण्मय घटिका यदपि तदपि वह घृत की घटिका कहलाती,
घृत सगम को पाकर भी घृतमय वह नहि बन पाती ।
वर्णादिक को रागादिक को तन मन आदिक को ढोता,
सत्य किन्तु यह, यह भी निश्चित तन्मय आत्मा नहि होता ॥४०॥

आदि हीन है अन्तहीन है अचल अडिग है अचल बना,
आप आप से जाना जाता प्रकट रूप से अमल तना ।
स्वय जीव ही सहज रूप से चम चम चमके चेतन है,
समयसार का विश्व सार का शुचिमय शिव का केतन है ॥४१॥

वर्णादिक से रहित सहित है धर्मादिक है ये पुद्गल,
प्रभु ने अजीव द्विधा बताया जिनका निर्मल अन्तस्तल ।
अमूर्तता की स्तुति करता पर जड आतम लख पाता,
चिन्मय चितिपण अचल अत है आतम लक्षण चख ! साता ॥४२॥

[illegible] ॥४३॥

[illegible] त्रिभुवन में
[illegible] निज नयन में ।
[illegible] निरखण है
[illegible] ॥४४॥

[illegible] नव ला
[illegible] नव ला ।
[illegible] निज आतम
[illegible] परमातम ॥४५॥

[illegible]

[illegible]

[illegible] जीव ।
[illegible] ॥१॥

[illegible] चेतन-रीति ।
[illegible] ॥२॥

कर्तृकर्माधिकार

चेतनकर्ता मै क्रोधादिक कर्म रहे मम "जड" गाता,
उसके कर्तृ कर्मपन को जो शीघ्र नष्ट है कर पाता ।
लोकालोका-लोकित करता ज्ञान भानु द्युति पुज रहा,
निर्विकार है, निजाधीन है, दीन नही दृग मजु रहा ॥४६॥

पर परिणति को भेदभाव को विभाव भावो विदारता,
ज्ञान दिवाकर उदित हुआ हो समकित किरणे सुधारता ।
कर्तापन तम कुकर्मपनतम फिर क्या वह रह पायेगा ?
विधि बधन का गीत पुराना पुद्गल अब ना गायेगा ॥४७॥

जडमय पुद्गल परपरिणति से पूर्ण रूप से विरत बना,
निश्चय निर्भय बनकर मुनि जब सहज ज्ञान मे निरत तना,
ऊपर उठ सुख दुख से तजता कर्ता कुकर्म-कारणता,
ज्ञाता दृष्टा साक्षी जग का पुराण पुरुषोत्तम बनता, ॥४८॥

व्याप्यपना औ व्यापकता वह परमे नहि निज द्रव्यन मे,
व्याप्य और व्यापकता बिन नहि कृर्तकर्म पर-जीवन मे
बार बार मुनि विचार इस विध करे सदा वे जगा विवेक,
पर कर्तापनतजते लसते अधकार का भगाऽतिरेक ॥४९॥

ज्ञानी निज पर परिणति लखता लखता नही पुद्गल है,
निरे निरे है अत परस्पर मिले न चेतन पुद्गल है ।
जड चेतन मे कर्तृ कर्म का भ्रम धारे जड शठ तब लौ,
आरे सम निर्दय बन काटत बोध उन्हे नहि झट जब लौ ॥५०॥

स्वतत्र होकर परिणमता है होता स्वतत्र कर्ता है,
उसका जो परिणाम कर्म है कहते जिन, विधि हर्ता है ।
जो भी होती परिणति अविरल पदार्थ मे है वही क्रिया,
वैसे तीनो एकमेक है यथार्थ से सुन सही जिया ! ॥५१॥

सतत एक ही परिणमति है एक का एक परिणाम रहा,
एक की परिणति होती है यह वस्तु-तत्व अभिराम रहा ।
इस विध अनेक होकर के भी वस्तु एक ही भाती है,
निर्मल-गुण धारक-जिनवर की वाणी इस विध गाती है ॥५२॥

कदापि मिलकर परिणमते नहि दो पदार्थ नहि, संभव हो,
तथा एक परिणाम न भाना दो पदार्थ में उद्भव हो ।
उभय-वस्तु में इसी तरह ही कभी न परिणति इक होती,
भिन्न-भिन्न जो अनेक रहती एकमेक ना, इक होती ॥५३॥

एक वस्तु के कर्ता दो नहि इसविध मुनिगण गाते है,
एक वस्तु के कर्म कभी भी दो नहि पाये जाते है ।
एक वस्तु की परिणितिया भी दो नहि कदापि होती है,
एक एक ही रहती सचमुच अनेक नहि नहि होती है ॥५४॥

भव भव भव-वन भ्रमता भ्रमता जीव भ्रमित हो यह मोही,
पर कर्तापन वश दुख सहता-मदतम-तम मे निज द्रोही ।
वीतरागमय निश्चय धारे एक बार यदि युति शाला,
फैले फलत प्रकाश परित कर्म बध पुनि नहि खारा ॥५५॥

पूर्ण सत्य है आतम करता अपने अपने भावो को,
पर भी करता पर भावो पर, पर ना आतम भावो को ।
सचमुच सब कुछ परका पर है आतम का बस आतम है,
जीवन भी सजीवन पीवन आतम ही परमातम है ॥५६॥

विज्ञा होकर अज्ञ बनी तू पर पुद्गल मे रमती है,
गज सम गन्ना खाती पर, ना तृण को तजती भ्रमती है ।
मिश्री मिश्रित दधि को पी पी पीने पुनि मति ! मचल रही,
रसानभिज्ञा पय को पीने गो दोहत भी विफल रही ॥५७॥

रस्सी को लख सर्प समझ जन निशि मे भ्रम से डर जाते,
जल लख मृग मरीचिका मे पीने भगते, मर जाते ।
पवनाहत सर सम लहराता विकल्प जल्पो का भर्ता,
यद्यपि ज्ञान घन व्याकुल बनता तदपि भूल मे पर कर्ता ॥५८॥

सहज ज्ञानसे स्वपर भेद को परम हस यह मुनि नेता,
दूध दूध को नीर नीर को जैसा हसा लख लेता ।
केवल अलोल चेतन गण को अपना विषय बनाता है,
कुछ भी फिर ना करता मुनि बन मुनिपन यही निभाता है ॥५९॥

शीतल जल है अनल उष्ण है ज्ञान कराता यह निश्चय,
है अथवा ना लवण अन्न मे ज्ञान कराता यह निश्चय ।
सरस स्वरस परिपूरित चेतन क्रोधादिक से रहित रहा,
यह भी अवगम, मिटा कर्तृपन ज्ञान मूल हो उदित अहा ॥६०॥

मूढ कुधी या पूर्ण सुधी भी निज को आतम करता है,
सदा सर्वथा शोभित होता धरे ज्ञान की स्थिरता है ।
स्वभाव हो या विभाव हो पर कर्ता अपने भावो का,
परतु कदापि आतम नहि है कर्ता परके भावो का ॥६१॥

आतम लक्षण ज्ञान मात्र है स्वय ज्ञान ही आतम है,
किस विध फिर वह ज्ञान छोडकर पर को करता आतम है ।
पर भावो को आतम कर्ता इस विध कहते व्यवहारी,
मोह मद्य का सेवन करते भ्रमते फिरते भव-धारी ॥६२॥

चेतन आतम यदि जड कर्मो को करने मे मौन रहे,
फिर इन पुद्गल कर्मो के है कर्ता निश्चित कौन रहे ।
इसी मोह के तीव्र वेग के क्षयार्थ आगम गाता है,
पुद्गल, पुद्गल-कर्मो का कर्ता जड से जड का नाता है ॥६३॥

स्वभाव भता परिणति है यह पुद्गल की बस ज्ञात हुई,
रही अत ना कुछ भी बाधा प्रमाणता की बात हुई ।
जब जब उस विध निज मे जड है विभाव आदिक करे वही,
तब तब उसका कर्ता होता जिन श्रुति आशय धरे यही ॥६४॥

स्वभाव भता परिणति यह ह चेतन की बस ज्ञात हुई,
रही अत ना कुछ भी बाधा प्रमाणता की बात हुई ।
जब जब उस विध निज मे चेतन विभाव आदिक करे वही,
तब तब उसका कर्ता होता जिन श्रुति आशय धरे यही ॥६५॥

विमल ज्ञान रस पूरित होते ज्ञानी मुनि का आशय है,
ऐसा करण कौन रहा है क्यो ना हो अघ आलय है ।
अज्ञानी के सकल-भाव तो मूढपने से रजित हो,
क्यो ना होते गत मल निर्मल, ज्ञान पने से वचित हो ॥६६॥

राग रग सब तजते नियमित ज्ञानी मुनि-ले निज आश्रय,
अत ज्ञान जल सिचित सब ही भाव उन्ही के हो, भा-मय ।
राग रग मे अग सग मे निरत अत वे अज्ञानी,
मूढपने के भाव सुधारे कलुषित पकिल ज्यो पानी ॥६७॥

निर्विकल्प मय समाधिगिरि से गिरता मुनि जब अज्ञानी,
प्रमत्त बन अज्ञान भाव को करता क्रमश नादानी ।
विकृत विकल्पो विभाव भावो को करता तब निश्चित है,
द्रव्य कर्म के निमित्त कारण जो है सुख से वचित है ॥६८॥

कुनय सुनय के पक्षपात से पूर्ण रूप से विमुख हुए,
निज मे गुप लुप छुपे हुए है निज के सम्मुख प्रमुख हुए ।
विकल्प जल्पो रहित हुए है प्रशात मानस धरते है,
नियम रूप से निशिदिन मुनि - "निज अमृत पान" वे करते है ॥६९॥

इक नय कहता जीव बधा है, इक नय कहता नही बधा,
पक्षपात की यह सब महिमा दुखी जगत है तभी सदा ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ।।७०।।

भिन्न-भिन्न नय क्रमश कहते आत्मा मोही निर्मोही
इस विध दृढतम करते रहते अपने अपने मत को ही ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ।।७१।।

इक नय मत है आत्मा रागी इक कहता है गत रागी,
पक्षपात की निशा यही है केवल ज्योत न वो जागी ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल-केतन है,
स्वानुभवा का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ।।७२।।

इक नय कहता आत्मा द्वेषी इक कहता है ना द्वेषी,
पक्षपात को रखने वाली सुख दात्री मति हो कैसी ?
पक्षपात से रहित बना है मुनिमन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ।।७३।।

इक नय रोता आत्मा कर्ता कर्ता नहि है इक गाता,
पक्षपात से सुख नहि मिलता पक्षपात की यह गाथा ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ।।७४।।

इक नय कहता आत्मा भोक्ता भोक्ता नहि है इक कहता,
पक्षपात का प्रवाह जड मे अविरल देखो वह बहता ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ।।७५।।

एक नय मान से जीव बंधा है, एक कहता है जीव नहीं,
पक्षपात से [illegible] मन । [illegible] नहिं जीव वहीं ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥७६॥

जीव मूढ है मूढ नहीं है भिन्न भिन्न नय कहते हैं
उस विध पक्षपात से जड़ मन भव भव में दुख सहते हैं
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥७७॥

एक नय कहता जीव रक्त है रक्त नहीं है एक बताता,
उस विध पक्षपात कर मन है वस्तु तत्व को नहिं पाता ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥७८॥

जीव कार्य है कार्य नहीं है भिन्न भिन्न नय कहते,
उस विध पक्षपात जड़ करते परम तत्व को नहिं गहते ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥७९॥

एक नय कहता जीव भाव है नहीं है एक कहता,
उस विध पक्षपात कर मन है वस्तु तत्व को नहिं गहता ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥८०॥

एक अपेक्षा जीव एक है एक अपेक्षा एक नही,
ऐसा चिंतन जड तन करते दुखी हुए है देख यही ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥८१॥

जीव सान्त है सान्त नही है इस विध दो नय है कहते,
ऐसा चिंतन जड जन करते पक्षपात है पक्षपात कर दु ख सहते ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥८२॥

जीव नित्य है नित्य नही है भिन्न-भिन्न नय दो कहते,
इस विध चिन्तन पक्षपात है पक्षपात को जडगहते ।
पक्षपात से रहित बना है, मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन-चेतन है ॥८३॥

अवाच्य आत्मा वाच्य रहा है, भिन्न भिन्न नय है कहते,
इस विध चिंतन पक्षपात है करता यदि तू दुख सहता ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥८५॥

जीव ज्ञेय है ज्ञेय नही है भिन्न भिन्न नय है कहते,
इस विध चिंतन पक्षपात है करते जड जन दुख सहते ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥८६॥

जीव दृश्य है जीव दृश्य नहि भिन्न भिन्न नय है कहते,
इस विध चिंतन पक्षपात है करते जड जन दुख सहते ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥८७॥

जीव वेद्य है वेद्य जीव नहि भिन्न भिन्न नय है कहते,
इस विध चिंतन पक्षपात है करते जड जन दुख सहते ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥८८॥

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] ॥८९॥

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] ॥९०॥

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] ॥९१॥

स्वभाव भावा विभाव भावाभावों रहित सदा,
केवल निर्मल चेतनता से राजित सदा है अमित सदा ।
उसी सारमय समयसार का अनुभवता कर वचन मैं,
विधि के पथम नाड़ के नाड़ नाड़ नाड़ नाड़ बंधन में ॥९२॥

निर्भय निश्चल निरीह मुनि नय पक्षपात बिन जीता है,
समरस पूरित समयसार को सार्थ सविनय पीता है ।
पुण्य पुरुष है परम पुरुष है पुराण पावन भगवन्ता,
ज्ञान यही है दर्शन भी है सब कुछ वह जिन अरहन्ता ॥९३॥

विकल्प मय घन कानन मे चिर भटका था वह धूमिल था,
मुनि का विबोधरस निज घर मे विवेक पथ से आ मिलता ।
खुद ही भटका खुद ही आत्मा लौटा निज मे घुल जाता,
फैला जल भी निचली गति से बह बह पुनि वह मिल जाता ॥९४॥

विकल्प करने वाला आत्मा कर्ता यथार्थ कहलाता,
विकल्प जो भी उर मे उठता कर्म नाम वह है पाता ।
जब तक जिसका विकल्प दल से मानस तल वो भूषित है,
तब तक कर्तृ-कर्म-पन मल से जीवन उसका दूषित है ॥९५॥

विराग यति का कार्य स्वय को केवल लखना लखना है,
रागी जिसका कार्य, कर्म को केवल करना करना है ।
सुधी जानता इसीलिए मुनि कदापि विधि को नहि करता,
कुधी जानता कभी नही है चूकि निरतर विधि करता ॥९६॥

ज्ञप्ति क्रिया मे शोभित होती कदापि करोति क्रिया नही,
उसी तरह बस करण-क्रिया मे ज्ञप्ति क्रिया वह जिया ! नही ।
करण क्रिया औ ज्ञप्ति क्रिया ये भिन्न-भिन्न है अत यदा,
ज्ञाता कर्ता भिन्न-भिन्न ही सुसिद्ध होते स्वत सदा ॥९७॥

कर्म न यथार्थ कर्ता मे हो नही कर्म मे कर्ता हो,
हुए निराकृत जब ये दो, क्या कर्तृ-कर्मपन सत्ता हो ?
ज्ञान ज्ञान मे कर्म कर्म मे अटल सत्य बस रहा यही,
खेद ! मोह नेपथ्य किन्तु ना तजता, नाचत रहा वही ॥९८॥

चिन्मय द्युति से अचल उजलनी ज्ञान ज्योति जब जग जाती,
मुनिवर अतर्जगतीतल को परित उज्ज्वल कर पाती ।
ज्ञान ज्ञान तब केवल रहता, रहता पुद्गल पुद्गल है,
ज्ञान कर्म का कर्ता नहि है, ढले न विधि मे पुद्गल है ॥९९॥

इति कर्तृकर्माधिकारः समाप्तः

निज गुण कर्ता आत्म है पर कर्ता पर आप ।
इस विध जाने मुनि सभी निज-रत हो तज पाप ॥१॥
प्रमाद जब तक तुम करो पर-कर्तापन मान ।
तब तक विधि बन्धान हो हो न "समय" का ज्ञान ॥२॥

पुण्य-पाप-अधिकार

अब शुभा-शुभ भिन्न न किंचित [illegible] है स्वीकृत यद्यपि रहा,
उसका [illegible] निज परिणाम में [illegible] "एक बिन्दु" तदपि रहा ।
[illegible] राग [illegible] निर्मल निश्चल मलिन हुआ,
[illegible] भव [illegible] हुआ ॥१००॥

ब्राह्मणता के मद [illegible] एक है मदिरा [illegible] से बच जीता,
स्वयं शूद्र हूँ इस विध करता मदिरा परिचित एक पीता ।
यद्यपि दोनों शूद्र [illegible] गुणगत शूद्री से उपजे,
किन्तु जाति भ्रम वश ही इस विध जीवन अपने है समझे ॥१०१॥

कर्म हेतु है पुद्गल-आश्रय पुद्गल, स्वभाव फल पुद्गल,
अतः कर्म में भेद नहीं है अभेद नय में सब पुद्गल ।
और शुभा-शुभ बंध अपेक्षा एक रूप है बंधन है,
अतः कर्म है एक नियम से कहते जिन मुनि-रंजन है ॥१०२॥

कर्म अशुभ हो अथवा शुभ हो भव बंधन का साधक है,
मोक्ष मार्ग में इसीलिए वह साधक नहिं है बाधक है ।
किन्तु ज्ञान निज विराग, शिवका साधक है दुख हारक है
वीतराग सर्वज्ञ हितकर कहते शिव-सुख साधक है ॥१०३॥

पूर्ण शुभाशुभ करणी तज, बन निष्क्रिय, निज में निरत रहे,
मुनिगण अशरण नहिं पर सशरण अविरत से वे विरत रहे ।
ज्ञान ज्ञान में घुल मिल जाना मुनि की परम शरण बस है,
निशि दिन सेवन करते रहते तभी सुधामय निज रस है ॥१०४॥

अमिट अतुल है अनुपम आतम ज्ञान-धाम वह सचमुच है,
मोक्ष मार्ग है मोक्ष धाम है स्वयं ज्ञान ही सब कुछ है ।
उससे न्यारा सारा खारा बंध हेतु है बंधन है,
ज्ञान-लीनता वही स्वानुभव शिवपथ उसको वंदन है ॥१०५॥

ज्ञान ज्ञान मे स्थित हो जाता अन्य द्रव्य मे नहि भ्रमता,
वही ज्ञान का ज्ञानपना है जिसको यह मुनि नित नमता ।
आत्म द्रव्य के आश्रित वह है, आश्रय जिसका आतम है,
मोक्ष मार्ग तो वही ज्ञान है, कहते जिन परमातम है ॥१०६॥

कर्म मोक्ष का नियम रूप से, हो नहि सकता कारण है,
स्वय बन्धमय कर्म रहा है भव बधन का कारण है ।
तथा मोक्ष के साधन का भी अवरोधक औ नाशक है,
अत यहाँ पर निषेध उसका करते जिन, मुनि शासक है ॥१०७॥

कर्म रूप मे यदि ढलता है मनो ज्ञान वह भूल अहा ।
ज्ञान ज्ञान नहि हो सकता वो ज्ञानपने से दूर रहा ।
पुद्गल आश्रित कर्म रहा है मृण्मय मूर्त अचेतन है,
अत कर्म नहि मोक्ष हेतु नहि-हो सकता सुख केतन है ॥१०८॥

मोक्षार्थी को मोक्ष मार्ग मे कर्म त्याज्य जड पुद्गल है,
पाप रहो या पुण्य रहो फिर सब कुछ कर्दम दलदल है ।
दृग व्रत आदिक निजपन मे ढल मोक्ष हेतु तब बन जाते,
निष्क्रिय विबोध रस झरता, मुनि स्वय सुखी तब बन पाते ॥१०९॥

कर्ता नहि पर मोह उदय वह होता मुनि मे जब तक है,
समीचीन नहि ज्ञान कहाता अबुद्धि पूर्वक तब तक है ।
सराग मिश्रित ज्ञान सुधारा बहती समाधिरत मुनि मे,
राग बध का, ज्ञान मोक्ष का कारण हो भय कुछ नहि पै ॥११०॥

ज्ञान बिना रट निश्चय निश्चय निश्चयवादी भी डूबे,
क्रिया कलापी भी ये डूबे डूबे सयम से-ऊबे ।
प्रमत्त बन के कर्म न करते अकम्प निश्चल शैल रहे,
आत्म-ध्यान मे लीन किन्तु मुनि तीन लोक पे तैर रहे ॥१११॥

[illegible],
[illegible] ।
[illegible] किया,
[illegible] पूर्ण ज्ञान [illegible] जन्म लिया ॥११२॥

इति पुण्यपापाधिकार

दोहा

[illegible] पुण्य रहा या पाप ।
स्वभाव मिटता, तब मिटे पाप-पुण्य परिणाम ॥१॥

पाप प्रथम मिटता प्रथम, ततो पुण्य-फल भोग ।
पुन पुण्य मिटता, धरो आतम-निर्मल योग ॥२॥

आस्रव-अधिकार

आस्रव भट जड कुछ पड़ा है कुछ हुआ है अब रण में,
मद्य मान का रंग चढ़ा जिसके भरा हुआ है तन मन में ।
ज्ञान मल्ल भी धनुष्यधारी उस पर टूटा धृति-धर है
क्षण में आस्रव जीत विजेता यश-बल धारी सुखकर है ॥११३॥

राग रोष से मोह द्रोह से विरहित आतम भाव सही,
ज्ञान सुधा से रचा हुआ है जिन आगम का भाव यही ।
नियम रूप से अभाव मय है भावास्रव का रहा वही ॥
तथा निवारक निमित्त से है द्रव्यास्रव का रहा सही ॥११४॥

भावास्रव के अभावपन पा व्रती विरागी वह ज्ञानी,
द्रव्यास्रव से पृथक रहा हूँ बन के जाना मुनि ध्यानी ।
ज्ञान भाव का केवल धारी ज्ञानी निश्चित वही रहा,
निरास्रवी है सदा निराला जड के ज्ञायक सही रहा ॥११५॥

सुबुद्धि पूर्वक सकल राग से होते प्रथम अछूते है,
अबुद्धि पूर्वक राग मिटाने बार बार निज-छूते है ।
यमी ज्ञान की चचलता को तभी पूर्णत अहो मिटा,
निरास्रवी वे केवलज्ञानी बनते निज मे स्वको बिठा ॥११६॥

जिसके जीवन मे वह अविरल दुरित दु खमय जल भरिता,
जडमय पुद्गल द्रव्यास्रव की बहती रहती नित सरिता ।
फिर भी ज्ञानी निरास्रवी वह कैसे इस विध हो कहते,
ऐसी शका मन मे केवल शठजन भ्रमवश हो गहते ॥११७॥

उदयकाल आता नहि जब तक, तब तक सत्ता नहि तजते,
पूर्व बद्ध विधि यद्यपि रहते, ज्ञानी जन के उर सजते ।
पर ना नूतन नूतन विधि आ उनके मन पे अकित हो,
रागादिक से रहित हुए हो जब मुनि पूर्ण-अशकित हो ॥११८॥

ज्ञानी जन के ललित भाल पर रागादिक का वह लाछन,
सभव हो न, असभव ही है वह तो उज्ज्वलतम काचन ।
वीतराग उन मुनि जन को फिर प्रश्न नही विधि बधन का,
रागादिक ही बधन कारण, कारण है मन-स्पन्दन का ॥११९॥

निर्मल-विकसित-बोध धाम मय विशुद्ध नय का ले आश्रय,
मन का-निग्रह करते रहते मुनि-जन गुण-गण के आलय,
राग मुक्त है रोष मुक्त है मुनि वे मुनि-जन-रंजन है,
समरस पूरित समय सार का दर्शन करते वदन है ॥१२०॥

जब यति विशुद्ध नय से चिगते, उलटे लटके वे झूले,
विकृत विभावो निश्चित करते आत्म बोध ही तब भूले ।
विगत समय मे अर्जित विधि के आस्रव वश बहु विकल्पदल,
करते, बधते विविध विधी के बधन से खो अनल्प बल ॥१२१॥

यही सार है समय सार का छद यहाँ है यह गाता,
हेय नही है विशुद्ध नय पर ध्येय साधुका वह साता ।
तथापि उसको जड ही तजते भजते विधि के बधन को,
जो नहि मुनि जन तजते इसको भजते नहि विधि बधन को ॥१२२॥

अनादि अक्षय अचल बोध मे धृति बाधे विधि नाशक है,
अत शुद्ध नय उन्हे त्याज्य नहि मुनि या मुनि जन शासक है ।
लखते इसमे स्थित मुनि निज बल आकुचन कर बहिराता,
एक ज्ञान घन पूर्ण शात जो अतुल अचल द्युतिमय भाता ॥१२३॥

रागादिक सब आस्रव विघटे जब निज मन्दर मे अन्दर,
झाक झांक कर देखा मुनि ने दिखता झग झग अति सुन्दर ।
तीन जगत के जहा चराचर निज प्रति-छबि ले प्रकट रहे,
अतुल अचल निज किरणो सह वह बोध भानु मम निकट रहे ॥१२४॥

इति आस्रवाधिकारः

दोहा

राग-द्वेष अरु मोह से रजित वह उपयोग ।
वसु विध-विधि का नियम से पाता दुख कर योग ॥१॥

विराग समकित मुनि लिए जीता जीवन सार ।
कर्मास्रव से तब, बचे निज मे करे विहार ॥२॥

संवर-अधिकार

सवर का रिपु आस्रव को यम मन्दिर बस दिखलाती है,
दुख-हर, सुखकर वर सवर धन सहज शीघ्र प्रकटाती है ।
पर परिणति से रहित नियत नित निज मे सम्यक् विलस रही,
ज्योति-शिखा वह चिन्मय निज खर किरणावलि से बिहस रही ॥१२५॥

ज्ञान राग ये चिन्मय जड है किन्तु मोह वश एक लगे,
जिन्हे विभाजित निज बल से कर, स्व पर बोध उर देख जगे ।
उस भेद ज्ञान को आश्रय ले तुम बन कर पूरण गत रागी,
शुद्ध ज्ञान घन का रस चाखो सकल सग के हो त्यागी ॥१२६॥

धारा प्रवाह बहने वाला ध्रुव बोधन मे सुरत यमी,
किसी तरह शुद्धातम ध्याता विशुद्ध बनता तुरत दमी ।
हरित भरित निज कुसुमित उपवन मे तब आतम रमता है ।
पर परिणति से पर द्रव्यन मे पल भर भी नहि भ्रमता है ॥१२७॥

अनुपम अपनी महिमा मे मुनि भेद ज्ञानवश रमते है ।
शुद्ध तत्व का लाभ उन्हें तब हो हम उनको नमते है ।
उसको पावे पर यति निश्चल अन्य द्रव्य से दूर रहे,
मोक्ष धाम बस पास लसेगा सभी कर्म चकचूर रहे ॥१२८॥

विराग मुनि मे जब जब होता भवहर, सुखकर संवर है,
शुद्धातम के आलम्बन का फल कहते-दिगम्बर है ।
शुचि तम आतम भेद ज्ञान से सहज शीघ्र ही मिलता है,
भेद ज्ञान तू इसीलियें भज जिससे जीवन खिलता है ॥१२९॥

तब तक मुनि गण अविकल अविरल तन मन वच से बस भावें,
-भेद ज्ञान को, जीवन अपना समझ उसी मे रम जावे ।
ज्ञान ज्ञान मे सहज रूप से जब तक स्थिरता नहिं पावे,
पर परिणतिमय चचलता को तज निज-पन को भज पावे ॥१३०॥

सिद्ध शुद्ध बन तीन लोक पर विलस रहे अभिराम रहे,
तुम सब समझो भेद ज्ञान का मात्र अहो परिणाम रहे ।
भेद ज्ञान के अभाव वश ही भव, भव, भव-वन फिरते है,
विधि बधन मे बधे मूढ जन भवदधि नहि ये तिरते है ॥१३१॥

भेद ज्ञान बल शुद्ध तत्व मे निरत हुवा मुनि तज अम्बर,
राग दोष का विलय किया पुनि किया कर्म का वर सवर ।
उदित हुआ तब मुदित हुआ ध्रुव अचल बोध शुचि शाश्वत है,
खिला हुआ है खुला हुआ है एक आप बस भास्वत है ॥१३२॥

इति संवराधिकार

दोहा

रागादिक के हेतु को तजते अम्बर छाव ।
रागादिक पुनि मुनि मिटा भजते सवर भाव ॥१॥

बिन रति-रस चख जी रहे निज घर मे कर वास ।
निज अनुभव-रस पी रहे उन मुनि का मै दास ॥२॥

निर्जरा-अधिकार

रागादिक सब आस्रव भावो को निज बल से विदारता,
सवर था वह भावी विधि को सुदूर से ही निवारता ।
धधक रही अब सही निर्जरा पूर्ण बद्धविधि जला-जला,
सहज मिटाती, रागादिक से ज्ञान न हो फिर चला चला ॥१३३॥

यह सब निश्चित अतिशय महिमा अविचल शुचितम ज्ञानन की,
अथवा मुनि की विरागता की समता मे रममानन की ।
विधि के फल को समय समय पर भोग भोगता भी त्यागी,
तभी नही यह विधि से बधता बधे असयत पर रागी ॥१३४॥

इन्द्रिय विषयो का मुनि सेवन करता रहता है प्रतिदिन,
किन्तु विषय के फल को वह नहि पात्ता, रहता है रति बिन ।
आत्म ज्ञान के वैभव का औ विरागता का यह प्रतिफल,
सेवक नहि हो सकता फिर भी विषय सेव कर भी प्रतिपल ॥१३५॥

ज्ञान शक्ति को विराग बल को सम्यक्-दृष्टी ढोता है,
पर को तजने निजको भजने मे जो सक्षम होता है ।
पर को पर ही निज को निज ही जान मान मुनि निश्चित ही,
निज मे रमता पर-रति तजता राग करे नहिं किचित भी ॥१३६॥

दृग धारक हम अत कर्म नहि बधते हमसे बनते है,
रागी मुनि ही इस विधि बकते वृथा गर्व से तनते हैं ।
यदपि समितिया पाले पालो फिर भी अघ से रजित है,
स्वपर भेद के ज्ञान बिना वे समदर्शन से वचित है ॥१३७॥

चिर से रागी प्रमत्त बनके भ्रमवश करता शयन जहॉ,
दुखकर पर॒घर, निजघर नहि वो जान ! खोल तू नयन अहा ।
निज-घर तो बस निज-घर ही है सुखकर है सुखकेतन है,
शुद्ध शुद्धतर विशुद्धतम है अक्षय ध्रुव है चेतन है ॥१३८॥

पद पद पर बहु पद मिलते है पर वे दुख पद पर पद है,
सब पद मे बस पद ही वह पद सुखद निरापद निज पद है ।
जिसके सम्मुख सब पद दिखते अपद दलित-पद आपद है,
अत स्वाद्य है पेय निजीपद सकल गुणो का आस्पद है ॥१३९॥

आदि आत्मा निज अनुभव का जान ज्ञान को रख साता,
भेद भिन्नता खेद खिन्नता घटा हटाकर इक भाता ।
ज्ञायक रस से पूरित रस को केवल निशिदिन चखता है,
नीरस रस मिश्रित रस को नहि चखता मुनि निज लखता है ॥१४०॥

सकल अर्थ मय रस पी पीकर मानो उन्मद सी निधिया,
उजल उजल ये उछल उछलती निज सवेदन की छविया ।
अभिन्न चिन्मय रस पूरित है भगवन-सागर एक रहे,
अगणित लहरे उठती जिनमे उसीलिए भी नेक रहे ॥१४१॥

सुख सुखकर सोठ भले हो-शिवपथ-च्युत व्रत भरणो से,
तपन तप्त हो तापस गिरि पे केवल जपतप चरणो से ।
मोक्ष मात्र नित निरा निरामय निज सवेदन ज्ञान सही,
ज्ञान बिना मुनि पा नहि सकते शिव को उस विध जान सही ॥१४२॥

मोक्ष धाम यह मिले न केवल क्रिया काण्ड के करने से,
परतु मिलता सहज सुलभ निज बोधन मे नित चरने से ।
सदुपयोग तुम करो उसी से स्वीय-बोध जब मिला तुम्हे,
सतत यतन यति ! जगत ! जगत मे करो मिले शिव किला तुम्हे ॥१४३॥

ज्ञानी मुनि तो सहज स्वय ही देव रूप है सुख शाला,
चिन्मय चितामणी चितित को पाता अचिन्त्य बल वाला ।
काम्य नही कुछ कार्य नही कुछ सब कुछ जिसको साध्य हुआ,
पर सग्रह को अत सुधी नहि होगा था है बाध्य हुआ ॥१४४॥

स्वपर बोध का नाशक जो है बाधक तम है शिव मग को,
तज पर इस विध विविध सग को दशविध बाहर के अघ को ।
भीतर घुस-घुस बनकर मुनि अब केवल ज्ञानावरणी को,
पूर्ण मिटाने मिटा रहा है, मानस-कालुष-सरणी को ॥१४५॥

गत जीवन मे अर्जित विधि के उदयपाक जब आता है,
ज्ञानी मुनि को भी उसका रस चखना पड तब जाता है ।
विषयो के रस चखते पर वे रस के प्रति नहि रति रखते,
विगतराग है परिग्रही नहि नियमित निज मे मति रखते ॥१४६॥

भोक्ता हो या भोग्य रहा हो दोनो मिटते क्षण-क्षण से,
इसीलिये ना इच्छित कोई भोगा जाता तन मन से ।
विराग झरना जिस जीवन मे झर-झर झर-झर झरता है,
विषय राग की इच्छा किस विध ज्ञानी मुनि फिर करता है ? ॥१४७॥

विषय राग के रसिक नही मुनि ज्ञानी नित निज रस चखते,
विग्रह-मूल परिग्रह ही है, भाव परिग्रह नहि रखते ।
रग लगाओ वसन रगेगा किन्तु रग झट उड सकता,
हलदी फिटकिरी लगे बिना ही गाढ रग कब-चढ सकता ? ॥१४८॥

विषय-विषम-विष ज्ञानी जन ना कभी भूलकर भी पीते,
निज रस समरस सहर्ष पीते पावन जीवन ही जीते ।
कर्म कीच के बीच रहे यति परतु उससे ना लिपते,
रागी द्वेषी गृही असयत पाप पक से पर लिपते ॥१४९॥

जिसका जिस विध स्वभाव हो, हो उसका तिस विध अपनापन,
उसमे अतर किस विध फिर हम ला सकते है अधुनापन ।
अज्ञ रहा वह विज्ञ न होता ज्ञान कभी अज्ञान नही,
भोगो ज्ञानी पर वश विषयो तज रति, विधि बधान नही ॥१५०॥

पर मम कुछ ना कहता पर तू भोग भोगता हूँ कहता,
वितथ भोगता तब ए ! ज्ञानी भोग बुरा क्यो दुख सहता ।
भोगत "बध" न हो यदि कहता भोगेच्छा क्या है मन मे, ?
ज्ञान लीन बन नहि तो !! रति वश जकडेगा विधि बधन मे ॥१५१॥

कर्ता को विधि बलपूर्वक ना कभी निजी-फल है देता,
कर्ता विधि फल-चखना चाहे खुद ही विधि फल चख लेता ।
विधि को कर भी मुनि ! विधिफल को, तजता परता सब जडता
विधि फल मे ना रचता पचता ना बधन में तब पडता ॥१५२॥

विधि फल तज भी विधि करते मुनि उस विध हम ना हे कहते,
परन्तु परवश विधिवश कुछ कुछ विधि आ गिरते हैं रहते ।
कौन कहे विधि ज्ञानी करते जब या रहते अमल बने,
आ, आ गिरते विधि, रहते निज-ज्ञान भाव मे अचल तने ॥१५३॥

वज्रपात भी मुनि पर हो पर धर दृढ दृग धृनि जपता हे,
जबकि जगत यह कायर भय से पीडित कप कप कपता है ।
आत्म बोध से चिगता नहि हे, ज्ञान धाम निज लखता हैं,
निसर्ग निर्भय निसग बनकर भय ना उर मे रखता है ॥१५४॥

एक लोक है विरत आत्म का चेतन जो हे शाश्वत है,
उसी लोक को ज्ञानी केवल लखता विकसित भास्वत है ।
चिन्मय मम है लोक किन्तु यह पर है पर से डर कैसा, ?
निशक मुनि अनुभवता तब बस स्वय ज्ञान बनकर ऐसा ॥१५५॥

भेद रहित निज सुवेद्य वेदक-बल से केवल सवेदन,
विराग मन से आस्वादित हो अचल ज्ञान मय इक चेतन ।
परकृत परिवेदन पीडन से ज्ञानी को फिर डर कैसा, ?
सहज ज्ञान को स्वय सुनिर्भय अनुभवता मुनिवर ऐसा ॥१५६॥

जो भी सत है वह ना मिटता स्पष्ट वस्तु की यह गाथा,
ज्ञान स्वय सत रहा कौन फिर उसका पर हो तब त्राता ?
अत· अकृत भय ज्ञानी जन को होगा फिर कैसा ?
सहज ज्ञान को स्वय सुनिर्भय अनुभवता मुनिवर ऐसा ॥१५७॥

वस्तु रूप ही गुप्ति रही बस उसमे नहि पर घुसता है,
उसी तरह वह ज्ञान सुधी का स्वरूप सुख कर लसता है ।
अत: अगुप्ति न ज्ञानी जन को हो फिर किससे डर कैसा ?
सहज ज्ञान को स्वय सुनिर्भय अनुभवता मुनिवर ऐसा ॥१५८॥

प्राणो का हो कण कण खिरना मरण नाम बस वह पाता,
ज्ञानी का पर ज्ञान न नश्वर कभी नही मिट यह जाता,
मरण नही निज आतम का है अत मरण से डर कैसा ?
सहज ज्ञान को स्वय सुनिर्भय अनुभवता मुनिवर ऐसा ॥१५९॥

आदि अन्त से रहित अचले है एक ज्ञान है उचित सही,
आप स्वत है जब तक तब तक उसमे पर हो उदित नहीं ।
आकस्मिक निज मे ना कुछ हो फिर तब उससे डर कैसा ?
सहज ज्ञान को स्वय सुनिर्भय अनुभवता मुनिवर ऐसा ॥१६०॥

समरस पूरित शुद्ध बोध का पावन भाजन बन जाता,
विराग दृग धारक विधि-नाशक दृष्टि अग वसु धन पाता ।
इस विध परिणति जब हो मुनि की पर परिणति की गध न हो,
पूर्व उपार्जित कर्म निर्जरा भोगत भी विधि बध न हो ॥१६१॥

अष्ट अग दृग सग सभाले नव्य कर्म का कर सवर,
बद्ध कर्म को जर, जर कर क्षय करते तज मुनिवर अबर ।
आदि अत से रहित ज्ञान बन स्वयं मुदित हो दृगधारी,
तीन लोक के रग मच पर नाच रहा है अघहारी ॥१६२॥

इति निर्जराधिकार:

दोहा

साक्षी बनकर विषय का करते मुनिवर भोग ।
पूर्व-कर्म की निर्जरा हो तब शुचि उपयोग ॥१॥

बध किये बिन बधका बधन टूटे आप ।
महिमा यह सब साम्य की विराग-दृग की छाप ॥२॥

बन्ध-अधिकार

बन्ध तत्व यह राग मद्य को घुला घुला कर पिला पिला,
सकल विश्व को, मत्तबनाकर खेल रहा था खुला खिला ।
धीर निराकुल उदार मानस ज्ञान सहजता जगा रहा,
चिदानन्दमय रस, पीकर अब बन्ध तत्व को भगा रहा ॥१६३॥

सचित अचित का वध नहि विधि के वध हेतु ना इन्द्रियगण,
भरा जगत भी विधि से नहि है चचलतम भी "वच तन मन" ।
राग रग मे रचता पचता रागी का उपभोग रहा,
केवल कारण विधि बन्धन को यो कहते मुनि लोग अहा ॥१६४॥

यदपि भले ही इन्द्रिय गण हो चिदचित् वध हो क्षण क्षण हो,
जग हो विधि से भरा रहा हो चचलतर ये तन मन हो ।
राग रग से रजित करता यदि नहि शुचि उपयोगन को,
निश्चय विराग दृढ धारक मुनि पाता नहि विधि-योगन को ॥१६५॥

परन्तु ज्ञानी मुनि को बनना स्वेच्छाचारी उचित नही,
उच्छृखलपन बन्ध धाम है आत्म ज्ञान हो उदित नही ।
इच्छा करना तथा जानना युगपत् दो ये नहि बनते,
बिना राग के कार्य अत हो मुनि के नहि तो ! विधि तनते ॥१६६॥

जो मुनि निज को जान रहा है वह ना करता विधि बन्धन,
जो विधि करता नहि निज लखता यही राग का अनुरजन ।
राग रहा है अबोधमय ही अध्यवसायन का आलय,
मिथ्या दर्शन बन्ध हेतु वह जिनवाणी का यह आशय ॥१६७॥

नियत रहे है सभी जगत मे सुख दुख मृतिभय जनना रे !
अपने-अपने कर्म-पाक वश पाते जग जन तनधारे ।
सुख दुख देता पर को जीवित करता मै निज के बल से,
तेरा कहना भूल रही यह फलत वंचित केवल से ॥१६८॥

पर से जीवन जीता जग है सुख दुख पाता मरता है,
इसविध जड़ ही कहता रहता मढ़पना बस धरता है।
वसुविध विधि को करता फलत अहंकार-मद पीता है,
मिथ्यादृष्टी निजघातक है दानव-जीवन जीता है ॥१६९॥

जग के पोषण-शोषण का यह मिथ्या दृष्टी का आशय,
बोध विनाशक नियम रूप से अबोध-तम-तम-का आलय।
कारण! इसका आशय निश्चित, भ्रम है भ्रम का कारण है,
दुखत विविध वसुविध-विधि के बस, बन्धन है असु-मारण है ॥१७०॥

दुखमय अध्यवसायन कर कर निज अनुभव से स्खलित हुआ,
दीन हीन मति हीन हुवा है सम्मोहित है भ्रमित हुवा।
मोही प्राणी सबको अपना कहता रहता भूल रहा
इसीलिये वह इन्द्रिय विषयों-में निशदिन जो जल रहा ॥१७१॥

सकल विश्व से पृथक रहा वो यद्यपि आतम अपना है,
तथापि परको अपना कहता करता मोही सपना है।
अध्यवसायन-दल यह केवल मोह मूल ही है इसका,
स्वप्न दशा मे भी ना यतिवर आश्रय लेते है जिसका ॥१७२॥

अध्यवसायन को कहते "जिन" त्याज्य त्याज्य बस निस्सारा,
जिसका आशय मे लेता बस छुडवाया सब व्यवहारा।
शुद्ध ज्ञान-घन मे धृति फिर भी क्यों ना धारण करते है,
निश्चल बन मुनि निज छवि मे हा! क्या कारण नहि चरते है ॥१७३॥

शुचि मय चेतन से हे न्यारे रागादिक अघ ये सारे,
वसुविध विधि के बधन कारण यह तुम मत जिन! ए प्यारे।
रागादिक का पर क्या कारण पर है अथवा आतम है,
इस विध शका यदि जन करते कहते तब परमातम है ॥१७४॥

रागादिक कालुष परिणतिया यद्यपि आतम मे होती,
स्वभाव से पर वे ना होती कर्म-हेतु वश ही होती ।
मोह पाक ही उसमे कारण वस्तु तत्व यह उचित रहा,
सूर्य बिम्ब वश सूर्यकान्तिमणि मे ज्यो अगनी उदित अहा ॥१७५॥

इस विध पर की बिना अपेक्षा वस्तु तत्व का अवलोकन,
सहज स्वय ही ज्ञानी मुनिजन करते परका कर मोचन ।
रागादिक से अत स्वय को करते नही कलकित है,
कर्ता कारक बनते नहि है फलत सदा अशकित है ॥१७६॥

वस्तु-तत्व का रूप कभी ना जिनके दृग मे अकित है,
अज्ञानी वे कहलाते है निज के सुख से वचित है ।
रागादिक से अत स्वय को करते सदा-कलकित है,
कर्ता कारक बनते जब है फलत पामर शकित है ॥१७७॥

इसविध विचार विविध विकल्पो को तजने निज भजते है,
राग भाव का मूल परिग्रह मुनिवर जिसको तजते है ।
निजी निरामय सवेदन से भरित आत्म को पाते है,
बन्ध मुक्त बन भगवन अपने मे तब आप सुहाते है ॥१७८॥

बहु विध-वसुविध राग कार्य-विधि-बध, मिटा बन निरा अदय,
विधि बन्धन के कारण जिनको रागादिक के मिटा उदय ।
भ्रम-तम-तम को तथा भगाता, ज्ञान भानु अब उदित हुआ,
जिसके बल को रोक सकेगा कोई ना यह विदित हुवा ॥१७९॥

इति बन्धाधिकार:

दोहा

मात्र कर्म के उदय से नहि वसु विध-विधि-बध ।
रागादिक ही नियम से बधहेतु, सुन-अध ॥१॥
बन्ध तत्व का ज्ञान ही केवल मोक्ष न देत ।
मोह त्याग ही मोक्ष का साक्षात्, स्वाश्रित हेतु ॥२॥

मोक्ष-अधिकार

भिन्न भिन्न कर बन्ध पुरुष को प्रज्ञामय उस आरे से,
बिठा पुरुष को मोक्ष धाम मे उठा भवार्णव-खारे से ।
परम सहज निज चिदानन्दमय-रस से पूरित झील अहो ।
सकल कार्य कर विराम पाया ज्ञान सदा जय शील रहो ॥१८०॥

आत्म कर्म की सूक्ष्म सधि मे प्रमाद तज जब मुनि झटके,
प्रज्ञावाली पैनी छैनी पूर्ण लगाकर बल पटके ।
अबोध-विभाव मे विधि, शुचि-ध्रुव चेतन मे निज आतम को,
स्थापित करती भिन्न भिन्न कर करे दूर वह हा ! तम को ॥१८१॥

जो कुछ भिदने योग्य रहा था उसे भेद निज लक्षण से,
अविभागी निज चेतन शाला नित ध्याऊँ मै क्षण क्षण से ।
कारक गुण धर्मादिक से मुझ मे भले हि कुछ भेद रहे,
तथापि शुचिमय विभुमय चिति मे भेद नही, गत-भेद रहे ॥१८२॥

अभेद होकर भी यदि चेतन तजता दर्शन-ज्ञान मनो,
समान विशेष नहि रह पाते तजता निजको तभी सुनो ।
निजको तजता भजता जडता बिना व्याप्य व्यापक चेतन,
होगा विनष्ट अत नियम से आत्म, ज्ञान-दृग का केतन ॥१८३॥

एक भाव वह द्युतिमय चिन्मय चेतन का नित लसता है,
किन्तु भाव सब परके पर है तू क्यो उनमे फसता है ?
उपादेय है ज्ञेय ध्येय है केवल चेतन-भाव सदा,
भाव हेय है पर के सारे सुखद-अचेतन-भाव कदा ? ॥१८४॥

जिन की मन की परिणति उजली मोक्षार्थी वे आराधे,
छविमय द्युतिमय एक आपको शुचितम करके शिव, साधे ।
विविध भाव है जो कुछ लसते मुझसे विभिन्नपन धारे,
मै बस चेतन ज्ञान-निकेतन ये पर सारे है खारे ॥१८५॥

जडमय-पुद्गल पदार्थ दल का पर का संग्रह करता है,
वसु विधि विधि से अपराधी वह बंधता विग्रह धरता है ।
निरपराध मुनि विराग बन के निज में रमता भज संवर,
बंधता कदापि ना वो विधि से निज को नमता तज अंबर ॥१८६॥

मलिन भाव कर अपराधी मुनि अविरल निश्चित विधि पाता,
विधि से बंधता निरपराध नहिं यतिवर निज की निधि पाता ।
शुद्धातम की सेवा करता निरपराध मुनि कहलाता,
रागात्मा को भजने वाला सापराध बन दुख पाता ॥१८७॥

विलासतामय जीवन जीते पमत्त जन को धिक्कारा,
क्रिया काण्ड को दूरा मिटाया चंचलतम मन की धारा ।
शुद्ध-ज्ञान-घन की उपलब्धी जीवन में नहिं हो जब लों,
निश्चित निज में उनको गुरु ने विलीन करवाया तब लों ॥१८८॥

प्रतिक्रमण ही विष है सारा गाया जिनने जब ऐसा
अप्रतिक्रमणा सुधासरस हो सकता सुखकर तब कैसा ?
बार बार कर प्रमाद फिर भी नीचे नीचे गिरते हो,
क्यों ना ऊपर-ऊपर उठते प्रमाद पीछे फिरते हो ॥१८९॥

प्रमाद मिश्रित भाव-प्रणाली शुद्ध-भाव नहिं वह साता
कषायरंजित पूर्ण रहा है अलस-भाव है कहलाता ।
सरस स्वरस परि-पूरित निज के स्वभाव में मुनिरत होवे,
फलत पावन शुचिता पावे शिवको, पर अविरत रोवे ॥१९०॥

विकृत विभावों के कारण पर-द्रव्यन को बस तजता है,
रुचि लेता मुनि यथार्थ निज में, पर को कभी न भजता है ।
तोड-तोड कर वसु-विध-बंधन पाप पंक को धोता है,
चेतन जल से पूरित सर में स्नपित-पूर्ण शुचि होता है ॥१९१॥

अतुल्य अव्यय शिवपद को वह पूर्ण-ज्ञान पा, राग हटा,
जगमग जगमग करता निज को सहज दशा मे जाग उठा ।
केवल ! केवल, रस से पूरित नीर-राशि सम गभीरा,
ज्योति-धाम निज ओज-तेज से अगम अमित तम, समधीरा ॥१९२॥

इति मोक्षाधिकारः

दोहा

वसु विध विध का विलयमय निलय, समय का मोक्ष ।
व्यक्त-रूप है सिद्ध मे, तुझ मे वही परोक्ष ॥१॥

दृग व्रत-समता धार के द्रव्य-भव्य भज आप ।
निरा निरामय आत्म हो रूप द्रव्य तज ताप ॥२॥

सर्व विशुद्धज्ञान-अधिकार

कर्तृ-भोक्तृ-मय विभाव भावो घटा, मिटा अघ-अजन से,
दूर रहा है, पद पद पल पल बध मोक्ष के रजन से ।
अचल प्रकटतम महिमा धारी ज्ञानपुज दृग मजु सही,
शद्ध, शुद्धतम, विशुद्ध शोभित स्वरस-पूर्ण द्युति पुण्यमही ॥१९३॥

जैसा चेतन आतम का निज सवेदन निज भाव रहा,
वैसा कर्तापन आतम का होता नहि, पर भाव-रहा ।
मूढपना वश करता आत्मा विषयी मोही अज्ञानी,
मिटा मूढपन, कर्ता नहि हो मुनिवर निर्मोही ज्ञानी ॥१९४॥

यदपि स्वरस से भरा जीव है विदित हुवा, नहि कर्ता है,
तीन लोक मे फैल रहा है ले शुचि-चिति-द्युति शिव धर्ता है ।
तदपि मूढता की कोई है महिमा सघना-गम न्यारी,
इसीलिए विधि बधन होता दुखकारी, सुख शम-हारी ॥१९५॥

जैसा कर्तापन आतम का होता नहि निज भाव रहा,
वैसा होता चेतन का नहि भोक्तापन भी भाव रहा ।
मूढ पना वश भोक्ता आत्मा विपर्यी मोही अज्ञानी,
उसे नाशकर सुखी अवेदक मुनि हो निर्मोही ज्ञानी ॥१९६॥

अज्ञानी विधिफल मे रमता निश्चित विधि का वेदक है,
ज्ञानी विधि मे रमता नहि है वेदक ना, निज-वेदक है ।
इस विध विचार मुनिगण ! तुम को मूढ पना बस तजना है,
ज्ञानपने के शुद्ध तेज मे निजमे निज को भजना है ॥१९७॥

ज्ञानी विराग मुनि नहि विधि का करता वेदन, विधि करता,
केवल विधिवत विधि का विधिपन जाने, गुण-वारिधि धरता ।
कर्तापन वेदन-पन को तज केवल साक्षी रह जाता,
शुचितम स्वभाव रत होने से कर्म-मुक्त ही कहलाता ॥१९८॥

निजको पर का कर्ता लखते परमे मुनि जो अटक रहे,
मोहमयी अति घनी निशा मे, इधर उधर वे भटक रहे ।
यदपि मोक्ष की आशा रखते तदपि सदा भव दुख पाते,
साधारण जनता सम वे भी नहि अक्षय शिव सुख पाते ॥१९९॥

आत्म-तत्व औ अन्य तत्व ये स्वतन्त्र-स्वतन्त्र रहते है,
एक-मेक हो आपस मे मिल प्रवाह बन ना बहते है ।
कर्तृ-कर्म सबद्ध सिद्ध वह इसविध जब ना होता है,
फिर किस विध पर कर्तृ-कर्म-पन हो, क्यो फिर तू रोता है ॥२००॥

सभी तरह सम्बन्ध निषेधित करते जग के नाथ सभी,
सम्बन्ध न हो एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ कभी ।
वस्तु भेद होने से, फिर क्या कर्तृ कर्म की दशा रही,
निज के अकर्तृपन मुनि फलत· लखते, अब ना निशा रही ॥२०१॥

ज्ञान तेज अज्ञान भाव मे ढला खेद जिनका ताते,
निज पर स्वभाव तो ना जाने पागल पामर कहलाते ।
मूढ कर्म वे करते फलत लखते निज चैतन्य नही,
भाव कर्म का कर्त्ता चेतन अत स्वय है, अन्य नही ।।२०२।।

कर्म कार्य जब किया हुवा, पर जीव प्रकृति का कार्य नही,
अज्ञ प्रकृति भी स्वकार्य फल को भोगे तब अनिवार्य सही ।
मात्र प्रकृति का भी न, अचेतन प्रकृति । जीव ही कर्ता है,
भाव कर्म सो चेतनमय है, पुद्गल ज्ञान न धरता है ।।२०३।।

मात्र कर्म "कर्ता" यो कहता निज कर्तापन छिपा रहा,
कथचिदात्मा "कर्ता" कहती जिन श्रुति को ही मिटा रहा ।
उस निज घातक की लघुधी को महामोह से मुदी हुई,
विशुद्ध करने अनेकान्तमय वस्तु स्थिती यह कही गई ।।२०४।।

लखे अकर्तामय निज को नहि जैन साख्य सम ये तब लौ,
कर्ता मय ही लखे सदा, शुचि-भेद ज्ञान नहि हो जबलौ ।
विराग जब मुनि तीन गुप्ति मे-लीन, समिति मे नहि भ्रमते,
कर्तृभाव से रहित पुरुष के बोध-धाम मे तब रमते ।।२०५।।

कर्ता भोक्ता भिन्न-भिन्न है आत्म तत्व जब क्षणिक रहा,
इस विध कहता सुगत उपासक जिसमे-बोध न तनिक रहा ।
चेतन का शुचि चमत्कार ही उसके भ्रम को विनशाता,
सरस सुधारस से सिचन कर मुकुलित कलिका विकसाता ।।२०६।।

अश भेद ये पल-पल मिटते, अशी से अति पृथक रहे,
अत विनश्वर अशी है, हम वस्तु तत्व के कथक रहे ।
विधि का कर्ता अत अन्य है विधि का भोक्ता अन्य रहा,
इस विध एकान्ती मत, मत तुम धारो, जिन-मत वन्द्य अहा ।।२०७।।

शुचितम निजको लखने वाले अति-व्याप्ति मल जान रहे ।
काल उपाधी वश आतम मे अधिक अशुचिपन मान रहे ।
सूत्र-ऋजु नयाश्रय ले चिति को क्षणिक मान आतम त्यागा
बौद्धो ने मणि स्वीकारा, पर त्यागी माला बिन धागा ॥२०८॥

कर्ता भोक्ता मे विधि वश हो अन्तर या ना किचन हो,
कर्ता भोक्ता हो या ना हो चेतन का पर चितन हो ।
माला मे ज्यो मणिया गुथी चिति चितामणि आतम मे,
पृथक उन्हे कर कौन लखेगा शोभित जो मम आतम मे ॥२०९॥

व्यवहारी मानव दृग की ही केवल यह है विशेषता,
कर्तृ कर्म ये भिन्न-भिन्न ही यहाँ झलकते अशेषता ।
निश्चय नय का विषय भूत उस विरागता का ले आश्रय,
मुनि जब लखता निजको, भेद न अभेद दिखता सुख आलय ॥२१०॥

आश्रय, आश्रय-दाता क्रमश सुपरिणाम परिणामी है,
अत कर्म परिणाम उसी का परिणामी वह स्वामी है ।
कर्ता के बिन कर्म न पदार्थ दोनो का वह भर्ता है
वस्तु स्थिति है निज परिणामो का निज ही बस कर्ता है ॥२११॥

अमिट-अमित-द्युति बल ले चेतन जग मे विहार करता है,
किन्तु किसी मे वह ना मिलता यो मुनि विचार करता है ।
यदपि वस्तुए परिणती है अपने अपने भावो से,
तदपि वृथा क्यो व्यथित मूढ है स्वभाव तज अघ-भावो से ॥२१२॥

एक वस्तु वह अन्य वस्तु की नही बनेगी गुरु गाता,
वस्तु सदा बस वस्तु रहेगी वस्तु तत्व की यह गाथा ।
इस विध जब यह सिद्ध हुआ पर पर का फिर क्या कर सकता ?
एक स्थान पर रहो भले ही मिलकर रहना चल सकता ॥२१३॥

अन्य वस्तु के परिणामो मे पदार्थ निमित्त बनता है,
पदार्थ परिणामी परिणमता पर कर्ता नहि बनता है ।
अन्य वस्तु का अन्य वस्तु है करती इस विध जो कहना,
व्यवहारी जन की वह दृष्टी निश्चय से तुम ना गहना ॥२१४॥

निज अनुभवता शुद्ध द्रव्य मुनि लखने मे जब तत्पर हो,
एक द्रव्य बस विलसित होता, नही प्रकाशित तब पर हो ।
ज्ञेय ज्ञान मे तदपि झलकते ज्ञान बना जब शुचि दर्पण,
किन्तु मूढ तू पर मे रमता निजपन पर मे कर अर्पण ॥२१५॥

शुद्ध आत्म की स्वरस चेतना ज्ञानमयी वह जभी मिली,
विषय विषैली रहे भले पर पृथक पडी पर सभी गिरी ।
धवलित भूतल करती किरणे शशि की "भूमय" नहि होती,
ज्ञान, ज्ञेय को जान "ज्ञेय मय" नहि हो, यह शुचिमय ज्योति ॥२१६॥

ज्ञान-ज्ञान बन, ज्ञेय निजी को बना, न जब तक शोभित हो,
राग रोष ये उठते उर मे आतम जब तक मोहित हो ।
मूढ पने को पूर्ण हटा कर, ज्ञान ज्ञान पन पाता है,
अभाव-भावो हुए मिटा कर पूरण स्वभाव भाता है ॥२१७॥

मूढ पने मे ढला ज्ञान ही राग रोष है कहलाता,
समाधिरत मुनि रागादिक को तभी नही कर वह पाता ।
विराग दृग पा रागादिक का तत्व दृष्टि से नाश करो,
सहज प्रकट शुचि ज्ञान ज्योति हो, मोक्ष धाम मे वास करो ॥२१८॥

रागादिक कालुष भावो का पर-पदार्थ नहि कारण है,
तत्व दृष्टि से जब मुनि लखते अवगम हो अघ-मारण है ।
समय-समय पर पदार्थ भर मे जो कुछ उठना मिटना है,
अपने-अपने स्वभाव वश ही समझ जरा ! तू इतना है ॥२१९॥

मानस सरवर मे यदि लहरे राग रग की उठती है,
पर को दूषण उसमे मत दो स्वतत्र सत्ता लुटती है ।
चेतन ही बस अपराधी है, बोध हीन रति करता है,
"बोध-धाम मै" सुविदित हो यह अबोध पल मे टलता है ॥२२०॥

पर पदार्थ ही केवल कारण रागादिक के बनने मे,
डरते नहि है कतिपय विषयी जड जन इस विध कहने मे ।
डूबे निश्चित, कभी नही वे मोह सिन्धु को तिरते है,
वीतराग विज्ञान विकल बन भव भव दुख से घिरते है ॥२२१॥

परम विमल निश्चयतामय निज बोध धार पर से ज्ञानी,
दीप घटादिक से जिसविध ना विकृत प्रभावित मुनिध्यानी ।
निज पर भेद ज्ञान बिन फिर भी राग रोष कर अज्ञानी,
वृथा व्यथा क्यो भजते, तजते समता, करते नादानी ॥२२२॥

राग रोष से रहित ज्योति धर निज निजपन को छूते है,
विगत अनागत कर्म मुक्त है कर्मोदय ना छूते है ।
विरत पाप से, निरत निजी शुचि-चारित मे है अति भाते,
निज रस से सिचित करती जग, "ज्ञान चेतना" यति पाते ॥२२३॥

ज्ञान चेतना करने से ही, शुद्ध, शुद्धतर बनता है,
पूर्ण प्रकाशित ज्ञान तभी हो बद्ध कर्म हर, तनता है ।
मूढपने के सचेतन से बोध विमलता नशती है,
तभी चेतना नियमरूप से विधि बन्धन मे फसती है ॥२२४॥

कृत से कारित अनुमोदन से तन से वच से औ मन से,
विगत अनागत आगत विषयो निकालता मै चेतन से ।
सकल क्रिया से विराम पाया, निज चेतन का आलम्बन,
लेता विराग मुनि बन, तू भी अब तो कर तन मन स्तम्भन ॥२२५॥

मैने मोही बन व्रत मे यदि अतिक्रमण का भाव किया,
मन वच तन से उसका विधिवत् प्रतिक्रमण का भाव लिया ।
चेतन रस से भरा हुआ, सब क्रिया रहित निज आतम मे,
स्थिर होता, स्थिर हो जा, तू भी भ्रमता क्यो जडता-तम मे ॥२२६॥

मोह भाव से अनुरजित हो साम्प्रत कर्म किया करता,
उनका भी मै आलोचन कर दया भाव निज पे धरता ।
चेतन रस से भरा हुआ-सब क्रिया रहित निज आतम मे,
स्थिर होता, स्थिर हो जा ! तू भी भ्रमता क्यो जडता तम मे ॥२२७॥

वीतमोह बन, वीतराग बन निग्रह कर मन स्पदन का,
प्रत्याख्यान करूँ मै अब उस भावी विधि के बन्धन का ।
चेतन रस से भरा हुआ सब-क्रिया रहित निज आतम मे,
स्थिर होता, स्थिर हो जा ! तू भी भ्रमता क्यो जडता-तम मे ॥२२८॥

इस विध बहुविध विधि के दल को विगत अनागत आगत को,
तजकर करता भाग्य मानकर विशुद्ध नय के स्वागत को ।
शशि सम शुचितम चेतन आतम-मे बस निश दिन रमता मै,
निर्मोही बन, निर्विकार बन, केवल धरता समता मै ॥२२९॥

मेरे विधि के विष-तरू मे जो कटु-विष-फल-दल लटक रहे,
सडे गिरे वे बिना भोग के मन कहता ना निकट रहे ।
फलत निश्चल शैल सचेतन-शुचि आतम को अनुभवता,
इस विध विचार विराग मुनि मे समय समय पर उद्भवता ॥२३०॥

अशेष-वसुविध विधि के फल को पूर्ण उपेक्षित किया जभी,
अन्य क्रिया तज निज आतम को मात्र अपेक्षित किया तभी ।
अमिट काल की परम्परा मम भजे निरतर चेतन को,
द्रुत गति से फिर विहार करले सहज स्वय शिव-केतन को ॥२३१॥

विधि-विष-द्रुम को विगत काल मे विभाव जल से सीचा था,
पर अब उसके फल ना खा, खा निज फल केवल सुख पाता ।
सदा सेव्य है सुन्दरतम है मधुर मधुरतर है साता,
इस विध निज सुख, क्रिया रहित है जिसको मुनिवर है पाता ॥२३२॥

विधि से विधि फल से अविरति से विरत व्रती हो संयत हो,
विकृत चेतना पूर्ण मिटाकर सग रहित हो, सगत हो ।
ज्ञान-चेतनामय निज रस को पूरण भर जीवो,
परम-प्रशम रस-सरस सुधारस है मुनि झट घट-भर पीवो ॥२३३॥

ज्ञान ज्ञेय से ज्ञेय ज्ञान से यदपि प्रभावित होते है,
पर ये निज निज के कर्ता पर-के कदापि ना होते है ।
सकल वस्तुए भिन्न-भिन्न है ऐसा निश्चय जभी हुवा,
ज्ञान आप मे पाप-ताप बिन उज्ज्वल निश्चल तभी हुवा ॥२३४॥

पर से न्यारा स्वय सभारा धारा इस विध रूप निरा,
गृहण-त्याग-मय-शील-शून्य है अमल ज्ञान सुख कूप मिरा ?
आदि मध्य ओ अन्त रहित है जिसकी महिमा द्युतिशाली,
शुद्ध-ज्ञान-घन नित्य उदित है सहज विभामय सुख-प्याली ॥२३५॥

निज आतम मे निज आतम को जिसने स्थापित किया यमी,
कच्छप सम संकोचित इन्द्रिय पूर्ण रूप से किया दमी ।
जो कुछ तजने योग्य रहा था उसको उसने त्याग दिया,
ग्राह्य जिसे झट ग्रहण किया, क्यो तू ने पर मे राग किया ? ॥२३६॥

स्वय सुखाकर ज्ञान दिवाकर इस विध निश्चित प्रकट रहा,
सुचिरकाल से पूर्ण रूप से पर द्रव्यन से पृथक रहा ।
उत्तर दो अब ज्ञान हमारा आहारक फिर हो कैसा ?
जिससे तुम हो कहते रहते "काय ज्ञान का हो" ऐसा !! ॥२३७॥

शशिसम उज्ज्वल उज्ज्वलतर है निर्विकारतम ज्ञान महा,
इसीलिए जडकाय ज्ञान का हो नहि सकता जान अहा !
''यथाजात'' ज्ञानी का केवल जड़तन ना शिव-कारण हो,
उपादान कारण शिव का-मुनि-ज्ञान, तरण ही तारण हो ॥२३८॥

ज्ञान चरित समदर्शन तीनों एकमेव घुल मिल जाना,
मोक्षमार्ग है यही समझ लो शिव सुख सम्मुख मिल जाना ।
यही सेव्य है यही पेय है उपादेय है ध्येय यही,
मुमुक्षु-मुनि को अन्य सभी बस हेय रही या ज्ञेय रही ॥२३९॥

चरित ज्ञान-दृगमय ही शिवपथ, जिसमें जो यति थिति पाता,
ध्यान उसी का करता चिंतन करता निशिदिन रति साता ।
निज मे विचरण करता पर से दूर सदा हो जीता है,
वही आर्य ! अनिवार्य मुनीश्वर ''समयसाररस'' पीता है ॥२४०॥

इस विध पावन शिव फल दाता रत्नत्रय जो तजते है,
जड तन आश्रित यथा-जात मे केवल ममता भजते है ।
अनुपम अखण्ड ज्योति पिण्ड शुचि समय सार को नहि लखते,
भले दिगम्बर बने रहे वे आत्म-बोध जब नहि रखते ॥२४१॥

बाह्य-क्रिया मे उलझे रहते जड जन उलटे लटके है,
भाग्यहीन वे उन्हे न दर्शन मिलते अन्तर्घट के है ।
जैसा तन्दुल बोध जिन्हे ना तुष का सग्रह करते है,
वैसा मोही आत्म ज्ञान बिन, तपा-तपा तन मरते हैं ॥२४२॥

देह-नग्नता भर मे केवल, जो मुनि ममता रखते है,
समय सार को कभी नहि वे धर के समता लखते है ।
निमित्त शिव का देह-नग्नता, पर-आश्रित है, पुद्गल है,
किन्तु ज्ञान तो उपादान है, निज आश्रित है सद्बल है ॥२४३॥

बस करदो, बहु विकल्प जल्पो से कुछ नहि होने वाला,
परमारथ का अनुभव कर लो, मानस मल धोने वाला ।
स्वरस-सरस भरपूर-पूर्ण-शुचि ज्ञान विभा से भासुर है,
समयसार ही सार विश्व मे, जिस बिन आकुल आ-सुर है ॥२४४॥

विश्वसार है विश्व-सुलोचन अक्षय, अक्षय-सुखकारी,
समय सार का कथन यहाँ अब पूर्ण हो रहा दुखहारी ।
शुद्ध ज्ञान-घन-मय जो शिव सुख पावन परमानन्दपना,
उसे यही बस दिला, नशाता निश्चित मनका-द्वदपना ॥२४५॥

अचल उजल यह एक अखडित निज सवेदन मे आता,
किन ही बाधावो से-बाधित हो न, अबाधित है भाता ।
इस विध केवल-ज्ञान निकेतन आत्म तत्व यह सिद्ध हुवा,
झुक झुक सविनय प्रणाम उसको करता "यह मुनि" शुद्ध हुवा ॥२४६॥

इति सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकारः

दोहा

ज्ञान दुख का मूल है ज्ञान हि भव का कूल ।
राग सहित प्रतिकूल है राग रहित अनुकूल ॥१॥

चुन चुन इनमे उचित को अनुचित मत चुन भूल ।
समयसार का सार है निज बिन पर सब धूल ॥२॥

स्याद्वाद-अधिकार

उजल उजल स्याद्वाद-शुद्धि हो जो बुध को अति भाती है,
वस्तु-तत्व की सरल व्यवस्था इसीलिए की जाती है ।
एक ज्ञान ही युगपत् होता उपाय उपेय किस विध है,
इसका भी कुछ विचार करते गुरुवर बुधजन इस विध है ॥२४७॥

पशु सम एकान्ती का निश्चित ज्ञान पूर्णत· सोया है,
पर मे उलझा हुवा सदा है निज बल को बस खोया है ।
स्याद्वाद यदपि ज्ञान वह सकल ज्ञेय का है ज्ञाता,
तदपि निजी पन तजता नहि है स्वरस भरित ही है भाता ॥२४८॥

देख जगत को "ज्ञान" समझकर एकान्ती बन मनमानी,
पशु सम स्वैरी विचरण करता ज्ञेय-लीन वह अज्ञानी,
जगत-जगत मे रहा निरा, पर जगत जानता स्याद्वादी,
जग मे रह कर जग से न्यारा, मुनिवर निज रस का स्वादी ॥२४९॥

पर पदार्थ के ग्रहण भाव कर आगत पर-प्रति-छवियो से,
ज्ञान-शक्ति अति निर्बल जिनका जड जन नशते पशुओ से ।
अनेकान्त को ज्ञानी लखता, ज्ञेय-भेद-भ्रम हरता है,
सतत उदित पर एक ज्ञान का, अबाध अनुभव करता है ॥२५०॥

पर प्रति-छवि से पकिल चिति को इक विध, शुचि करने मानी,
स्वपर प्रकाशक ज्ञान स्वत पर उसे त्यागता अज्ञानी ।
पर ज्ञेयो से चित्रित चिति को स्वत शुद्धतम स्याद्वादी,
पर्यायों वश अनेकता बस चिति मे लखता निज स्वादी ॥२५१॥

निज का अवलोकन ना करता एकान्ती पशु मर मिटता,
पूर्ण प्रकट स्थिर पर को लखता मुग्ध हुवा पर मे पिटता ।
स्याद्वादी निज अवलोकन से पूरण-जीवन जीता है,
शुद्ध-बोध द्युति-पाकर भाता तुरत-राग से रीता है ॥२५२॥

निज आतम को नही जानता परमे रत, पा विकारता,
विषय-वासना वश निजको शठ सकल, द्रव्यमय निहारता ।
पर का निज में अभाव लख, पर-पर को पर ही जान व्रती,
निज के शुचितम बोध तेज मे स्याद्वादी रममान यती ॥२५३॥

भिन्न क्षेत्र स्थित पदार्थ-दल को विषय बनाता अपना है,
बाहर भ्रमता, मरता निज को परमय लख शठ सपना है ।
निज को निज का विषय बनाकर निज मे निज बल समेटता,
आत्म क्षेत्र मे रत स्याद्वादी होता पर-पन सुमेटता ॥२५४॥

आत्म-क्षेत्र मे स्थिति पाने शठ भिन्न-क्षेत्र स्थित पदार्थपन,
तजे संग तज चिति-गत-ज्ञेयों मरता तजता निजार्थपन ।
निज मे स्थित हो कर लखता नित पर मे निज की अभावता,
स्याद्वादी मुनि पर तजता पर तजता कभी न स्वभावता ॥२५५॥

पूर्व ज्ञान का विषय बना था उसको नशता लख, सो ही,
स्वय ज्ञान का नाश मान पशु मरता हताश हो मोही ।
बाह्य वस्तुए बार-बार उठ मिटती, परन्तु स्याद्वादी,
स्वीय काल वश, त्रिकाल ध्रुव निज को लख रहता ध्रुव स्वादी ॥२५६॥

ज्ञेयालम्बन जब से तब से-ज्ञान हुवा वे यों कहें वृथा,
ज्ञेयालम्बन-लोलुप बन शठ पर में रमते सहें व्यथा ।
भिन्न काल का अभाव निज मे मान जान वे गतमानी,
सहज, नित्य, निज-निर्मित्त शुचितम ज्ञान पुंज मे रत ज्ञानी ॥२५७॥

पर परिणति को निज परिणति लख पर में पाखण्डी रमता,
निज महिमा का परिचय बिन पशु एकान्ती भव-भव भ्रमता ।
सब में निज-निज भाव भरे हैं उन सबसे अति दूर हुवा,
प्रकट निजामृत को अनुभवता स्याद्वादी नहि चूर हुवा ॥२५८॥

विविध विश्व के सकल ज्ञेय का उद्भव अपने मे माने,
निर्भय स्वैरी शुद्ध भाव तज खेल-खेलते मन माने ।
परका मुझे मे अभाव निश्चित समझ किन्तु यह मुनि ऐसा,
निजारूढ स्याद्वादी निश्चल लसे शुद्ध दर्पण जैसा ॥२५९॥

उद्भव व्यय से व्यक्त ज्ञान के विविध अश को देख तभी,
क्षणिक तत्व को मान कुधी जन सहते दुख अतिरेक सभी ।
पे स्याद्विद चितिपन सिचित सरस सुधारस सु पी रहा,
अडिग-अचल बन शुद्ध-बोध-घन सुजी रहा, मुनि सुधी रहा ॥२६०॥

निर्मल निश्चल बोध भरित निज आतम को शठ जान अहा !
उजल उछलती चिति परिणति से भिन्न आत्म परमाण अहा ।
नित्य ज्ञान हो भगुर बनता उसे किन्तु द्युतिमान, वही,
चेतन-परिणति बल से ज्ञानी-ज्ञान क्षणिकता लखे सही ॥२६१॥

तत्व ज्ञान से वचित ऐसे मूढ जनो को दर्शाता,
ज्ञान मात्र वह आत्म तत्व है साधु जनो को हर्षाता ।
अनेकान्त यह इस विध होता सतत सुशोभित अपने में,
स्वय स्वानुभव मे जब आता मिटते सब है सपने ये ॥२६२॥

वस्तु तत्व की सरल व्यवस्था उचित रूप से करता है,
अपने को भी उचित स्थान पर स्थापित खुद ही करता है ।
तीन लोक के नाथ जिनेश्वर जिन-शासन पावन प्यारा,
अनेकान्त यह स्वयं सिद्ध है विषय बनाया जग सारा ॥२६३॥

दोहा

मेटे वाद-विवाद को निर्विवाद स्याद्वाद ।
सब वादो को खुश रखे पुनि पुनि कर सवाद ॥१॥

समता भज, तज प्रथम तू पक्षपात परमाद ।
स्याद्वाद आधार ले "समयसार" पढ बाद ॥२॥

साध्य-साधक-अधिकार

इसविध अनेक निज बल आकर होकर आतम भाता है,
सहज ज्ञान-पन को फिर भी नहि तजता पावन साता है
आतम द्रव्य पर्यय का न्यारा अक्षय अव्यय केतन है,
क्रम-अक्रम-वर्ती पर्यय से शोभित होता चेतन है ॥२६४॥

वस्तु तत्व ही अनेकान्तमय स्वयं रहा, गुरु लिखते है
अनेकान्त के लोचन द्वारा जिसे सन्त जन लखते है ।
स्याद्वाद की ओर शुद्धि पा बनते मुनि जन वे ज्ञानी,
जिन मत से विपरीत किन्तु ना जाते बन के अभिमानी ॥२६५॥

किसी तरह पर यत्न सुधी जन वीतमोह बन गत रागी,
केवल निश्चल ज्ञान भाव का आश्रय करते बड भागी ।
शिवका साधक रत्नत्रय वे फलतः पा कर शिव गहते,
मूढ मोह वश विरागता बिन भव-भव भ्रमते दुख सहते ॥२६६॥

स्याद्वाद से पूर्ण कुशलता पा अविचल सयम-धारी,
पल पल अविरल अविकल निर्मल निज को ध्यावे अविकारी ।
ज्ञानमयी नय क्रियामयी नय इन्हे परस्पर मित्र बना,
पाता मुनिवर वही अकेला शुद्ध-चेतना मात्रपना ॥२६७॥

चेतन रस का पिण्ड चण्ड है सहज भाव से विहस रहा,
विराग मुनि मे इसविध आतम उदित हुवा है विलस रहा ।
चिदानन्द से अचल हुवा वह एक रूप ही सदा हुवा,
शुद्ध ज्योति से पूर्ण भरा है प्रभात सुख का सदा हुवा ॥२६८॥

शुद्ध-भावमय विराग-मम-मन मे जब द्युतिपन उदित हुवा,
स्याद्वाद से झगर झगर कर स्फुरित हुवा है मुदित हुवा ।
अन्य भाव से फिर क्या मतलब भव या शिव पथ मे रखते,
स्वीय भाव बस उदित रहे यही भावना मुनि रखते ॥२६९॥

यद्यपि बहुविध बहुबल आलय आतम तमनाशक साता,
नय के माध्यम ले लखता हूँ खण्ड-खण्ड हो नश जाता ।
खण्ड निषेधित अत किए बिन अखण्ड चेतन को ध्याता,
शान्त, शान्ततम अचल निराकुल छविमय केवल को पाता ॥२७०॥

ज्ञान मात्र हो ज्ञेय रूप मे यह जो मै शोभित होता,
किन्तु ज्ञेय का ज्ञान मात्र नहि तथापि हूँ बाधित होता ।
ज्ञेय रूप-धर ज्ञान विकृतिया सतत उगलती उजियाली,
परन्तु ज्ञाता ज्ञान-ज्ञेयमय वस्तु मात्र मम है प्यारी ॥२७१॥

आत्म-तत्व मम चित्रित दिखता कभी चित्र बिन लसता है,
चित्राचित्री कभी-कभी वह विस्मित सस्मित हसता है ।
तथापि निर्मल-बोध-धारि के करे न मन को मोहित है,
चूंकि परस्पर बहुविध बहुगुण-मिले आत्म मे शोभित है ॥२७२॥

द्रव्य दृष्टि से एक दीखता पर्यय वश वह नैक रहा,
क्षण-क्षण पर्यय मिटे क्षणिक है, ध्रुव, गुण वश तू देख अहा ?
ज्ञान दृष्टि से विश्व व्याप्त पर स्वीय-देश मे खडा हुवा,
अद्भुत वैभव सहज आत्म का देखो निज में पडा हुआ ॥२७३॥

बहती जिसमें कषाय-नाली शांति सुधा भी झरती है,
भव पीडा भी वही प्यार कर मुक्ति रमा मन हरती है ।
तीन लोक भी आलोकित है अतिशय चिन्मय लीला है,
अद्भुत से अद्भुत-तम महिमा आतम की जय शीला है ॥२७४॥

सकल विश्व ही युगपत् जिसमे यदपि निरन्तर चमक रहा,
तदपि एक बन जयशाली है सहज तेज से दमक रहा ।
निज रस पूरित रहा अत वह तत्व बोध से सहित रहा,
चेतन का जो चमत्कार है अचल व्यक्त हो स्फुरित रहा ॥२७५॥

चेतन-मय-शुचि "अमृतचन्द्र" की साम्य ज्योति अवभासित है,
अविचल-आतम में आतम में आतम को कर आश्रित है ।
बाधा बिन वह रही अकेली रही न काली मोह-निशा,
फैली परित विमल-धवलिमा उजल उठी है दशो दिशा ॥२७६॥

स्वपर-रूप यह विपर्यास हो प्रथम ऐक्य कर निज तन मे,
रागादिक कर आतम उलझे कर्तृ-कर्म के उलझन मे ।
कर्म-'कर्मफल चेतन का फिर अनुभव-वश नित खिन्न हुवा,
ज्ञान-रूप मे निरत वही अब तन-मन से अति भिन्न हुवा ॥२७७॥

वस्तु तत्व की यथार्थता का वर्णन जिसने किया सही,
शब्द-समय ने 'समयसार' का स्वयं निरूपण किया यही ।
कार्य-रहा नहि अब कुछ करने "अमृतचन्द्र" हूँ सूरि यदा,
लुप्त गुप्त हूँ स्वगुप्त निज मे सुख अनुभवता भूरि सदा ॥२७८॥

श्री अमृतचन्द्रसूरिये नमः

दोहा

दृग व्रत चिति की एकता, मुनिपन साधक भाव ।
साध्य सिद्ध शिव सत्य है, विगलित बाधकभाव ॥१॥

साध्य साधक ये सभी, सचमुच मे व्यवहार ।
निश्चय नय मय नयन मे, समय समय का सार ॥२॥

समापन

आशीष लाभ तुम से यदि मै न पाता,
जाता लिखा नहि "निजामृत पान" साता ।
दो "ज्ञानसागर" गुरो ! मुझको सुविद्या,
विद्यादिसागर बनूँ तजदूँ अविद्या ॥१॥

दोहा

"कुन्द-कुन्द" को नित नमूँ, हृदय कुन्द खिल जाय।
परम सुगन्धित महक मे, जीवन मम घुल जाय ॥२॥

"अमृत चन्द्र" से अमृत, है झरता जग-अपरूप।
पी पी मम मन मृतक भी, अमर बना सुख कूप ॥३॥

तरणि "ज्ञानसागर" गुरो ! तारो मुझे ऋषीश
करुणा कर ! करुणा करो कर से दो आशीष ॥४॥

सुफल

मुनि बन मन से जो सुधी करे "निजामृतपान"
मोक्ष ओर अविरल बढे चढे मोक्ष सोपान ॥५॥

मंगलकामना

विस्मृत मम हो विगत सर्व विगलित हो मद मान।
ध्यान निजातम का करूँ, करूँ निजी-गुण गान ॥१॥

सादर शाश्वत सारमय समयसार को जान।
गट गट झट पट चाव से करूँ "निजामृतपान" ॥२॥

रम रम शम-दम मे सदा मत रम पर मे भूल।
रख साहस फलत मिले भव का पल मे कूल ॥३॥

चिदानन्द का धाम है ललाम आतम राम।
तन मन से न्यारा दिखे मन पे लगे लगाम ॥४॥

निरा निरामय नव्य मैं नियत निरजन नित्य ।
जान मान इस विध तजूँ विपथ कषाय अनित्य ॥५॥

मृदुता तन मन वचन मे धारो बन नवनीत ।
तब जप तप सार्थक बने प्रथम बनो भवभीत ॥६॥

पापी से मत पाप से घृणा करो अयि ! आर्य ।
नर वह ही बस पतित हो पावन कर शुभ कार्य ॥७॥

भूल क्षम्य हो

लेखक, कवि मै हूँ नही, मुझमे कुछ नहि ज्ञान ।
त्रुटियाँ होवे यदि यहाँ, शोध पढे, धीमान ॥८॥

स्थान एवं समय परिचय

कुण्डल गिरि के पास है नगर दमोह महान ।
ससघ पहुँचा पुनि जहाँ भवि जन पुण्य महान् ॥९॥

देव-गगन गति गध की वीर जयन्ती आज ।
पूर्ण किया इस ग्रन्थ को निजानन्द के काज ॥१०॥

इष्टोपदेश
एव
द्रव्य-सग्रह

द्रव्यसंग्रह

मूल द्रव्यसग्रह (प्राकृत)

रचनाकार नेमिचद सिद्धान्त चक्रवर्ती

पद्यानुवाद आचार्य विद्यासागर

द्रव्य संग्रह (१)

मंगलाचरण

देवाधिदेव जिन नायक ने किया है,
जो जीव का कथन द्रव्य अजीव का है ।
सौ-सौ सुरेन्द्र झुकते जिनके पदो मे,
वन्दूँ सदा विनत हो उनको अहो मै ॥१॥

भोक्ता स्वदेह परिमाण सुसिद्ध स्वामी,
होता स्वभाव वश हो वह उर्ध्वगामी ।
कर्त्ता अमूर्त उपयोगमयी तथा है,
सो जीव जीवभर की नव ये कथा है ॥२॥

उच्छ्वास स्वाँस बल इन्द्रिय आयु प्यारे,
ये चार प्राण जग जीव त्रिकाल धारे ।
सगीत यों गुन-गुना व्यवहार गाता,
पै जीव मे नियम से चिति प्राण भाता ॥३॥

ज्ञानोपयोग इक दर्शन नाम पाता,
यों जीव का द्विविध है उपयोग भाता ।
चक्षू अचक्षू अवधी वर केवलादि,
ये चार भेद उस दर्शन के अनादि ॥४॥

मिथ्या, सही मति श्रुतावधि ज्ञान तीनो,
कैवल्य ज्ञान मन पर्यय ज्ञान दोनो ।
यो ज्ञान अष्ट विध है गुरु है बताते,
प्रत्यक्ष ज्ञान चहु चार परोक्ष भाते ॥५॥

यो चार आठ विध दर्शन ज्ञान वाला,
सामान्य जीव परिलक्षण है निराला ।
ऐसा स्वगीत व्यवहार सुना रहा है,
पै शुद्ध "ज्ञान दृग" निश्चय गा रहा है ॥६॥

ये पंच पंच वसु दो रस वर्ण स्पर्श,
गंधादि जीव गुण को करते न स्पर्श ।
सो जीव निश्चय तया कि अमूर्त्त भाता,
पै मूर्त्त बन्ध वश है व्यवहार गाता ॥७॥

आत्मा विशुद्धनय से शुचि धर्म का है,
औ व्यावहार वश पुद्गल कर्म का है ।
कर्त्ता अशुद्धनय से रति भाव का है,
चैतन्य के विकृत भाव विभाव का है ॥८॥

रे व्यावहार नय से विधि के फलों को,
है भोगता सुख दुखों जड़ पुद्गलों को ।
आत्मा विशुद्धनय से निज-चेतना को,
पै भोगता तुम सुनो जिन देशना को ॥९॥

विस्तार संकुचन शक्ति तया शरीरी,
छोटा बड़ा तन प्रमाण दिखे विकारी ।
पै छोड के समुद्घात दशा हितैषी,
है वस्तुतः सकल जीव असंख्य देशी ॥१०॥

पृथ्वी जलानल समीर तथा लतायें,
एकेन्द्रि जीव सब थावर ये कहायें ।
है धारते करण दो त्रय चार पंच,
शंखादि जीव त्रस है सुख है न रंच ॥११॥

सञ्ज्ञी कहाय समना अमना असंज्ञी,
पचेन्द्रि हो द्विविध शेष सभी असञ्ज्ञी ।
एकेन्द्रि जीव सब बादर सूक्ष्म होते,
पर्याप्त औ इतर ये दिन रैन रोते ॥१२॥

है मार्गणा व गुण थान तथा विकारी,
होते चतुर्दश चतुर्दश कायधारी ।
गाता अशुद्धनय यो सुन भव्य ! प्यारे,
पै शुद्ध, शुद्धनय से, जग जीव सारे ॥१३॥

उत्पाद ध्रौव्य व्यय लक्षण से लसे है,
लोकाग्र मे स्थित शिवालय में बसे है ।
वे सिद्ध न्यून कुछ अंतिम काय से है,
निष्कर्म अक्षय सजे गुण आठ से हैं ॥१४॥

आकाश पुद्गल व धर्म अधर्म काल,
ये है अजीव सुन तू अयि भव्य बाल ।
रूपादि चार गुण पुद्गल मे दिखाते,
है मूर्त्त पुद्गल न शेष अमूर्त्त भाते ॥१५॥

सस्थान भेद तम स्थूलपना व छाया,
औ सूक्ष्मता करम बधन शब्द माया ।
उद्योत आतप यहाँ जग में दिखाते,
पर्याय वे सकल पुद्गल के कहाते ॥१६॥

धर्मास्तिकाय खुद ना चलता चलाता,
पै प्राणि पुद्गल चले गति है दिखाता ।
मानो चले न यदि वे न उन्हें चलाता,
ज्यो नीर मीन-गति मे, गति दान दाता ॥१७॥

ज्यो जीव पुद्‌गल रुके स्थिति है दिलाता,
होता अधर्म वह है स्थिति दान-दाता ।
मानो चले, नहि रुके स्थिति दे न भाई,
छाया यथा पथिक को स्थिति मे सहाई ॥१८॥

जीवादि द्रव्य दल को अवकाश देता,
आकाश सो कह रहे जिन आत्म जेता ।
होता वही द्विविध लोक अलोक द्वारा,
ऐसा सदा समझ तू जिन शास्त्र सारा ॥१९॥

जीवादि द्रव्य छह ये मिलते जहाँ है,
माना गया अमित लोक यही यहाँ है ।
आकाश केवल, अलोक वही कहाता,
ऐसा बसन्ततिलका यह छद गाता ॥२०॥

जीवादि द्रव्य परिवर्तन रूप न्यारा,
औ पारिणाम मय लक्षण आदि धारा ।
तू मान काल व्यवहार वही कहाता,
पै वर्तनामय सुनिश्चित काल भाता ॥२१॥

जो एक-एक करके चिर से लसे है,
जो लोक के प्रति प्रदेशन में बसे है ।
कालाणु है रतन राशि समान प्यारे,
होते असख्य कहते ऋषि सत सारे ॥२२॥

है द्रव्य भेद छह जीव अजीव द्वारा,
श्री वीर ने सदुपदेश दिया सुचारा ।
है अस्तिकाय इनमे बस पंच न्यारे,
पै काल के बिना सुनो अयि भव्य प्यारे ॥२३॥

जीवादि क्योकि जब है इनको इसी से,
श्री वीर 'अस्ति' इस भाति कहे सदी से ।
औ काय से सब सदैव बहुप्रदेशी,
है 'अस्तिकाय फलत' समझो हितैषी ॥२४॥

आकाश मे अमित जीव व धर्म मे है,
होते असख्य परदेश अधर्म मे हैं ।
है मूर्त्त सख्य गतसख्य अनन्त देशी,
ना काल काय फलत इक मात्र देशी ॥२५॥

है मूर्त्त यद्यपि रहा अणु एक देशी,
होता अनेक मिल के अणु नैक देशी ।
तो अस्तिकाय फलत उपचार से है,
सर्वज्ञ यो कह रहे व्यवहार से है ॥२६॥

जो पुद्गलाणु जड है अविभाज्य न्यारा,
आकाश को कि जितना वह घेर डाला ।
माना गया वह प्रदेश यहाँ अकेला,
सर्वाणु स्थान यदि ले वह दे सकेगा ॥२७॥

जो पुण्य पाप विधि आस्रव बध तत्त्व,
औ निर्जरा सुखद सवर मोक्ष-तत्त्व ।
ये भी विशेष सब जीव अजीव के है,
सक्षेप से गुरु उन्हे कह तो रहे है ॥२८॥

तो ! आत्म के उस निजी परिणाम से जो,
हो कर्म आगमन हा ! अविलम्ब से वो ।
है भाव आस्रव वही अरु कर्म आना,
है द्रव्य आस्रव यही गुरु का बताना ॥२९॥

मिथ्यात्व औ अविरती व प्रमाद-योग,
क्रोधादि भावमय आस्रव दु:ख रोग ।
ये पांच-पांच दश पांच त्रि चार होते,
देही इन्हे धर सदैव अपार रोते ॥३०॥

मोहादि कर्म पन मे ढल पुद्गलो का,
आता समूह जड आतम मे जड़ो का ।
हो द्रव्य आस्रव वही वहु-भेद वाला,
ऐसा जिनेश कहते सुख वेद शाला ॥३१॥

जो कर्म बन्ध जिस चेतन भाव से हो,
है भाव बन्ध वह दूर स्वभाव से हो ।
दोनो मिले जब परस्पर कर्म आत्मा,
सो द्रव्य बन्ध जिससे निज धर्म खात्मा ॥३२॥

है भाव आस्रव निरोधन मे सहाई,
चैतन्य से उदित जो परिणाम भाई ।
सो भाव सवर सुनिश्चय ने पुकारा,
द्रव्यास्रवा रुकत सवर द्रव्य न्यारा ॥३३॥

ये गुप्तियां समितियाँ व्रत साधनाएँ ।
सत्यादि धर्म दश द्वादश भावनाएँ ।
औ जीतना परिषहो सुचरित्र नाना,
है भाव सवर सभी गुरु का बताना ॥३४॥

भोगा गया करम का झडना सुचारा,
कालानुसार तप से निज भाव द्वारा ।
सो भाव, भावमय निश्चित निर्जरा है,
औ कर्म का झरण द्रव्य सुनो जरा है ॥३५॥

सत् त्याग से विधि-झरे अविपाक सो है,
छूटे विधी समय पे सविपाक सो है ।
यो निर्जरा यह नितान्त द्विधा-द्विधा है,
प्राप्तव्य मार्ग अविपाक भली सुधा है ॥३६॥

जो आत्म भाव सब कर्म विनाश हेतू,
सो भाव मोक्ष सुन ले जिन दास रे तू ।
औ आत्म से पृथक हो जड कर्म प्यारे,
सो द्रव्य मोक्ष मिलता जिन धर्म धारे ॥३७॥

देही शुभाशुभ विकार विभाव धारी,
है पुण्य पाप मय निश्चय से विकारी ।
होता शुभायु शुभगोत्र सुनाम साता,
है पुण्य शेष बस ! पाप किसे सुहाता ॥३८॥

रे मोक्ष का सुखद कारण ही वही है,
विज्ञान औ चरित दर्शन जो सही है ।
ऐसा कहे कि व्यवहार यथार्थ में तो,
रत्नत्रयात्मक निजात्म पदार्थ मे हो ॥३९॥

रे ! आत्म द्रव्य तज अन्य पदार्थ मे वो,
ज्ञानादि रत्नत्रय ही न यथार्थ मे हो ।
आत्मा रहा इन त्रयात्मक ही स्वत है,
सो मोक्षकारण निजातम ही अत है ॥४०॥

है आत्म रूप वह जीव अजीव श्रद्धा,
सम्यक्त्व, किन्तु करता न अभव्य श्रद्धा ।
सम्यक्त्व, होय तब ज्ञान सुचारु सच्चा,
समोह सशय विमुक्त सुहाय अच्छा ॥४१॥

समोह सभ्रम ससशय हीन प्यारा,
कल्यान खान वह ज्ञान प्रमाण प्याला ।
माना गया स्व पर भाव-प्रभाव दर्शी,
साकार नेक विधि शाश्वत सौख्य स्पर्शी ॥४२॥

साकार के बिन विशेष किये बिना ही,
सामान्य द्रव्य भर का वह मात्र ग्राही ।
हे भव्य मान वह दर्शन नाम पाता,
ऐसा जिनागम यहाँ अविराम गाता ॥४३॥

हो पूर्व दर्शन जिसे फिर ज्ञान होता,
छद्मस्थ दो न युगपत् उपयोग ढोता ।
दो एक साथ उपयोग महाबली को,
मेरा उन्हें नमन हो जिन केवली को ॥४४॥

जो त्यागता अशुभ को शुभ को निभाना,
मानो उसे ही व्यवहार चरित्रवाना ।
ये गुप्तियाँ समितियाँ व्रत आदि सारे,
जाते अवश्य व्यवहार तया पुकारे ॥४५॥

जो बाह्य भीतर क्रिया भववर्धिनी है,
ज्ञानी निरोध उनका करते गुणी है ।
वे ही यमी चरित निश्चय धार पाते,
ऐसा जिनेश कहते भव-पार जाते ॥४६॥

है मोक्षमार्ग द्वय को अनिवार्य पाता,
सद्ध्यान लीन मुनि वो निजकार्य धाता ।
भाई अत. यतन से शुचि भाव से रे,
अभ्यास ध्यान निज का कर चाव से रे ॥४७॥

हो चित्त को अचल मेरु अहो बनाना,
हो चाहते सहज ध्यान सदा लगाना।
अच्छे बुरे सुखद दु खद वस्तुओ मे,
ना मोह द्वेष रति राग करो जडो मे ॥४८॥

पैतीस सोलह छ पाँच व चार दो एक,
जो शब्द वाचक रहे परमेष्ठियो के।
या अन्य भी पद मिले गुरु देशना से,
ध्यावो उन्हे तुम जपो शुचि चेतना से ॥४९॥

जो घाति कर्म दल को जड से मिटाया,
संपूर्ण ज्ञान सुख-दर्शन वीर्य पाया।
औ दिव्य देह स्थित है अरहन्त आत्मा,
है ध्येय ध्यान उसका कर अन्तरात्मा ॥५०॥

दृष्टा व ज्ञायक त्रिलोक अलोक के है,
आसीन जो शिखर पे त्रयलोक के हैं।
दुष्टाष्ट कर्म तन वर्जित ध्येय प्यारे,
आकार से पुरुष सिद्ध सदैव ध्या ! रे ॥५१॥

आचार पंच तप चारित्र वीर्य प्यारा,
औ ज्ञान दर्शन जिनागम ने पुकारा।
आचार मे रत स्वय पर को कराता,
आचार्य वर्य मुनि ध्येय वही कहाता ॥५२॥

धर्मोपदेश समयोचित नित्य देते,
ज्ञानादि रत्नत्रय मे रस पूर्ण लेते।
होते यतीश उवझाय प्रवीण तातैं,
हो आपके चरण मे हम लीन जातै ॥५३॥

सम्यक्त्व ज्ञान समवेत चरित्र होता,
है मोक्षमार्ग वह है सुख का प्रदाता।
जो आत्म में मगन है उसका सहारा,
ये भाव है नमन हो उनको हमारा ॥५४॥

कोई पदार्थ मन में अविचारना है,
हो वीतराग मुनि राग विसारना है।
एकत्व को निरख ले वह शीघ्र पाता,
संसार में सुखद निश्चय ध्यान ध्याता ॥५५॥

चिन्ता करो न कुछ भी मन से न डोलो,
बोलो करो न तन से मुख को न खोलो।
यों आप में थिर बना शुभ ध्यान होता,
आत्मा निजात्म रत ही बलवान होता ॥५६॥

सद्ज्ञान पा तप महाव्रत भार पाता,
वो साधु ध्यान-रथ बैठ स्वधाम जाता।
सद्ध्यान पूर्ण सधने तुम तो इन्हीं से,
ज्ञानादि में निरत हो नित ही रुची से ॥५७॥

मैं 'नेमिचन्द्र' मुनि हूँ लघुधी यमी हूँ,
है 'द्रव्य संग्रह' लिखा पर मैं श्रमी हूँ।
विज्ञान कोष गत दोष सुसाधु नेता,
शोधे इसे बस यही मन-अक्ष-जेता ॥५८॥

गुरु-स्तुति

हे ! नेमिचन्द्र मुनि कौमुद मोदकारी,
सिद्धान्त पारग विराग चिराग धारी ।
दो ज्ञानसागर गुरो मुझको सुविद्या,
विद्यादिसागर बनू तज दूं अविद्या ॥

भूल क्षम्य हो

लेखक कवि मै हूं नही मुझमे कुछ नहि ज्ञान ।
त्रुटियॉ होवे यदि यहॉ शोध पढे धीमान ॥

मंगल कामना

चाहो शाश्वत मोक्ष को चाहो केवलज्ञान ।
सगत्याग कर नित करे निज का केवलध्यान ॥
रवि से बढ कर तेज है शशि से बढकर ज्योत ।
झॉक देख निज मे जरा सुख का खुलता श्रोत ॥
पर मे सुख कहि है नही खुद ही सुख की खान ।
निजी नाभि मे गध है मृग भटके विन ज्ञान ॥
आत्म कथा तज क्यो करो नित विकथा निस्सार ॥
पय तज, पीते विष भला क्यो हो निज उद्धार ॥
प्रतिदिन सविनय चाव से इसको पढ तू ! भव्य ॥
सुर सुख शिव सुख नियम से पाले अक्षय द्रव्य ॥

समय एवं स्थान परिचय

देव गगन गति गध की तिथि श्रुत पचमि सार ।
ग्राम अभाना मे लिखा ध्येय मिले भव पार ॥

द्रव्य संग्रह (२)

(दोहा)

नेमिनाथ को नित नमूं, नेमिचन्द मुनि-याद ।
नेमिचन्दमुनि को नमूं, नेमिनाथ बुनियाद ॥१॥

सारे सागर क्षार है, मम गुरु मधुर अपार ।
नमूँ ज्ञानसागर, गहूँ, भव-सागर का पार ॥२॥

ज्ञानोदय-छंद

जीव सचेतन द्रव्य रहे है तथा अचेतन शेष रहे,
जिनवर मे भी जिन-पुगव वे इस विध जिन्-वृषभेष कहें ।
शत-शत सुरपति शत-शत वन्दन जिन-चरणो मे सर धरते,
उन्हे नमू मै भाव-भक्ति से मस्तक से झुक-झुक कर के ॥१॥

सुनो ! जीव उपयोग-मयी है तथा अमूर्तिक कहलाता,
स्व-तन बराबर प्रमाणवाला कर्ता-भोक्ता है भाता ।
ऊर्ध्व-गमन का स्वभाव वाला सिद्ध तथा है अविकारी
स्वभाव के वश विभाव के वश कसा कर्म से ससारी ॥२॥

आयु, श्वास और बल इन्द्रिय यूं चार-प्राण को धार रहा,
विगत-अनागत-आगत में यह जीव रहा व्यवहार रहा ।
किन्तु जीव का सदा-सदा से मात्र चेतना श्वास रहा,
निश्चय-नय का कथन यही है "यह हम को" विश्वास रहा ॥३॥

आतम मे उपयोग द्विविध है आगम ने यह गाया है,
ज्ञान-रूप और दर्शन-पन मे गुरुवर ने समझाया है ।
ज्ञात रहे फिर दर्शन भी वह चउविध माना जाता है,
अचक्षु-दर्शन, चक्षु अवधि औ केवल-दर्शन साता है ॥४॥

मति-श्रुत दो-दो ओर अवधि दो उलटे-सुलटे चलते हे,
मन-पर्यय और केवल दो यू ज्ञान भेद वसु मिलते है ।
मति-श्रुत परोक्ष, शेष सभी हो विकल-सकल प्रत्यक्ष रहे,
लोकालोकालोकित करते त्रिभुवन के अध्यक्ष कहे ॥५॥

आतम का साधारण-लक्षण वसु-चउ-विध उपयोग रहा,
गीत रहा व्यवहार गा रहा सुनो ! जरा उपयोग लगा ।
किन्तु शुद्धनय के नयनो मे शुद्धज्ञान-दर्शन-वाला,
आतम प्रतिभासित होता है बुध-मुनि मन हर्षणहारा ॥६॥

पच-रूप, रस-पच, गन्ध-दो आठ-स्पर्श, सब ये जिनमे,
होते ना है "जीव" वही है कथन किया है यू जिन ने ।
इसीलिए है जीव अमूर्तिक निश्चय-नय ने माना है,
जीव, मूर्त व्यवहार बताता कर्म-बन्ध का बाना है ॥७॥

पुद्गल कर्मादिक का कर्ता जीव रहा व्यवहार रहा,
रागादिक चेतन का कर्ता अशुद्ध-नय से क्षार रहा ।
विशुद्ध-नय से शुद्ध-भाव का कर्ता कहते सन्त सभी,
शुद्ध-भाव का स्वागत कर लो, कर लो भव का अन्त अभी ॥८॥

आतम को कृत-कर्मो का फल-सुख-दु:ख मिलता रहता है,
जिसका वह व्यवहार-भाव से भोक्ता बनता रहता है ।
किन्तु निजी शुचि चेतन-भावो का भोक्ता यह आतम है,
निश्चय-नय की यही दृष्टि है कहता यू परमागम है ॥९॥

समुद्घात बिन सिकुडन-प्रसरण-स्वभाव को जो धार रहा,
लघु-गुरु तन के प्रमाण होता "जीव" यही व्यवहार रहा ।
स्वभाव से तो जीवात्मा मे असख्यात-परदेश रहे,
निश्चय-नय का यही कथन है सन्तो के उपदेश रहे ॥१०॥

पृथिवी-जल-अगनी-कायिक औ वायु-वृक्ष कायिक सारे,
बहु-विध "स्थावर" कहलाते हे मात्र एक इन्द्रिय धारे।
द्वय-तिय-चउ-पचेन्द्रिय-धारक "त्रस-कायिक" प्राणी जाने,
भव-सागर में भ्रमण कर रहे कीट-पतगे मन माने ॥११॥

द्विविध रहे हैं पचेन्द्रिय भी रहित-मना और सहित-मना,
शेष जीव सब रहित-मना है कहते इस विध विजित-मना।
स्थावर, बादर सूक्ष्म द्विविध हैं दु ख से पीडित है भारी,
फिर सब ये पर्याप्त तथा है पर्याप्तेतर ससारी ॥१२॥

तथा मार्गणाओ मे चौदह गुणथानो मे मिलते है,
अशुद्ध-नय से प्राणी-भव मे युगो-युगो से फिरते हैं।
किन्तु सिद्ध-सम विशुद्ध-तम हैं सभी जीव ये अविकारी,
विशुद्ध-नय का विषय यही है विषय-त्याग दे अघकारी ॥१३॥

अष्ट-कर्म से रहित हुये है अष्ट-गुणो से सहित हुये,
अन्तिम तन से कुछ कम आकृति ले अपने में निहित हुये।
तीन लोक के अग्रभाग पर सहजरूप से निवस रहे,
उदय-नाश-ध्रुव-स्वभाव युत हो शुद्ध "सिद्ध" हो दिवस रहे ॥१४॥

पुद्गल-अधर्म-धर्म-काल-नभ पाच द्रव्य इन को मानों,
चेतनता से दूर रहे ये "अजीव" तातै पहिचानो।
रूपादिक गुण धारण करता मूर्त-द्रव्य "पुद्गल" नाना,
शेष द्रव्य है अमूर्त, क्यों फिर मूर्तों पर मन मचलाना ? ॥१५॥

टूटन-फूटन रूप भेद औ सूक्ष्म-स्थूलता आकृतिया
श्रवणेन्द्रिय के विषय-शब्द भी प्रतिछवि छाया या कृतियां।
चन्द्र, चांदनी, रवि का आतप अंधकार आदिक समझो,
"पुद्गल" की ये पर्याये है पर्यायों मे मत उलझो ॥१६॥

गमन-कार्य मे निरत रहे जब जीव तथा पुद्गल-भाई,
"धर्म-द्रव्य" तब बने सहायक, प्रेरक बनता पर नाही।
मीन तैरती सरवर मे जब जल बनता तब सहयोगी,
रुकी मीन को गति न दिलाता उदासीन भर हो, योगी! ॥१७॥

किसी थान मे रुकते हो जब जीव तथा पुद्गल भाई,
"अधर्म" उसमे बने सहायक, प्रेरक बनता पर नाही।
रुकने वाले पथिको को तो छाया कारण बनती है,
चलने वालो को न रोकती उदासीनता ठनती है ॥१८॥

योग्य रहा अवकाश दान मे जीवादिक सब द्रव्यो को,
वही रहा "आकाश-द्रव्य" है समझाते जिन, भव्यो को।
दो भागो मे हुआ विभाजित बिना किसी से वह भाता
एक ख्यात है लोक-नाम से अलोक न्यारा कहलाता ॥१९॥

जीव द्रव्य औ अजीव पुद्गल काल-द्रव्य आदिक सारे,
जहाँ रहे बस "लोक" वही है लोकपूज्य जिन-मत प्यारे।
तथा लोक के बाहर, केवल फैला जो आकाश रहा,
"अलोक" वह है केवल-दर्पण मे लेता अवकास रहा ॥२०॥

जीव तथा पुद्गल पर्यायो की स्थिति अवगत जिससे हो,
लक्षण वह व्यवहार-काल का परिणामादिक जिसके हो।
तथा वर्तना-लक्षण जिसका 'काल' रहा परमार्थ वही,
समझ काल को उदासीन, पर वर्णन का फलितार्थ यही ॥२१॥

इक-इक इस आकाश-देश मे इक-इक कर ही काल रहा,
रतनो की वह राशि यथा हो फलत अणु अणु-काल कहा।
परिगणनाये ये सब मिलकर अनन्त ना, पर अनगिन है,
स्वभाव से तो निष्क्रिय इन को कौन देखते, बिन जिन है? ॥२२॥

जीव-भेद से अजीव-पन से द्रव्य मूल मे द्विविध रहा,
धर्मादिक वश षड्‌विध हो फिर उपभेदो से विविध रहा।
किन्तु काल तो अस्तिकायपन से वर्जित ही माना है,
शेष द्रव्यहै अस्तिकाय यू "ज्ञानोदय" का गाना है ॥२३॥

चिर से हैं ये सारे चिर तक इनका होना नाश नही,
इन्हे इसी से "अस्ति" कहा है जिन ने, जिनमें त्रास नही।
काया के सम बहु-प्रदेश जो धारे उनको "काय" कहा,
तभी अस्ति औ काय मेल से "अस्तिकाय" कहलाय यहा ॥२४॥

एक जीव में नियम रूप से असंख्यात-परदेश रहे,
धर्म-द्रव्य औ अधर्म भी वह उतने ही परदेश गहे।
अनन्त नभ मे, पर पुद्‌गल मे सख्यासख्यानन्त रहे,
एक "काल" मे तभी काल ना काय रहा, अरहन्त कहें ॥२५॥

प्रदेश इक ही पुद्‌गल-अणु में यद्यपि हमको है मिलता,
रूखे-चिकने स्वभाव के वश नाना-स्कन्धों मे ढलता।
होता बहुदेशी इस विध अणु यही हुआ उपचार यहाँ,
सर्वज्ञो ने अस्तिकाय फिर उसे कहा श्रुत-धार यहाँ ॥२६॥

जिसमे कोई भाग नही उस अविभागी पुद्‌गल-अणु से,
व्याप्त हुआ आकाश-भाग वह "प्रदेश" माना है जिनसे।
किन्तु एक आकाश-देश मे सब अणु मिलकर रह सकते,
वस्तु तत्व में बुध-जन रमते जड-जन सशय कर सकते ॥२७॥

आस्रव-बन्धन-संवर-निर्जर-मोक्ष तत्व भी बतलाया,
सात-तत्व, नव-पदार्थ होते पाप-पुण्य को मिलवाया।
जीव-द्रव्य औ पुद्‌गल की ये विशेषतायें मानी है,
कुछ वर्णन अब इनका करती जिन-गुरु-जन की वाणी है ॥२८॥

द्रव्यास्रव और भावास्रव यो माने जाते आस्रव दो,
आतम के जिन परिणामो से कर्म बने भावास्रव सो ।
कर्म-वर्गणा जड है जिन का कर्म रूप मे ढल जाना,
"द्रव्यास्रव" बस यही रहा है जिनवर का यह बतलाना ॥२९॥

मिथ्या-अविरति पाच-पाच है त्रिविध-योग का बाना है,
पन्द्रह-विध है प्रमाद होता कषाय-चउविध माना है ।
भावास्रव के भेद रहे ये रहे ध्यान मे जिन-वचना,
ध्येय रहे आस्रव से बचना जिन-वचना मे रच-पचना ॥३०॥

ज्ञानावरणादिक कर्मों में ढलने की क्षमता वाले,
पुद्गल-आस्रव "द्रव्यास्रव" है जिन कहते, समतावाले ।
रहा एक विध, द्विविध रहा वह चउविध, वसुविध, विविध रहा,
दुखद तथा है, जिसे काटता निश्चित ही मुनि-विबुध रहा ॥३१॥

द्रव्य-भावमय "बन्ध" तत्व भी द्विविध रहा है तुम जानो,
चेतन-भावो से विधि बंधता भाव-बन्ध सो पहिचानो ।
आत्म-प्रदेशो कर्म-प्रदेशो का आपस मे घुल-मिलना,
"द्रव्य-बन्ध" है बन्धन टूटे आपस मे हम तुम मिलना ॥३२॥

प्रदेश, अनुभव तथा प्रकृति, थिति "द्रव्य-बन्ध" भी चउविध है,
प्रशम-भाव के पूर, जिनेश्वर-पद-पूजक कहते बुध है ।
प्रदेश का औ प्रकृति-बन्ध का "योग" रहा वह कारण है,
अनुभव-थिति-बन्धो का कारण "कषाय" है वृष-मारण है ॥३३॥

चेतन गुण से मण्डित जो है आतम का परिणाम रहा,
कर्मास्रव के निरोध मे है कारण, सो अभिराम रहा ।
यही "भाव-सवर" है माना स्वाश्रित है सम्बल वर है,
कर्मास्रव का रुक जाना ही रहा "द्रव्य-सवर" जड है ॥३४॥

पंच-समितियां, तीन-गुप्तियां पंच-व्रतों का पालन हो,
बार-बार बारह-भावन औ दश-धर्मों का धारण हो ।
तथा विजय हो परीषहों पर बहुविध-चारित में रमना,
भेद "भाव-संवर" के ये सब रमते उनमें वे श्रमणा ॥३५॥

अपने सुख-दुख फल को देकर जिन-भावों से विधि झड़ना,
यथा-काल या तप-गर्मी से "भाव-निर्जरा" उर धरना ।
पुद्गल कर्मों का वह झड़ना "द्रव्य-निर्जरा" यहां कही,
भाव-निर्जरा द्रव्य-निर्जरा सुनो ! निर्जरा द्विधा रही ॥३६॥

सब कर्मों के क्षय में कारण आतम का परिणाम रहा,
"भाव-मोक्ष" वह यही बताता जिनवर-मत अभिराम रहा ।
आत्म-प्रदेशों से अति-न्यारा तन का, विधि का हो जाना,
"द्रव्य-मोक्ष" है, मोक्षतत्व भी द्रव्य-भावमय, सोपाना ॥३७॥

शुभ-भावों से सहित हुआ सो जीव "पुण्य" हो आप रहा,
अशुभ-भाव से घिरा हुआ ही जीव आप हो "पाप" रहा ।
सुर-नर-पशु की आयु-तीन ये उच्चगोत्र औ सुखसाता,
नाम-कर्म सैंतीस पुण्य हैं शेष पाप हैं दुखदाता ॥३८॥

सच्चादर्शन तत्वज्ञान भी सच्चा, सच्चा चरण तथा,
"मोक्षमार्ग-व्यवहार" यही है, प्रथम यही है शरण-कथा ।
परन्तु "निश्चय-मोक्षमार्ग" तो निज आतम ही कहलाता,
क्योंकि आतमा उस तीनों से तन्मय होकर वह भाता ॥३९॥

ज्ञानादिक ये तीन रतन तो आतम में ही झिल-मिलते,
शेष सभी द्रव्यों में झांको कभी किसी को ना मिलते ।
इसीलिए इन रत्नों में नित तन्मय हो प्रतिभासित है,
माना निश्चय मोक्ष-सौख्य का, कारण आतम-भावित है ॥४०॥

जीवा-जीवादिक तत्वो पर करना जो श्रद्धान सही,
"सम-दर्शन" है वह आतम का स्वरूप माना, जान सही।
जिसके होने पर क्या कहना सशय-विभ्रम भगते है,
समीचीन तो ज्ञान बने वह प्राण-प्राण झट जगते है ॥४१॥

विमोह-विभ्रम जहाँ नही है सशय से जो दूर रहा,
निज को निज ही, पर को पर ही जान रहा, ना भूल रहा।
समीचीन बस "ज्ञान" वही है बहुविध हो साकार रहा,
मन-वच-तन से गुणी-जनो का जिसके प्रति सत्कार रहा ॥४२॥

दृश्य रही कुछ, अदृश्य भी है लघु-कुछ, गुरु-कुछ "वस्तु" रही,
इसी तरह बस तरह-तरह की स्वभाववाली अस्तु सही।
"दर्शन" तो सामान्य मात्र को विषय बनाता अपना है,
विषय-भेद तो "ज्ञान" कराता जिन-मत का यह जपना है ॥४३॥

पूर्ण-ज्ञान वह जिन्हे प्राप्त ना उन्हे प्रथम तो दर्शन हो,
बाद ज्ञान उपयोग, नही दो एक-साथ, कब दर्शन हो ?
पूर्ण-ज्ञान से पूर्ण-सुशोभित केवलज्ञानी बने हुये,
एक साथ उपयोग धरे दो अन्तर्यामी बने हुये ॥४४॥

अशुभ-भावमय पाप-वृत्ति को मन-वच-तन से जो तजना,
शुभ मे प्रवृत्ति करना समुचित "चारित" है मन रे भजना!।
यह "चारित-व्यवहार" कहाता समिति-गुप्ति-व्रत वाला है,
इस विध जिन-शासन है गाता सुधा-सुपूरित प्याला है ॥४५॥

बाहर की भी, भीतर की भी क्रियामात्र को बन्द किया,
भव के कारण पूर्ण मिटाना यही मात्र सौगन्ध लिया।
उस ज्ञानी का जीवन ही वह रहा परम "शुचि-चारित" है,
जिनवाणी का यही बताना मुनीश्वरो से धारित है ॥४६॥

निश्चय औ व्यवहार भेद से द्विविध यहाँ शिव-पन्थ रहा,
ध्यानकाल में निश्चित उसको पाता है मुनि-सन्त अहा ! ।
इसीलिए तुम दत्त-चित्त हो एक-मना हो विजित-मना,
सतत करो अभ्यास-ध्यान का शीघ्र बनो फिर विगत-मना ॥४७॥

शुद्धातम के सहज-ध्यान मे होना जब है तल्लीना,
चचल मन को अविचल करना चाहो यदि निज-अधीना ।
मोह करो मत, राग करो मत, द्वेष करो मत, तुम तन मे,
इष्ट रहे कुछ, अनिष्ट भी है पदार्थ मिलते त्रिभुवन मे ॥४८॥

णमोकार "पैंतीस-वर्ण" का मन्त्र रहा सोलह, छह का,
पाच, चार, दो, इक वर्णो का द्वार-ध्यान का, निज-गृह का ।
यो परमेष्ठी-वाचक वर्णो का नियमित जप-ध्यान करो,
या गुरु-सकेतो पर मन को कीलित कर अवधान करो ॥४९॥

घाति-कर्म चउ समाप्त करके शुद्ध हुये जो, आप्त हुये,
अनन्त-दर्शन, अनन्त-सुख-बल पूर्ण-ज्ञान को प्राप्त हुये ।
परमौदारिक तन-धारक हो परम पूज्य "अरहन्त" हुये,
इन्हे बनाओ "ध्येय" ध्यान मे जय ! जय ! जय ! जयवन्त हुये ॥५०॥

लोकशिखर पर निवास करते तीन-लोक के नायक है,
लोकालोकाकाश तत्व के केवलदर्शक-ज्ञायक है ।
पुरुषरूप आकार लिए है "सिद्धातम" हैं कहलाते,
स्व-तन-कर्म को नष्ट किये है ध्यावे उनको हम ताते ॥५१॥

दर्शन-ज्ञानाचार प्रमुख कर चरित-वीर्य-तप खुद पाले,
पालन करवाते औरो से शिव-पथ पर चलने वाले ।
ये है मुनि "आचार्य" हमारे पूज्य-पाद पालक प्यारे,
ध्यान इन्हीं का करे रात-दिन विनीत हम बालक सारे ॥५२॥

भव्य-जनो को धर्म-देशना देने मे नित निरत रहे,
तीन-रतन से मण्डित होते लौकिकता से विरत रहे ।
"उपाध्याय" ये पूज्य कहाते यतियो के भी दर्पण है,
मनसा-वचसा-वपुषा इनका नमन कोटिश अर्पण है ॥५३॥

यथार्थ दर्शन तथा ज्ञान से नियम रूप से सहित रहे,
निरतिचार वह "चारित ही है मोक्षमार्ग" यह विदित रहे ।
इसी चरित की "साधु" साधना सदा सर्वदा करता है,
ध्यान-साधु का करो इसी से सभी आपदा हरता है ॥५४॥

चिन्ता क्या है, चिन्तन कुछ भी साधु करे वह, पर इतना,
ध्यान रहे बस निरीहता का साधुपना पनपे उतना ।
एक ताजगी निरी-एकता पाता निश्चित साधु वही,
यही "ध्यान है निश्चय" समझो साधु बनो ! पर स्वादु नही ॥५५॥

कुछ भी स्पन्दन तन मे मत ला बन्द-मुखी हो, जल्प न हो,
चिन्ता, चिन्तन मन मे मत कर चेतन फलत निश्चल हो ।
अपने ही आतम मे अपना अविचल हो, जो रमना है,
ध्यान रहे यह परम-ध्यान है और ध्यान तो भ्रमणा है ॥५६॥

व्रत के धारक, तप के साधक श्रुत-आराधक बना हुआ,
वही ध्यान-रथ-धुरा सु-धारे नियम रहा यह बँधा हुआ ।
इसीलिए यदि सुनो तुम्हे भी ध्यानामृत को चखना है,
व्रत मे, तप मे, श्रुत मे निज को निशि-दिन तत्पर रखना है ॥५७॥

बिन्दु-मात्र श्रुत का धारक हूँ पार सिन्धु का कब पाता ?
"नेमिचन्द्र" नामक मुनि, मुझसे लिखा "द्रव्यसग्रह" साता ।
दूर हुये दोषो से कोसो श्रुत-कोशो से पूर हुये,
शोधे वे "आचार्य" इसे यदि भाव यहाँ प्रतिकूल हुये ॥५८॥

मंगलभावना

मेरा तेरा-पन मिटे, भेद-भाव का नाश ।
रीति-नीति सुधरे सभी, वेद-भाव में वास ॥१॥

भाग्य भला वह क्या रहा, उदय कर्म का मात्र ।
वहाँ देख मत, देख ले, जहाँ धर्म का पात्र ॥२॥

ना तो पर पर रोष हो, ना कर्मों का दोष ।
है अपना अपराध यह, खोया है निज-होश ॥३॥

सदा सरलता साध लो, और कुटिलता त्याग ।
बनो धवल तुम हंस से, विरागता से राग ॥४॥

काले बादल बन, तपी-भूपर बरसो आप ।
भरे पाप-घट पुण्य में, बदले अपने आप ॥५॥

लाभ उलटता हो भला, भला उलटता लाभ ।
हो सब ज्यो का त्यो सदा, भले रहे बदलाव ॥६॥

स्थान एवं समय परिचय

मुक्तागिरि पर मुकत मुनि, साढे तीन करोड
मुक्तागिरि को नित नमूँ, नत-सिर हो कर-जोड ॥७॥

स्वर-आतम-रस-गन्ध का, अक्षय-तृतीया योग
पूर्ण हुआ अनुवाद यह, देता ध्रुव आलोक ॥८॥

अष्टपाहुड



अष्टपाहुड

मूल अष्टपाहुड (प्राकृत)

रचनाकार . आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी

पद्यानुवाद आचार्य विद्यासागर

- अष्टपाहुड़ -

मंगलाचरण

देव शास्त्र-गुरु-स्तवन

''सन्मति'' को मम नमन हो, मम मति सन्मति होय ।
सुर नर पशु गति सब मिटे, गति पञ्चम गति होय ।।१।।

चन्दन चन्दर चांदनी, से जिन धुनि अति शीत ।
उसका सेवन मै करूँ, मन-वच-तन कर नीत ।।२।।

सुर, सुर-गुरु तक, गुरु चरण-रज सर पर सुचढाय ।
यह मुनि-मन गुरु भजन मे, निशि-दिन क्यो न लगाय ।।३।।

श्री कुन्द-कुन्दाय नमः

''कुन्द-कुन्द'' को नित नमूँ, हृदय कुन्द खिल जाय ।
परम सुगधित महक मे, जीवन मम घुल जाय ।।४।।

श्री ज्ञानसागराय नमः

तरणि ''ज्ञानसागर'' गुरो ! तारो मुझे ऋषीश ।
करुणाकर ! करुणा करो कर से दो आशीष ।।५।।

दर्शन पाहुड

श्री वर्धमान वृषभादि जिनेश्वरों को,
मैं वन्दना कर सुजोड़ निजी करों को।
संक्षेप से अब दर्शन-मार्ग खोलूँ
खोलूँ जिनागम रहस्य निजात्म धोलूँ ॥१॥

जो धर्म मूल वह दर्शन नाम पाया
ऐसा सुशिष्यजन को जिनने बताया
सद्धर्म का श्रवण ध्यान लगा सुनो रे
वे वन्दनीय नहिं दर्शन-हीन को रे ॥२॥

वे भ्रष्ट हैं पुरुष दर्शन-भ्रष्ट जो हैं
निर्वाण प्राप्त करते न निजात्म को हैं
चारित्र भ्रष्ट पुनि चारित पा सिझेंगे
पै भ्रष्ट दर्शनतया न कभी सिझेंगे ॥३॥

जाने अनेक विध आगम को तथापि
आराधना न करती उनको कदापि
सम्यक्त्व रत्न तज के परमें रमे हैं
वे बार बार भवकानन मे भ्रमे हैं ॥४॥

वे कोटि वर्ष तक भी तपते रहेंगे
घोराति-घोर तप भी करते रहेंगे
ना बोधिलाभ उनको मिलता तथापि
सम्यक्त्व से रहित हैं मति मन्द-पापी ॥५॥

सम्यक्त्व ज्ञान बल दर्शन वीर्य से है
जो वर्धमान, गतमान सदा लसे हैं
कालुष्य-पूर्ण-कलिका मल पाप त्यागी
सर्वज्ञ शीघ्र बनते, मुनि-वीतरागी ॥६॥

सम्यक्त्व का झर झरा झरना झरेगा
वो साधु के हृदय शीतल तो करेगा
तो नव्य कर्म मल आ न कभी लगेगा
औ पूर्व-लिप्त मल भी धुलता धुलेगा ॥७॥

ये भ्रष्ट मात्र जिन दर्शन भ्रष्ट जो है
निम्नोक्त, निम्नतम-भ्रष्ट कनिष्ट यो है
धिक्कार ज्ञान-व्रत-भ्रष्ट कुधी कहाते
वे तो स्वय मिट रहे परको मिटाते ॥८॥

धारा स्वयं नियम सयम भोग-हारी
मूलोत्तरादि गुण ले तप योग-धारी
ऐसे सुधर्मरत को कुछ भ्रष्ट स्वैरी
दोषी सुसिद्ध करते मुनि-धर्म-वैरी ॥९॥

हो मूल नष्ट जिसका, फल फूल दाता
फूले फले न फिर वो द्रुम सूख-जाता
त्यो मूल नष्ट जिन दर्शन भ्रष्ट देही
होता न मुक्त भव से न बने विदेही ॥१०॥

ज्यो मूल के वश हि वृक्ष विशाल होता
शाखोपशाख परिवार अपार ढोता
त्यो मोक्षमार्ग जिनदर्शन मूल भाता
प्यारा जिनेश मत है इस भाति गाता ॥११॥

जो भ्रष्ट दर्शन, सुदर्शनधारियों से
है चाहते पद प्रणाम व्रती जनो से
लूले व मूक बनते परलोक मे है
पाते न बोधि भ्रमते त्रयलोक मे है ॥१२॥

लो ! ज्ञानवान यदि दर्शन भ्रष्ट को ही
लज्जा प्रलोभ भय से नमता सुयोगी
पाता न बोधि जिनलिंग सुधारता भी
जो पाप की विनय है करता वृथा ही ॥१३॥

बाह्यान्त चित्त पर संयम पूर्ण होते
जो अंतरंग बहिरंग निसंग होते
ले शुद्ध अन्न स्थित हो शुचि बोध धारे
सो जैन दर्शन, सुरूपण दोष टारे ॥१४॥

सम्यक्त्व से प्रथम उत्तम बोध होता
सद्बोध से सब पदार्थ सुशोध होता
सत शोधसे पुनि हिताहित ज्ञान होता ।
सम्यक्त्व मोक्ष पथ में वर-दान होता ॥१५॥

ज्ञाता बने जब हिताहित के अमानी
मिथ्या कुशील तज शील सुधार ज्ञानी
स्वर्गीय वैभव विलास नितान्त पाते
औ अन्त में बन अनन्त, भवान्त जाते ॥१६॥

पीयूष है विषय सौख्य विरेचना है,
पीते सुशीघ्र मिटती चिर वेदना है ।
भाई जरा मरण रोग विनाशती है,
संजीवनी सुखकरी जिन भारती है ॥१७॥

है आद्य लिंग जिन लिंग असंग भाता,
दूजा सुक्षुल्लक व ऐलकका कहाता ।
है आर्यिका पद तृतीय जिनेश गाया,
चौथा न लिंग जिनदर्शन मे बताया ॥१८॥

पचास्तिकाय छह द्रव्य पदार्थ नौ हो,
जीवादि तत्त्व पुनि सात यथार्थ औ हो ।
श्रद्धान भव्य इन ऊपर है जमाता,
मानो उसे तुम सुदृष्टि वही कहाता ॥१९॥

तत्त्वार्थ मे रुचि भली भव सिन्धु सेतु,
सम्यक्त्व मान उसको व्यवहार से तू ।
सम्यक्त्व निश्चयतया निज आतमा ही
ऐसा जिनेश कहते शिवराह-राही ॥२०॥

सोपान जो प्रथम शाश्वत मोक्षका है,
है सार रत्न-त्रय मे गुण योग का है
सम्यक्त्व रत्न वह है जिन देव गाते,
धारो उसे हृदय मे अविलम्ब तातै ॥२१॥

जो भी बने प्रथम चारित धार लेना,
श्रद्धान शेष व्रत पे फिर धार लेना ।
श्रद्धान ईदृश किया उस भव्य मे है,
सम्यक्त्व यो जिन कहे निज द्रव्य मे है ॥२२॥

चारित्र ज्ञान सम दर्शन लीन त्यागी,
तल्लीन है नियम मे तप मे विरागी ।
साधू करे सुगुण-गान गुणी जनो का,
वे वन्द्य है कथन यो जगदीश्वरों का ॥२३॥

निस्सग नग्न मुनि से चिढता सदा है,
मात्सर्य भाव उनसे रखता मुधा है ।
मिथ्यात्व-मंडित वही मतिमूढ मोही,
स्वैरी रहा नियम सयम का विरोधी ॥२४॥

शीलादि के सदन है मुनि के गुणो के,
जो वन्द्य खेचर नरो असुरो सुरो के ।
ऐसे दिगम्बर जिन्हे लख गर्व धारे,
सम्यक्त्व से स्खलित वे नर सर्व सारे ॥२५॥

शास्त्रानुसार नहि केवल वस्त्र त्यागी,
वे वन्द्य है नहि असयत भी सरागी ।
दोनो समान उनमे कुछ भेद ना है,
है एक भी नहि यमी गुरुदेशना है ॥२६॥

ये जात पाँत कुल भी नहि वन्द्य होते,
ना वन्द्य भी तन रहा, गुण वन्द्य होते ।
कोई रहे श्रमण श्रावक निर्गुणी है,
वे वन्दनीय नहिं है कहते गुणी हैं ॥२७॥

जो धारते श्रमणता तपते तपस्वी,
है शील ब्रह्मगुण से लसते यशस्वी ।
श्रद्धाभि-भूत वन मे शुचि भाव द्वारा,
वन्दूं सुमुक्ति पथ को मुनि को सुचारा ॥२८॥

कल्याण मे जगत के रत सर्वदा है,
हो कि निमित्त हरते जग आपदा है ।
चौंतीस सातिशय चौसठ चामरों से,
शोभे जिनेश नित वन्द्य नरामरो से ॥२९॥

सम्यक्त्व ज्ञान तप और चरित्र प्यारे,
ये है सभी गुण सुसयम के पुकारे ।
चारो मिले तब मिले वह मोक्ष प्यारा
ऐसा कहे कि जिन शासन है हमारा ॥३०॥

है ज्ञान सार नर का जगमे कहाता,
सम्यक्त्व सार नर का सबमे सुहाता ।
सम्यक्त्व से चरित हो वह कार्यकारी
चारित्र से मुकति हो अनिवार्य प्यारी ॥३१॥

आराधना चउ लिए जिन लिग धारे,
सम्यक्त्व ज्ञान तप चारित पूर्ण पाले ।
संदेह क्या फिर भला मुनि सिद्ध होते,
वे पाप पक फलत अविलम्ब धोते ॥३२॥

सम्यक्त्व शुद्धतम पा समदृष्टिवाले,
कल्याण पच फलत विरले सभाले ।
सम्यक्त्व दिव्य मणि है जग पूज्य तातै,
क्या मर्त्य क्या सुर सुसाधु उसे पुजाते ॥३३॥

सम्यक्त्व का सुफल मानव जन्म पाता,
पाता सुगोत्र कुल उत्तम सघ पाता ।
सम्यक्त्व से मनुज हो यह क्या न पाता,
है अत मे अमित अक्षय मोक्ष पाता ॥३४॥

चौतीस सातिशय से लगते विराट,
धारे सुलक्षण जिनेश हजार आठ ।
स्वामी विहार करते जबलौ सही है,
है स्थावरा शुचिमयी प्रतिमा वही है ॥३५॥

योगी यथाविधि यथाबल कर्म सारे,
काटे स्वकीय, तप बारह धर्म धारे ।
निर्वाण प्राप्त करते भव पार जाते,
आते न लौट भव में तन धार पाते ॥३६॥

दोहा

मुनिवर की वह नग्नता रत्नत्रय का धाम ।
दर्शन प्राभृत मे सही पाता दर्शन नाम ॥१॥

पूज्य दिगम्बर-पन अत· पूजत पाप पलाय ।
चरित ज्ञान दृग मिलत है दर्शन आप सुहाय ॥२॥

सूत्र पाहुड़

जो भी लखा सहज से अरहन्त गाया,
सत् शास्त्र बाद गणनायक ने रचाया ।
सूत्रार्थ को समझने पढ शास्त्र सारे,
साधे अत श्रमण है परमार्थ प्यारे ॥१॥

सत् सूत्र मे कथित आर्ष परम्परा से,
जोभी मिला द्विविध सूत्र अभी जरा से ।
जो जान मान उसको मुनि भव्य होता,
आरूढ मोक्ष पथ पे शिव सौख्य जोता ॥२॥

साधू विराग यदि है जिन शास्त्र ज्ञाता,
ससार का विलय है करता सुहाता ।
सूची न नष्ट यदि डोर लगी हुई हो,
खोती नितान्त यदि डोर नही लगी हो ॥३॥

साधू ससूत्र यदि है भव मे भले हो,
होता न नष्ट भव में भव ही टले वो ।
हो जीव यद्यपि अमूर्त सुसूत्र द्वारा,
आत्मानुभूति कर काटत कर्म सारा ॥४॥

सूत्रार्थ है वह जिसे जिनने बताया,
जीवादि तत्त्व सब अर्थ हमे दिखाया ।
प्राप्तव्य त्याज्य इनमे फिर कौन होते,
जो जानते नियम से समदृष्टि होते ॥५॥

जो व्यावहार परमार्थतया द्विधा है,
सर्वज्ञ से कथित सूत्र सुनो सुधा है ।
योगी उसे समझते शिव सौख्य पाते,
वे पाप पकपन पूरण है मिटाते ॥६॥

विश्वास शास्त्र पर भी नहि धार पाते,
होते सवस्त्र पद भ्रष्ट कुधी कहाते ।
माने तथापि निज को मुनि, ध्यान देवो,
आहार भूल उनको कर मे न देवो ॥७॥

उत् सूत्र पा हरिहरादिक से प्रतापी,
जा स्वर्ग कोटि भव मे रुलते तथापि ।
स्थाई नही सहज सिद्धि विशुद्धि पाते,
ससार के पथिक हो दुख वृद्धि पाते ॥८॥

निर्भीक सिह सम यद्यपि है तपस्वी,
आतापनादि तपते गुरु हो यशस्वी ।
स्वच्छन्द हो विचरते यदि, पाप पाते,
मिथ्यात्व धार कर वे भव ताप पाते ॥९॥

होना दिगम्बर व अम्बर त्याग देना,
आहार होकर खडे कर पात्र लेना ।
है मोक्षमार्ग वह शेष कुमार्ग सारे,
ऐसा जिनेश मत है बुध मात्र धारे ॥१०॥

सयुक्त साधु नियमो यम सयमो से,
उन्मुक्त बाधक परिग्रह सगमो से ।
हो वन्द्य वो नर सुरासुर लोक मे है,
ऐसा कहे जिनप, नाथ त्रिलोक के हैं ॥११॥

बाईस दुस्सह परीषह-यातनाये,
पूरा लगा बल सहे बल ना छिपाये ।
है कर्म नष्ट करने रत नग्नदेही,
वे वन्दनीय मुनि, वन्दन हो उन्हे ही ॥१२॥

सम्यक्त्व बोध युत हे जिन लिग धारी,
जो शेष देश व्रत पालक वस्त्र धारी ।
"इच्छामि' मात्र करने बस पात्र वे है
ऐसा नितान्त कहते जिन शास्त्र ये है ॥१३॥

वे क्षुल्लकादि गृहकर्म अवश्य त्यागे,
इच्छा सुकार पद को समझे सुजागे ।
शास्त्रानुसार प्रतिमाधर शुद्ध दृष्टी,
पाते सुरेश पद भी शिव सिद्धि सृष्टि ॥१४॥

इच्छादिकार करना निज-चाह होना,
इच्छा जिन्हे न निजकी गुम-राह होना ।
वे धर्म की सब क्रिया करते भले ही,
ससार दु.ख न टले भव मे रुले ही ॥१५॥

तू काय से वचन से मन से रुची से,
श्रद्धान आत्म पर तो कर रे इसी से ।
तू जान आत्म भर को निज यत्न द्वारा,
पा मोक्ष लाभ फलत ध्रुव रत्न प्यारा ॥१६॥

दाता-प्रदत्त कर मे स्थित हो दिवा मे,
आहार ले, बहुबार नही निशा मे ।
बालग्र के अणु बराबर भी अपापी,
साधू परिग्रह नही रखता कदापि ॥१७॥

है जात रूप शिशु सा मुनि धार भाता,
अत्यल्प भी नहि परिग्रह भार पाता ।
लेता परिग्रह मनो बहु या जरा सा,
क्यो ना करे फिर तुरन्त निगोदवासा ॥१८॥

जो मानते यदि परिग्रह ग्राह्य साधू,
वे वन्दीय नहि है कहलाय स्वादू ।
होता घृणास्पद ससग अगार होता,
निस्सग ही जिन कहे अनगार होता ॥१९॥

जो पाच पाप तज पच महाव्रती है,
निर्ग्रन्थ मोक्ष पथ पे चलते यती है ।
निर्दोष पालन करे त्रय गुप्तियाँ है,
वे वन्दनीय, कहती जिन सूक्तियाँ है ॥२०॥

जो भोजनार्थ भ्रमते मन मौन पाले,
किवा सुवाक समिति से कर पात्र धारे ।
सिद्धात मे कथित्त वो गृह त्यागियो का,
दूजा सुलिग परमोत्तम श्रावको का ॥२१॥

आहार बैठ, कर मे इक बार पा ले,
आर्या सवस्त्र वह भी इक वस्त्र धारे ।
स्त्री का तृतीय वर लिग यही कहाता,
चौथा न लिग मिलता जिन शास्त्र गाता ॥२२॥

सद्दृष्टि तीर्थकर हो घर मे भले ही,
जो वस्त्र धारक जिन्हे शिव न मिले ही ।
निर्ग्रन्थ मोक्ष पथ ही अवशिष्ट सारे,
ससार-पथ, तजते समदृष्टि वाले ॥२३॥

हो बाहु मूल तल मे स्तननाभि मे भी,
हो सूक्ष्म जीव महिला जनयोनि मे भी ।
वे सर्व वस्त्र तज दीक्षित होय कैसी,
आर्या सवस्त्र रहती, रहती-हितैषी ॥२४॥

सम्यक्त्व मडित सही शुचि दर्पणा है,
स्त्री योग्य सयम लिए तज दर्पणा है ।
घोरातिघोर-यदि चारित पालती है,
तो आर्यिका तब न पापवति, सती है ॥२५॥

जो मास मास प्रति मासिक दोष ढोती,
शका बनी हि रहती मन तोष खोती ।
होती निसर्ग शिथिला मति से मलीना,
होती स्त्रियाँ सब अत निज ध्यान हीना ॥२६॥

अन्नादि खूब मिलते पर अल्प पाये,
इच्छा मिटी कि मुनि के दुख भाग जाये ।
होता अपार जल यद्यपि है नदी पे,
धोने स्ववस्त्र जल अल्प गहे सुधी पै ॥२७॥

दोहा

सूत्र सूचना, सुन, सुना रहा न पर मे स्वाद ।
सूत्र-ज्ञान कर, कर स्वय तप, न कभी परमाद ॥१॥

जिनवर का यह सूत्र है, सुपथ प्रकाशक दीप ।
धारन कर, कर मे दिखे सुख कर मोक्ष समीप ॥२॥

चारित्र पाहुड

सर्वज्ञ है निखिल दर्शक वीतरागी,
है वीतमोह परमेष्ठि प्रमाद त्यागी ।
जो भव्य जीव स्तुत है त्रयलोक द्वारा,
अर्हन्त को नमन मैं कर बार बारा ॥१॥

सर्वज्ञ दिव्य पद दायक पूर्ण साता,
ज्ञानादि रत्नत्रय को शिर मै नवाता ।
चारित्र प्राभृत सुनो अब मैं सुनाता,
जो मोक्ष का परम कारण है कहाता ॥२॥

जो जानता "समय मे" वह ज्ञान होता,
श्रद्धान होय वह दर्शन नाम ढोता ।
दोनो मिले जब सुनिश्चल शैल होते,
चारित्र निश्चय वही मन मैल धोते ॥३॥

ये जीव के त्रिविध भाव न आज के है,
वैसे अनन्त ध्रुव सत्य अनादि के है ।
तीनो अशुद्ध पर शुद्ध उन्हे बनाने,
चारित्र है द्विविध यो जिन शास्त्र माने ॥४॥

श्रद्धान जैन मत मे अति शुद्ध होना,
सम्यक्त्व का चरण चारित धार लो ना ।
औ सयमाचरण चारित दूसरा है,
सर्वज्ञ से कथित सेवित है खरा है ॥५॥

मिथ्यात्व पक तुमने निज पे लिपाया,
शकादि' मैल दृगके दृगपे छिपाया ।
वाक्काय से मनस से उनको हटाओ,
सम्यक्त्व आचरण मे निजको बिठाओ ॥६॥

ये अष्ट अग दृग के, विनिशकिता है,
नि.काक्षिता, विमल-निर्विचिकित्सा है ।
चौथा अमूढपन है उपगूहना को,
धारो, स्थिति-करण, वत्सल-भावना को ॥७॥

श्रद्धान होय जिनमे वह मोक्ष दाता,
नि·शक आदि गुण युक्त सुदृष्टि साता ।
धारो सुबोध युत दर्शन को सुचारा,
सम्यक्त्व आचरण चारित वो तुम्हारा ॥८॥

सम्यक्त्व के चरण से द्युतिमान होता,
ओ संयमाचरण मे रममान होता ।
ज्ञानी वही बस नितान्त अमूढ दृष्टी,
निर्वाण शीघ्र गहता तज मूढ दृष्टी ॥९॥

सम्यक्त्व के चरण से च्युत हो रहे है,
पै सयमाचरण केवल ढो रहे है ।
अज्ञान-ज्ञान फल में अनजान होते,
मोही न मोक्ष गहते, बिन ज्ञान रोते ॥१०॥

वात्सल्य हो, विनय, हो गुरु मे गुणी मे,
अन्नादि दे कर दया करते दुखी में ।
निर्ग्रन्थ मोक्ष पथ की करना प्रशंसा,
साधर्मि-दोष ढकना, नहिं आत्म शंसा ॥११॥

पूर्वोक्त सर्व गुण लक्षित हो उन्हीं मे,
सारल्य भावयुत निष्कपटी सुधी में ।
मिथ्यात्व से रहित भाव सुधारते है,
वे ही अवश्य जिन दर्शन पालते हैं ॥१२॥

रागाभिभूत मत की स्तुति शस सेवा,
उत्साह धार यदि जो करते सदैवा ।
अज्ञान मोह पथ से मन जोडते है,
श्रद्धान जैन मत का तब छोडते है ॥१३॥

निर्ग्रन्थ जेन मत की स्तुति शस-सेवा,
उत्साह धार यदि जो करते सदैवा ।
श्रद्धान और जिनमे दृढ ही जमाते,
सज्ज्ञान पा, न जिन दर्शन छोड पाते ॥१४॥

सम्यक्त्व बोध गहते तुम हो इसी से,
मिथ्यात्व मूढपन को तज दो रुची से ।
भाई मिला जब सुधर्म तुम्हे अहिसा,
सारभ मोह तज दो अघकर्म हिसा ॥१५॥

त्यागो परिग्रह पुन धर लो प्रव्रज्या,
पालो सुसयम, तपो तप त्याग लज्या ।
निर्मोह भाव लसता उरमे विरागी,
पाता निजी विमल ध्यान सुनो सरागी ॥१६॥

मिथ्यात्व मोह मल दूषित पथ मे ही,
आश्चर्य क्या यदि चले मति मन्द मोही ।
मिथ्या कुबोध वश ही विधि बध पाते,
अच्छी दिशा पकड के कब अन्ध जाते ॥१७॥

विज्ञान-दर्शन तया समदृष्टि जाने,
जो द्रव्य,-द्रव्यगत पर्यय को पिछाने ।
सम्यक्त्व से स्वयम पे कर पूर्ण श्रद्धा,
चारित्र-दोष हरते, करते विशुद्धा ॥१८॥

सम्मोह से रहित है उन ही शमी मे,
पूर्वोक्त तीन शुचि-भाव वसे यमी से ।
श्रद्धाभिभूत निज के गुण गीत गाते,
काटे कुकर्म झट से भव जीत पाते ॥१९॥

प्रारभ में गुण असख्य पुनश्च संख्या,
है कर्म नष्ट करते बनते अशंका ।
सम्यक्त्व आचरण पा दुख को मिटाते,
ससार को लघु परीत सुधी बनाते ॥२०॥

सागार और अनगार तया द्विधा है,
वो सयमाचरण मोक्षद है सुधा है ।
सागार-सग-युत-श्रावक का कहाता,
निर्ग्रन्थ रूप "अनगार" मुझे सुहाता ॥२१॥

सद्दर्शना सुव्रत सामयकी स्वशक्ति,
औप्रोषधी सचित त्याग दिवाभिभुक्ति ।
है ब्रह्मचर्य व्रत सप्तम नाम पाता,
आरभ सग अनुमोदन त्याग साता ।
उद्दिष्ट त्याग व्रत ग्यारह ये कहाते,
है एक देश व्रत श्रावक के सुहाते ॥२२॥

सानन्द-श्रावक अणुव्रत पॉच पाले,
आरम्भ नाशक गुण व्रत तीन धारे ।
शिक्षा व्रतों चहुँ धरें वह है कहाता,
सागार सयम सुचारित सौख्य दाता ॥२३॥

हो त्याग, स्थूल त्रसकायिक के वधों का
और स्थूल झूठ, बिन दत्त परो धनो का
भाई कभी न पर की वनिता लुभाना
आरम्भ संग परिमाण तथा लुभाना
ये पच देशव्रत श्रावक तू निभाना ॥२४॥

सीमा विधान करना कि दशो दिशा मे,
औ व्यर्थ कार्य करना न किसी दशा मे ।
भोगोपभोग परिमाण तथा बनाना,
ये तीन श्रावक गुणव्रत तू निभाना ॥२५॥

सामायिक प्रथम, प्रोषध है द्वितीया,
सिद्धात मे अतिथि पूजन है तृतीया ।
सल्लेखना चरम ये व्रत चार शिक्षा,
शिक्षा मिले तुम बनो मुनि, धार दीक्षा ॥२६॥

होता कला सहित है टुकडा सुनो रे !
सागार धर्म इस भाँति कहा, गुणो रे !
पै सयमाचरण शुद्ध तुम्हे सुनाता,
आराध्य धर्म यति का परिपूर्ण भाता ॥२७॥

पच्चीस हो शुचि क्रिया व्रत पॉच धारे,
पचाक्ष के दमन से सब पाप टारे ।
औ गुप्ति तीन समिति मुनि पॉच पाले,
वो सयमाचरण साधक नग्न प्यारे ॥२८॥

जो चेतनो जड़तनो अवचेतनो मे,
अच्छी बुरी जगत की इन वस्तुओ मे ।
ना राग रोष मुनि हो करता कराता,
पचाक्ष-निग्रह वही यह छन्द गाता ॥२९॥

हिसा यथार्थ तजना भजना अहिसा,
हो झूँठ स्तेय तज सत्य अचौर्य शंसा ।
अब्रह्म-सग तज, ब्रह्म निसग होना,
ये पॉच है तुम महाव्रत, धार लो ना ॥३०॥

साधे गये विगत मे व्रत ये जहाँ है,
साधे जिन्हे नित नितान्त महामना है ।
होते स्वय सहज सत्य महान ताते,
ये आप सार्थक महाव्रत नाम पाते ॥३१॥

वाक् चित्त-गुप्ति धरना, लख भोज पाना,
ईर्या समेत चलना उठ बैठ जाना ।
आदान निक्षपण से, सब भावनाये
ये पाँच आद्य व्रत की सुख-साधनाये ॥३२॥

छोडो प्रलोभ, मन आगम ओर मोडो,
गभीर हो अभय हो भय हास्य छोडो,
समोह क्रोध तज दर्शन पालना, ये,
है पाँच सत्यव्रत की शुभ भावनाये ॥३३॥

देखो न अग महिलाजन सग छोडो,
स्त्री की कथा श्रवण से मन को न जोडो ।
संभोग की स्मृति तजो, न गरिष्ट खाना
ये भावना परम ब्रह्मन की खजाना ॥३४॥

छोडे हुए सदन शून्य घरो वनो मे,
सत्ता जमा कर नही रहना द्रुमो मे ।
साधर्मि से न लडना शुचि भोज पाना,
ये भावना व्रत अचौर्यन की निभाना ॥३५॥

ये शब्द स्पर्श रस रूप सुगध सारे,
पचाक्ष के विषय है कुछ सार खारे ।
ना राग रोष इनमे करना कराना,
है भावना चरम जो व्रत की निभाना ॥३६॥

ईर्या सुभाषणवती पुनि एषणा है,
आदान निक्षपण औ व्युतसर्गना है ।
पांचो कही समितियां जिनने उसी से,
हो शुद्ध शुद्धतम सयम हो शशी से ॥३७॥

सबोधनार्थ भवि को जिनने बताया,
जो ज्ञान ज्ञान गुण लक्षण को दिखाया ।
सो, ज्ञान जैनमत मे निज आतमा है,
यो जान, मान, फलत. दुख खातमा है ॥३८॥

होते अजीव अरु जीव निरे निरे है,
ज्ञानी हुए कि इस भाँति लखे खरे है ।
औ राग रोष जिस जीवन मे नही है,
सो 'मोक्षमार्ग' जिन शासन मे वही है ॥३९॥

सम्यक्त्व बोध व्रत को शिवराह राही,
श्रद्धाभिभूत बन के समझो सदा ही ।
योगी इन्हे हि लखते दिनरैन भाई,
निर्वाण शीघ्र लहते सुख चैन स्थाई ॥४०॥

विज्ञान का सलिल सादर साधु पीते,
धारे अत विमल भाव स्वतत्र जीते ।
चूडामणी जगत के स्वपरावभासी,
वे शुद्ध सिद्ध बनते शिव धाम वासी ॥४१॥

जो ज्ञान शून्य नहि इष्ट पदार्थ पाते,
अज्ञान का फल अनिष्ट यथार्थ पाते ।
यो जान, ज्ञान गुण के प्रति ध्यान देना,
क्या दोष क्या गुण रहा, कुछ जान लेना ॥४२॥

ज्ञानी वशी चरित के रथ बैठ त्यागी,
चाहे न आत्म तज के परको विरागी ।
निर्भ्रान्त वे अतुल अव्यय सौख्य पाते
दिग्भ्रान्त ही समझ तू भव दु ख पाते ॥४३॥

सम्यक्त्व सयम समाश्रय से सुहाता,
चारित्र सार द्विविधा शिव को दिलाता ।
संक्षेप से भविक लोकन को दिखाया,
श्री वीतराग जिनने हमको जिलाया ॥४४॥

चारित्र प्राभृत रचा रुचि से सुचारा,
भावों इसे अनुभवो शुचि भाव द्वारा ।
तो शीघ्र चारगति मे भ्रमना मिटेगा,
लक्ष्मी मिले मुकति मे, रमना मिलेगा ॥४५॥

- दोहा -

चार चॉद चारित्र से जीवन में लग जाय ।
लगभग तम भग ज्ञान शशि उगत उगत उगजाय ॥१॥

समकित-संयम आचरण, इस विधि द्विविध बताय ।
वसुविध-विधि नाशक तथा सुरसुख शिव सुखदाय ॥२॥

बोध-प्राभृत

ज्ञाता अनेक विध आगम के यशस्वी,
सम्यक्त्व सयम लिए तपते तपस्वी ।
धोते कषायमल, निर्मल शुद्ध प्यारे,
आचार्य वे नमन हो उनको हमारे ॥१॥

जो भी जिनेश मत मे जिनने बताया,
सक्षेप मात्र उसकी यह मात्र छाया ।
सम्बोधनार्थ सबको सुन लो सुनाता,
है बोध पाभृत चराचरमोद-दाता ॥२॥

है आद्य आयतन चैत्यगृहा सुप्यारा,
है तीसरी जिनप की प्रतिमा सुचारा ।
सद्दर्शना, जिनप बिम्ब विराग-शाला,
आत्मार्थ ज्ञान यह सात सुनाम माला ॥३॥

औ देव तीर्थकर अर्हत है प्रव्रज्या,
जो हो विशुद्ध गुण से बिन राग लज्जा ।
ये है जिनोदित यथा क्रम जान लेना,
आगे उन्हे कह रहा बस ! ध्यान देना ॥४॥

जीते निजी करण निर्विषयी दमी है,
वाक्काय चित्त वश मे रखता शमी है ।
निर्ग्रन्थ रूप यम सयम कूप भाता,
होसत्य आयतन मे वो शास्त्र गाता ॥५॥

है राग रोष मद को मन मे न लाते,
चारो कषाय्य वश मे रखते सुहाते ।
औ पाँच पाप तज सद्व्रत पाँच पाले,
वे शुद्ध आयतन है ऋषि राज प्यारे ॥६॥

साधा निजात्म मुनि निर्मल ध्यान धारी,
हीराभ स विमल केवल ज्ञान धारी ।
है सिद्ध-आयतन श्रेष्ठ मुनीश्वर्ग में,
वन्दूँ उन्हें विनय से निसि वासरा में ॥७॥

विज्ञान धाम निज आतम को सुजाने,
चेतन्य पिण्डमय भी पर को पिछाने ।
पाले महाव्रत सही खुद ज्ञान होता,
वो साधु चैत्यगृह हो सुन भव्य श्रोता ॥८॥

बधादि मोक्ष सुख आतम भोगता है,
लो धारता जब सचेतन-योगता है ।
षटकाय-जीव हितकारक नग्न-स्वामी,
जीवन्त चैत्य गृह है जिन मार्ग-गामी ॥९॥

सम्यक्त्व बोध शुचि से व्रत पाले
जीवन्त जगम दिगम्बर साधु प्यारे ।
निर्ग्रन्थ ग्रन्थ तज-राग, विराग ही है,
आदर्श-जैन मत मे प्रतिमा वही है ॥१०॥

जाने लखे स्वयम को समदृष्टि वाला,
है शुद्ध आचरण से चलता निराला ।
निर्ग्रन्थ सयममयी प्रतिमा यही है,
तो वन्दनीय वह है जग मे सही है ॥११॥

पाये अनन्त सुख वीर्य अनन्त पाये,
पा ज्ञान दर्शन अनन्त अत सुहाये ।
दुष्टाष्ट कर्म तन के बिन जी रहे है,
स्वादिष्ट-शाश्वत-सुखामृत पी रहे है ॥१२॥

व्युत्सर्गरूप-प्रतिमा ध्रुव हो लसे है,
लोकाग्र जा स्थिर शिवालय मे बसे है ।
वे सिद्ध जो अतुल निश्चिल शैल सारे,
है क्षोभ से रहित है हित है हमारे ॥१३॥

सद्धर्म को सहज सम्मुख शीघ्र लाता,
सम्यक्त्व मोक्ष पथ सयम को दिखाता ।
निर्ग्रन्थ ज्ञानमय, "दर्शन" भी वही है,
यो जैन शास्त्र हम को कहता सही है ॥१४॥

आर्या व क्षुल्लक दिगम्बर साधुओ का,
वो वेश आलय स्वबोध दृगादिको का ।
हो फूल से तुम सुगन्ध अवश्य पाते,
हो दूध से घृत प्रशस्त मनुष्य पाते ॥१५॥

पात्रानुसार विधि नाशक जैन दीक्षा,
देते कृपाकर ! कृपा कर उच्च शिक्षा ।
है वीतराग बन सयम शुद्ध पाले,
आचार्य वे हि "जिन बिम्ब" हमे सभाले ॥१६॥

सेवा करो विनय आदर वन्दना भी,
आचार्य की सुखद पूजन भावना भी ।
कर्त्तव्य मे सतत जागृत ज्ञान वाले,
सम्यक्त्व सौध जिनबिम्ब रहे हमारे ॥१७॥

मूलोत्तरादिक गुणो सब सत्तपो से,
है शुद्ध शुद्धतर शुद्धतमा व्रतो से ।
दीक्षादि दान करते गुण के समुद्रा,
आचार्य ही नियम से अरहन्त मुद्रा ॥१८॥

सत साधु की शुचिमयी अकपाय मुद्रा,
है वन्द्य पूज्य जित इन्द्रिय पूत मुद्रा ।
वो वस्तुत सुदृढ संयम रूप मुद्रा,
है भव्य स्वीकृत वही अरहन्त मुद्रा ॥१९॥

सद्ध्यान योग यम संयम मे सुहाता,
सो मोक्ष मार्ग जिन आगम मे कहाता ।
है लक्ष्य, मोक्ष जिसका वह ज्ञान से हो,
ज्ञातव्य ज्ञान यह है निज ध्यान से हो ॥२०॥

भेदे न लक्ष बिन बाण धनुष्य धारी
जाने बिना वह धनुष्य न कार्यकारी ।
सो लक्षभक्त शिव तो न कदापि पाता,
जो ज्ञान-हीन भव मे दुख ही उठाता ॥२१॥

हो शोभता पुरुष जो विनयी सही है,
ले ज्ञान लाभ निज जीवन मे वही है,
है मोक्ष, मोक्ष पथ का वह लक्ष-ध्याता,
विज्ञान से सहज मोक्ष अवश्य पाता ॥२२॥

प्रत्यच हो श्रुत, मती स्थिर हो धनुष्य,
हो बाण रत्नत्रय ले कर मे अवश्य ।
शुद्धात्म लक्ष यदि मात्र किया सही है,
तो साधु, मोक्ष पथ से चिगता नहीं है ॥२३॥

वे देव धर्म धन काम सुबोध देते,
औचित्य जो निकट हो वह दान देते ।
है देव के निकट भी शिवदा प्रव्रज्या,
है धर्म अर्थ काल केवल ज्ञान विद्या ॥२४॥

हो धर्म शुद्ध सदयावश हो प्रव्रज्या,
वो सर्व सग बिन शोभित हो सुसज्या ।
वे देव है विगत मोह सदा कहाते,
सोते सुभव्य जन को सहसा जगाते ॥२५॥

चारित्र से विमल दर्शन औ बनाने,
पचेन्द्रियाँ दमित सयम भी कराने ।
दीक्षा प्रशिक्षण गहे गुरु से, सुहाये,
साधू स्वतीर्थ भर मे डुबकी लगाये ॥२६॥

सम्यक्त्व ज्ञान तप सयम धर्म सारे,
ये साधु के विमल निर्मल हो उजारे ।
औ साथ साथ यदि वो समता रही है,
तो तीर्थ जैन मत मे सुखदा वही है ॥२७॥

निक्षेप चार वश पर्यय भाव द्वारा,
ज्ञानादि पूर्ण गुण के गण भाव द्वारा ।
किवा सुनो च्यवन आगति आदि द्वारा,
अर्हन्त रूप दिखता सुख का पिटारा ॥२८॥

है भाव मोक्ष दृग ज्ञान अनन्त पाये,
आठो नवीन विधि-बंधन को मिटाये ।
स्वामी ! अतुल्य गुण भार नितान्त जोते,
वे ही जिनेश मत मे अरहन्त होते ॥२९॥

ये पाप पुण्य मृति रोग जरादिको को,
मेटा समूल मल पुद्गल के दलो को,
चारो गती भ्रमण-मुक्त हुए अत है,
विज्ञान धाम अरहन्त हुए स्वत है ॥३०॥

पर्याप्ति प्राण गुणथान विधान द्वारा,
ओ जीव थान सब मार्गण-भाव द्वारा ।
सो स्थापना ह्रदय मे अरहन्त की हो,
शीघ्राति-शीघ्र जिससे भव अन्त ही हो ॥३१॥

हे प्रातिहार्य वसु मडित पूज्य प्यारे,
चोंतीस सातिशय वे गुण भी सुधारे ।
बेठे उपान्त-गुण थानन मे सयोगी,
हैं केवली विमल हे अरहन्त योगी ॥३२॥

ये मार्गणा कि, गति इन्द्रिय, काय, योग
औ वेद दु:खद-कषाय व ज्ञान-योग ।
पश्चात सजम व दर्शन, लेश्य भव्य,
सम्यक्त्व, सज्ञिक, अहार सुजान ! भव्य ॥३३॥

आहार आदिम शरीर तथैव भाषा,
औ आन-प्राण, मन, मान ! जिनेस दासा,
पर्याप्तियाँ गुण छहो अरहन्त धारे,
माने गये परम उत्तम देव प्यारे ॥३४॥

तू पाँच ही समझ इन्द्रिय प्राण होते,
वाक्काय चित्त त्रय ये बल प्राण होते ।
औ आन प्राण इस आयुष प्राण सारे,
माने गये समय मे दश प्राण प्यारे ॥३५॥

हो जीव स्थान वह चौदहवाँ, मनुष्य,
पचेन्द्रियाँ मन मिले जिसमे अवश्य ।
पूर्वोक्त सर्व गुण पा अरहन्त प्यारे
बैठे उपान्त गुणथानन मे उजारे ॥३६॥

वार्धक्य व्याधि दुख भी जिसमे नही है,
ये श्लेष्म स्वेद मल थूँक सभी नही है,
आहार भी नहि विहार कभी नही है,
जो दोष कोष न घृणास्पद भी नही है ॥३७॥

सर्वांग मे रुधिर मास भरे हुए है,
गोक्षीर शख सम श्वेत धुले हुए है ।
पर्याप्तिया छह मिले दश प्राण सारे,
शोभे हजार वसु लक्षण पूर्ण प्यारे ॥३८॥

ऐसे हि श्रेष्ठ गुण धाम प्रमोदकारी,
सौगध-सौध अति निर्मल मोहहारी ।
औदारिकी तन रहा अरहन्त का है,
पूजो इसे पद मिले भगवन्त का है ॥३९॥

जो राग रोष मद से प्रतिकूल होते,
स्वामी कषाय मल से अति दूर होते ।
कैवल्य भाव शुचि आर्हत मे जगा है,
पूरा क्षयोपशम-भाव तभी भगा है ॥४०॥

कैवल्य ज्ञान शुचि दर्शन-नेत्र द्वारा,
है ,जानते निरखते त्रय लोक सारा ।
सम्यक्त्व से झग झगा लसते निराला,
अर्हन्त का विमल भाव स्वभाव प्यारा ॥४१॥

उद्यान शून्य गृह मे तरु कोटरो मे,
भारी वनो उपवनो गिरी गह्वरो मे ।
किवा भयानक श्मशान-धरातलो मे,
कोई सकारण विमोचित आलयो मे ॥४२॥

पूर्वोक्त स्थान भर मे रह शील पाले,
ऐसे जिनेश मत मे मुनि मुख्य प्यारे ।
स्वाधीन हो जिन जिनागम तीर्थ ध्यावे,
उत्साह साहस स्वतन्त्रपना निभावे ॥४३॥

पाले महाव्रत, तजे पर की अपेक्षा,
हो के जितेन्द्रिय करे सबकी उपेक्षा ।
स्वाध्याय ध्यान भर मे लवलीन होते,
वे ही नितान्त मुनि श्रेष्ठ प्रवीण होते, ॥४४॥

आरभ पाप तज सर्व कषाय जीते,
औं गेह ग्रन्थभर से बन पूर्ण रीते ।
सारे सहे परिषहो उनकी प्रव्रज्या,
मानी गई समय मे वह लोक पूज्या ॥४५॥

वस्त्रादि दान धनधान्य कुदान से भी,
छत्रादि स्वर्ण शयनासन दान से भी ।
मानी गई न जिनशासन मे प्रवृज्या,
निर्ग्रन्थ, ग्रन्थ बिन ही लसती प्रवृज्या ॥४६॥

जो साम्य, निदन सुवंदन मे सँभारे,
मिट्टी गिरी कनक को तृण को निहारे ।
माने समान रिपु बाँधव लाभ हानी,
दीक्षा सही श्रमण की यह साधु वाणी ॥४७॥

नाही करे धनिक निर्धन की परीक्षा,
छोटा बडा भवन यो न करे समीक्षा ।
जाते सभी जगह भोजन लाभ हेतु,
दीक्षा सही श्रमण की यह जान रे ! तू ॥४८॥

निर्ग्रन्थ हो निरभिमान निसग प्यारे,
निर्दोष निर्मम निरीह नितान्त न्यारे ।
नीराग नित्य निरहपण शील धारी,
दीक्षा उन्ही श्रमण की सुख झीलवाली ॥४९॥

निर्लोभ भाव रत है मुनि निर्विकारी,
निर्मोह निष्कलुष निर्भय भाव धारी ।
आशा बिना विषय राग बिना विरागी,
दीक्षा उन्ही श्रमण की समझो सरागी ॥५०॥

नीचे भुजा कर खडे शिशु रूप धारे,
वस्त्रास्त्र शस्त्र तज शांत स्व को निहारे
काटे निशा परकृतो मठ मदिरो मे,
दीक्षा उन्ही श्रमण की समझूँ गुरो ! मै ॥५१॥

धारो क्षमा शमदमान्वित हो सुहाते,
स्नानादि तैल तजते तनको सुखाते ।
है राग रोष मद से अति दूर ज्ञानी,
दीक्षा उन्ही श्रमण की सुन मूढ प्राणी ॥५२॥

भागी नितान्त जिन की मति मूढताये
होगी विनष्ट वसु ये विधि-गूढताये ।
मिथ्या टली दृग विशुद्ध मिली शिवाली,
दीक्षा उन्ही श्रमण की समता-सुप्याली ॥५३॥

उत्कृष्ट सहनन या कि जघन्य पावे,
निर्ग्रन्थ वे बन सके जिन यो बतावे ।
दुष्टाष्ट कर्म क्षय की रख मात्र इच्छा,
स्वीकारते भविक है जिन लिग दीक्षा ॥५४॥

अत्यल्प भी विषय राग नहीं रहा है,
ना बाह्य का ग्रहण सग्रह भी रहा हे ।
दीक्षा उन्हीं श्रमण की जिन हे बताते,
जो जानते निखिल को लखते सुहाते ॥५५॥

साधु सहे परिषहो उपसर्ग बाधा,
प्राय· रहे विजन मे वन मध्य ज्यादा ।
एकान्त मे शयन आसन साधते हे,
भू पे, शिला, फलक पे निशि काटते है ॥५६॥

साधु करे न विकथा व्यभिचारियो से,
हो दूर षढ पशुवो महिलाजनो से ।
स्वाध्याय-ध्यान रत जीवन है बिताते,
दीक्षा उन्ही श्रमण की जिन है बताते ॥५७॥

सम्यक्त्व से नियम सयम के गुणो से,
होते नितान्त मुनि शुद्ध व्रतो तपो से ।
दीक्षा विशुद्ध उनकी गुण-धारती है,
प्यारी यही कह रही जिन भारती है ॥५८॥

निर्ग्रन्थ आयतन हो मुनि के गुणो से,
पूरा भरा नियम-सयम लक्षणों से ।
ऐसा जिनेश मत ने हम को बताया,
सक्षेप से मुनिपना हम को दिखाया ॥५९॥

निर्ग्रन्थ रूप सुख कूप अनूप प्यारा,
षट्काय जीव हित कारक भूप न्यारा ।
जैसा जिनेन्द्र मत मे जिन ने बताया,
बोधार्थ भव्य जन को हमने दिखाया ॥६०॥

भाषा ससूत्र जिननायक ने बताया,
सो शब्द का सब विभाव विकार-माया ।
मैं भद्रबाहु गुरु का लघु शिष्य छाया,
जो ज्ञात था समय के अनुसार गाया ॥६१॥

वाक्‌देवि के पटु प्रचार प्रसारकर्ता,
हे ! द्वादशाग श्रुत चौदह पूर्व धर्ता ।
हे ! भद्रबाहु श्रुत केवलज्ञान धारी,
स्वामी ! गुरो गमक हे ! जय हो तुम्हारी ॥६२॥

- दोहा -

जिन आलय औ आयतन, प्रतिमा, दर्शन सार ।
जैन बिम्ब औ जैन की मुद्रा सुख आगार ॥१॥

ज्ञान, देव, शुचि तीर्थ भी दीक्षा पथ अरहन्त ।
ग्यारह ये मुनि रूप है धरते भव का अन्त ॥२॥

पाषाणादिक मे इन्हे थाप भजो व्यवहार ।
यही बोध प्राभृत रहा अबोध मेटन "हार" ॥३॥

भाव पाहुड़

सिद्धादि पंच परमेष्ठि, यतीश्वरों से,
जो है नमस्कृत नरों असुरों सुरों से ।
श्रद्धा समेत उनको शिर मैं नवाता,
हूँ भाव प्राभृत सुनो तुम को सुनाता ॥१॥

है भाव लिङ्ग वर मुख्य मुझे सुहाता,
है द्रव्य लिङ्ग न यथार्थ जिनेश गाता ।
है भाव ही नियम से गुण-दोष हेतु,
होता भवोदधि वही भव सिन्धु-सेतु ॥२॥

ये भाव शुद्ध-तम हो, जब लक्ष होता,
तो बाह्य संग तजना अनिवार्य होता ।
जो भीतरी कलुषता यदि ना हटाता,
है बाह्य त्याग मुनि का वह व्यर्थ जाता ॥३॥

वे कोटि कोटि शतकोटि भवान्तरों में,
साधू तपे तप भले निशि वासरों में ।
नीचे भुजा कर खड़े सब वस्त्र त्यागे,
ना, शुद्ध भाव बिन केवल ज्ञान जागे ॥४॥

जो अच्छ स्वच्छ परिणाम बना न पाते,
पै बाहरी सब परिग्रह को हटाते ।
वे भाव शून्य करनी करते कराते,
हा! बाह्य त्याग उनको किस काम आते? ॥५॥

रे! भाव लिंग बिन बाहर लिंग से क्या?
वैरी मिटे, असि बिना असिकोष से क्या?
है भाव, मोक्ष-पुर का पथ, जान पंथी,
ऐसा जिनेश कहते, तज पूर्ण ग्रंथी ॥६॥

रे ! बार बार घर बाहर लिंग छोडा,
निर्ग्रन्थ रूप धर भी मन ना मरोडा ।
तूने सदा पुरुष हे ! दुख बीज बोया,
हो ! भाव हीन चिर से भव बीच रोया ॥७॥

हो नारकी नरक भीषण योनियो मे,
तिर्यंच मे असुर मानव योनियो मे ।
तू ने सही सुचिर दुस्सह वेदनाये,
भा, भावना अब निजी-जिन देशनाये ॥८॥

दुस्सह्य दारुण भयकर दुख भोगा,
पा सातवे नरक मे नित शोक रोगा ।
तेरा हुआ अहित ही हित ना हितैषी,
वैसी सदा गति मिले मति होय जैसी ॥९॥

उत्पाटनो खनन ताडन छेदनो से,
औ बधनो ज्वलन गालन भेदनो से ।
तिर्यञ्च हो कुगति मे चिरकाल पीडा,
तू ने निरंतर सही बिन ज्ञान हीरा ॥१०॥

आकस्मिकी सहज दो दुख ये गिनाये,
दो और मानसिक कायिक वेदना ये ।
तूने मनुष्य भव मे दुख भार पाया,
बीता वृथा अमित काल न, पार पाया ॥११॥

इन्द्रादि के विभव को लख सूखता था,
देवी मरी विरह हेतु दुखी हुआ था ।
दुर्भावना सहित हो कब तू सुखी था,
हो देव, देव गति मे फिर भी दुखी था ॥१२॥

कदर्प दर्प मय पञ्च कुभावनाये,
भाई, रखी विषय उर वासनाये ।
हो बार बार बस केवल द्रव्य लिंगी,
तू नीच-देव बनता अयि, भव्य अंगी ॥१३॥

पार्श्वस्थ भाव, बहु बार विभाव भाया,
तूने मिला अमित काल वृथा बिताया ।
अज्ञान के वश दुराशय बीज बोया,
पा दु:ख रूप फल ही, फलरूप रोया ॥१४॥

जो वैभवो वर गुणो सुख सिद्धियो को,
हे श्रेष्ठ देव धरते सुर ऋद्धियो को ।
हो नीच देव दिवि मे निज मे बडो को,
तू देख मानसिक दु:ख सहे अनेको ॥१५॥

दुर्भाव धार मन मे मदमत्त नामी,
चारों प्रकार विकथा करता सकामी ।
तू निन्द्य देव बनके बहुबार भोगा,
है कष्ट, दुष्ट मति से फिर और होगा ॥१६॥

बीभत्स है, अशुचि है, मल का पिटारा,
दुर्गंध धाम जननी-जनु गर्भ सारा ।
ले जन्म हे मुनि ! वहाँ बहुबार रोया,
नीचे किए शिर टॅगा बहुकाल खोया ॥१७॥

यो काल तो भव भवो बहुमूल्य बीता,
जो भिन्न भिन्न जननी स्तन दूध पीता ।
जानो महाशय ! कभी वह दूध सारा,
लाखो गुना अधिक सागर से अपारा ॥१८॥

वे भिन्न भिन्न भव मे तव मात रोती,
तू था मरा जब, तभी नहि रात सोती ।
रोते हुए नयन से जल जो बहाया,
लाखो गुना अधिक सागर से कहाया ॥१९॥

जो हड्डियाँ झड गई नख बाल छूटे,
तेरे कटे भव भवो नस नाल टूटे !
कोई सुसग्रह मनो उनको करेगा,
तो साधु, मेरु गिरि से गुरु ही लसेगा ॥२०॥

भू व्योम मे अनिल मे, जल मे वनो मे,
नद्यादि मे अनल मे, थल मे द्रुमो मे ।
तू ने व्यतीत चिरकाल किया वृथा है,
हो कर्म के वश, सही जग मे व्यथा है ॥२१॥

तृष्णा लगी पीडित तू विचारा,
त्रैलोक्य का सलिल पीकर पूर्ण डारा ।
तृष्णा मिटी न फिर उसकी इसी से,
शुद्धात्म चितन जरा करले रुची से ॥२२॥

है बार बार, इक बार नही मरा है,
तू काय को अमित बार तजा धरा है ।
हे ! धीर साधु भवसागर मे अनन्ता,
सत्यक्त काय गिनते गिनते न अन्ता ॥२३॥

भोगा गया सकल पुद्गल भोग खारा,
पूरा भरा कि जिससे त्रयलोक सारा ।
भाई तथापि नहि तृप्ति हुई अभी भी,
भोगो पुन तुम भले सुख ना कभी भी ॥२४॥

सक्लेश वेदन वशात् भय सप्त द्वारा,
औ रक्त स्राव विष भक्षण शस्त्र द्वारा ।
आहार-श्वास-अवरोधन से तुरन्ता,
हो आयु का क्षय कहे अरहन्त सन्ता ॥२५॥

हा अग्नि से तुम जले जल मध्य डूबे,
शीतातिशीत-हिम से बिन वस्त्र जूझे ।
उत्तुग वृक्ष गिरि पे चढते, गिरे थे,
टूटे तभी कर पगो भय से घिरे थे ॥२६॥

जाने बिना रस विधी विष सेवने से,
अन्याय कार्य कर-क्रूर अनार्य जैसे ।
तिर्यञ्च हो मनुज हो अपमृत्यु पाई,
है आपने दुख सहे बहुबार भाई ॥२७॥

भाई निगोद गति मे तुम जो गिरे थे,
अन्तर्मुहूर्त भर में दुख मे परे थे ।
हा ! साठ औ छह सहस्र व तीन सौ औ,
छत्तीस बार मरते कुछ आज सोचो ॥२८॥

अन्तर्मुहूर्त भर मे विकलेन्द्रि सारे,
अस्सी व साठ द्वय बीस भवों सुधारे ।
चौबीस क्षुद्र भव औ धरते विचारे,
पंचेन्द्रि जीव तक भी गुरु यो पुकारे ॥२९॥

ज्ञानादि रत्नत्रय के बिन ही मरे हो,
जो बार बार भव कानन मे फिरे हो ।
ऐसे जिनेश कहते अब जाग जाओ,
सानन्द रत्नत्रय धार विराग पाओ ॥३०॥

आत्मा निजात्मरत ही सम दृष्टि वाला,
जो जानता स्वयम को वह बोध शाला ।
है आत्म मे विचरता नित है सुहाता,
चारित्र पथ स्वयमेव वही कहाता ॥३१॥

वैसे अनेक भव मे मरता रहा है,
पै मृत्यु के समय मे डरता रहा है ।
ले ले अत मरण उत्तम का सहारा,
तो बार बार मरना मर जाय सारा ॥३२॥

तू द्रव्यलिंग भर बाहर मात्र धारा,
हा मृत्यु को श्रमण होकर भी न मारा ।
ऐसा न लोक भर मे थल ही रहा हो,
तू ने जहाँ मरण जन्म नही गहा हो ॥३३॥

तू बाह्य मात्र अब लौ जिन लिग धारा,
धारा न भाव मय लिग कभी सुचारा ।
पीडा सही जनन मृत्यु तथा जरा से,
पाया अनन्त भव मे सुख ना जरा से ॥३४॥

प्रत्येक आयु परिणाम सुनामको को,
औ पुद्गलो क्षिति तलो समयादिको को ।
तूने गहा पुनि तजा बहुबार भाई,
पीडा अनन्त भवसागर मे उठाई ॥३५॥

लो तीन सौ फिर तियालिस राजु सारा,
है लोक का विदित क्षेत्र जिनेन्द्र द्वारा ।
वे छोड, मेरु तल के वसु देश न्यारे,
सारे भ्रमे तुम यहाँ मर जन्म धारे ॥३६॥

तेरा शरीर प्रति, अगुल भाग मे ही,
धारे छियानव कुरोग सराग देही ।
हे मित्र ! शेष तन मे कितने पता दे,
दुस्सह्य रोग गिनती गिनके बता दे ॥३७॥

हो कर्म के वश अतीत भवो भवो से,
तू ने सहे सकल रोग युगो युगो से ।
रागी रहा फिर अनागत मे सहेगा,
क्या क्या कहे बहुत है भव मे भ्रमेगा ॥३८॥

है पित्त मूत्र कफ मॉस जहॉ भरे है,
है आंत गात नस जाल जिसे घिरे है ।
मां के रहा उदर मे नव मास भाई,
नीचे किए शिर टगा चिर पीर पाई ॥३९॥

मॉ बाप के रजस वीर्य घुला मिला था,
सकीर्ण गर्भ जिसमे न डुला हिला था ।
खाया हुआ जननि ने वह अन्न खाया,
उच्छिष्ट भोज करता महिनो बिताया ॥४०॥

नादान था शिशु रहा शिशुकाल मे था,
तू खेलता नित निजी मल लार मे था ।
सोता वही मल तजा मल खूब खाता,
आपाद कण्ठ मल मे तब डूब जाता ॥४१॥

ये मॉस मेद मद रक्त जहॉ भरे है,
है पित्त पीब नस नाल सड़े निरे है ।
दुर्गन्ध पूर्ण घट है यह काय तेरा,
ऐसा विचार नहि तो टल जाये वेला ॥४२॥

समोह-मुक्त, मुनि मुक्त वही कहाता,
ना, मुक्त-मात्र हितु बाँधव से, सुहाता ।
भाई तजो इसलिए उस वासना को,
भावो भजो नित निजीय उपासना को ॥४३॥

निर्ग्रन्थ है स्वतन से ममता नही है,
मानी रहा स्वयम मे रमता नही है ।
आतापनादि तप बाहुबली किया है,
मासो, तथापि शिव लाभ कहाँ लिया है ? ॥४४॥

निर्ग्रन्थ था मुनि बना मधु लिग नामा,
पूरा निरीह तन से तज सग कामा ।
भावी निदान फिर भी उससे घिरा था,
श्रामण्य से इसलिए वह तो गिरा था ॥४५॥

वैसे वसिष्ठ मुनि भी बहु दु ख पाया,
भावी निदान मन से मन को लिपाया ।
ऐसा न लोक भर में थल ही रहा हो,
मोही यहाँ भटकता न फिरा जहाँ हो ॥४६॥

चौरासि लाख दुखदायक योनियो मे,
ऐसा न थान अवशेष रहा भवो मे ।
तूने जहाँ भ्रमण वास नही किया हो,
हो भाव शून्य मुनि, मात्र मुधा जिया हो ॥४७॥

तू द्रव्य लिग भर से न कहाय लिगी,
शुद्धात्म भाववश ही कहलाय लिंगी ।
तू भाव लिग धर केवल द्रव्य मे क्या ?
पी नीर, मात्र-जल भाजन डोर से क्या ? ॥४८॥

धिक्कार ! बाहु मुनि ने क्षण मे मिटाया,
क्रोधाग्नि से नगर दडक को जलाया ।
था बाह्यलिग जिनलिग लिया तथापि,
जाके गिरा नरक रौरव मे कुपापी ॥४९॥

दीपायनादि मुनि भी इस भाँति क्रोधी
हो द्वारिका नगर दग्ध किया अबोधी ।
सम्यक्त्व बोध व्रत से च्युत, द्रव्य लिगी,
ससार को दृढ किया, सुन भव्य ! अगी ॥५०॥

वर्षो रही युवतियाँ जिन से घिरी थी,
तो भी यतीश मति को किसने हरी थी ?
थे भाव से श्रमण, मोक्ष गये विरागी,
वे धीर थे शिव कुमार मुनीश त्यागी ॥५१॥

थे द्वादशाग श्रुत चौदह पूर्व ज्ञाता,
वे भव्य सेन मुनि हो उपदेश दाता ।
पै भीतरी श्रमणता उनमे नही थी,
थी नग्नता न उर ऊपर मे रही थी ॥५२॥

ये भिन्न-भिन्न तुष मास सदा सुहाते,
ऐसा विशुद्ध मन से रट थे लगाते ।
पाई अत कि शिवभूति मुनीश भाई,
आत्मानुभूति शिव भूति, विभूति स्थाई ॥५३॥

जो भाव नग्न वह नग्न यथार्थ होता,
पै मात्र नग्न मुनी तो अयथार्थ थोथा ।
हो नग्न पूर्ण तन भी मन भी निहाला,
तो कर्म शीघ्र, कटते समझो सुचारा ॥५४॥

वो भाव की विमलता यदि है न प्यारी,
निर्ग्रन्थ रूप वह मात्र न कार्य कारी।
यो जान मान मन आतम मे लगा ले,
शुद्धात्म का गुन गुनाकर गीत गाले ॥५५॥

काषायिकी परिणती जिसने घटायी,
औ निन्द्य जान तन की ममता मिटायी।
शुद्धात्म मे निरत है तज सग-सगी,
है पूज्य साधु यह पावन भाव लिगी ॥५६॥

बोले विशुद्ध मुनि यो निज तत्त्व पाऊँ,
त्यागूँ ममत्व परतत्त्व समत्व ध्याऊँ।
आधार मात्र मम निर्मम आतमा है,
छोडूँ अशेष सब चूँकि अनातमा है ॥५७॥

विज्ञान मे चरण मे दृग सवरो मे,
औ प्रत्य-ख्यान-गुण मे लसता गुरो ! मै।
शुद्धात्म की परम पावन भावना का,
है पाक मोक्ष सुख है, दुख वासना का ॥५८॥

पूरा भरा दृग विबोध-मयी-सुधा से,
मै एक शाश्वत सुधाकर हूँ सदा से।
सयोग जन्य सब शेष विभाव मेरे।
रागादि भाव जितने मुझसे निरे रे ॥५९॥

हे भव्य चार गति से निज को छुडाना,
है चाहना यदि सुशाश्वत सौख्य पाना।
तो शुद्ध भाव कर स्वीय स्वभाव भाना,
तू शीघ्र छोड परकीय विभाव नाना ॥६०॥

जो जानता सहज जीव यथार्थ मे है,
होता विलीन निज जीव पदार्थ मे है ।
पाता विमोक्ष द्रुत से कर निर्जरा को,
सो नाशता जनन मृत्यु तथा जरा को ॥६१॥

है जीव चेतन निकेतन है निराला
ऐसा जिनेश कहते, वह ज्ञान-शाला ।
ज्ञातव्य जीव, उस लक्षण धर्म द्वारा,
शीघ्रातिशीघ्र मिटता वसु कर्म-भारा ॥६२॥

जीवत्व का वह अभाव न सर्वथा है,
सिद्धत्व मे, विमल जीवपना रहा है ।
पाता विमोक्ष द्रुत से कर निर्जरा ओ,
सो नाशता जनन मृत्यु तथा जरा को ॥६३॥

आत्मा सचेतन अरूप अगन्ध प्यारा,
अव्यक्त है अरस और अशब्द न्यारा ।
आता नही पकड मे अनुमान द्वारा,
सस्थान से रहित है सुख का पिटारा ॥६४॥

सद्ज्ञान पच विध है उसको अराधो,
निर्वेग भाव धर के यह कार्य साधो ।
अज्ञान रूप तम निश्चित भाग जाता,
हो स्वर्ग-मोक्ष सुख केवल जाग जाता ॥६५॥

क्या शास्त्र के पठन पाठन से मिलेगा,
सवेग भाव बिन कर्म नही टलेगा ।
श्रामण्य श्रावकपना शिव-ज्ञान हेतु,
वैराग्य भाव जब हो, यह जान रे ! तू ॥६६॥

ये नारकी पशु तथा कुछ आदिवासी,
होते दिगम्बर नितान्त सुखाभिलाषी ।
पै चित्त मे कुटिल कालुष भाव धारे,
है भीतरी श्रमणता न धरे विचारे ॥६७॥

जो मात्र नग्न बन जीवन है बिताता,
ससार मे भटकता भव दु ख पाता ।
पाता न बोधि वह केवल नग्न साधू,
वो साम्य का यदि बना न कदापि स्वादू ॥६८॥

प्राय प्रदोष परके परको बताते,
माया व हास्य मदमत्सर धार पाते ।
वे पात्र है अयश के अघ के घडे है,
जो नग्न है श्रमण मात्र बढे चढे है ॥६९॥

वैराग्य भाव जल से मन पूर्ण धोलो,
निर्ग्रन्थ लिग धरने सब वस्त्र खोलो ।
होता अवश्य उर मे जिसके विकारा,
लेता वही पर परिग्रह का सहारा ॥७०॥

है दोष कोष वृष रूप-सुधा न पीते,
है इक्षु पुष्प सम सार विहीन जीते ।
जो नग्न हो श्रमण हो नट नाचते है,
वे निर्गुणी विफल हो नहि लाजते है ॥७१॥

है रग सग रखता परमे रमा है,
है नग्न किन्तु, न विराग, निराभ्रमा है ।
पाता नही सहज बोधि समाधि प्यारा,
यो कुन्द-कुन्द जिन आगम ने पुकारा ॥७२॥

वैराग्य से द्रव्य नग्न बने सलोना,
मिथ्यात्व आदि मल कर्दम पूर्व धोना,
निर्ग्रन्थ रूप फिर सादर धार लो ना,
सो ही जिनेन्द्र मत के अनगार होना ॥७३॥

सद्भाव को श्रमण हो नहि धार पाता,
दुष्टाष्ट कर्म मल को मन पे लिपाता।
तिर्यञ्च हो भटकता अघ धाम रागी,
सद्भाव, स्वर्ग-शिव-धाम सुनो विरागी ॥७४॥

चक्री बनो अमर हो, सुरसम्पदाएँ,
लक्ष्मी मिले अमित दिव्य विलासताएँ।
सद्भाव से परम पावन प्राण प्यारे,
ज्ञानादि रत्न मिलते सुख के पिटारे ॥७५॥

होता त्रिधा वह शुभाशुभ शुद्ध न्यारा,
है आत्म भाव जिन शासन ने पुकारा।
जो धर्म ध्यान मय है शुभ है कहाता,
दुर्ध्यान सो अशुभ है न मुझे सुहाता ॥७६॥

आत्मा निजी विमल आतम लीन होता,
सो शुद्ध भाव, विधि-कालुष पूर्ण धोता।
जो श्रेष्ठ इष्ट इनमें चुन भव्य प्राणी,
ऐसा जिनेश कहते मुनि-सेव्य-ज्ञानी ॥७७॥

सत् साधु ने दुखद मान गला दिया है,
स्वीकार साम्य, सब मोह जला दिया है।
आलोक धाम जगसार जिसे मिलेगा ?
बोले प्रभो ! यह नियोग नहीं टलेगा ॥७८॥

पंचाक्ष के विषय को तज वासनाएँ,
जो भा रहे श्रमण षोडश भावनाएं
वे शीघ्र तीर्थंकर नामक कर्म बांधे,
औचित्य कार्य करते सुख क्यो न साधे ॥७९॥

सारे तपो सुतप द्वादश पर्वतो से,
पालो त्रयोदश क्रिया मन वाक् तनो से ।
हे ! साधु ज्ञान मय अकुश से विदारो,
उन्मत्त चित्त गज के मद को उतारो ॥८०॥

वैराग्य भाव मन मे बहु बार भाना,
पश्चात् विशुद्ध जिन लिग अहो निभाना ।
खाना यथाविधि, धरा पर रात सोना,
ढोना द्विसयम, बिना पर गात होना ॥८१॥

हीरा अमूल्य मणि है मणि जातियो मे,
विख्यात चन्दन रहा द्रुम ख्यातियो मे ।
त्यो जैन धर्म बहु धर्म प्रणालियो मे,
है श्रेष्ठ भाविभव नाशक, हो उरो मे ॥८२॥

समोह क्षोभ बिन शोभित हो रहा है,
सो धर्म, आत्म परिणाम अहो रहा है ।
औ दान पूजन तथा व्रत पालना ये,
है पुण्य, जैन मत मे शुभ भावनाएँ ॥८३॥

सद्धर्म धार उसकी करते प्रतीति,
श्रद्धान गाढ रखते रुचि और प्रीति ।
चाहे तथापि जडधी भव भोग पाना,
ना चाहते धरम से विधि को खपाना ॥८४॥

जो सर्व दोष तज के निज मे रमा है,
नीराग आतम निजातम मे समा है ।
संसार मे तरण-तारण धर्म नौका,
"सोही" "जिनागम" कहे जग मे अनोखा ॥८५॥

पै पुण्य का चयन ही करता कराता,
श्रद्धान आत्म पर चूँकि नहीं जमाता ।
पाता न सिद्धि शिव है प्रतिकूल जाता,
संसार में भटकता यति भूल जाता ॥८६॥

श्रद्धा निजात्म पर पूर्ण करो इसीसे,
वाक्काय से विनय से मन से रुचि से ।
हो ध्यान ज्ञान अनुचिन्तन भी उसी का,
हो मोक्ष, शीघ्र, फिर पार नहीं खुशी का ॥८७॥

हो भाव से मलिन तन्दुल मच्छ पापी,
जा सातवे नरक मे गिरता तथापि ।
हो जा अत: निरत स्वीय गवेषणा मे,
श्रद्धा समेत रुचि से जिन देशनामे ॥८८॥

आतापनादि तपना गिरि कन्दरो मे,
औ बाह्य संग तजना रहना वनो मे ।
स्वाध्याय ध्यान करना परसे कराना,
ये व्यर्थ है श्रमण के बिन साम्य बाना ॥८९॥

जीतो निजी सकल इन्द्रीय फौज वैरी,
बांधो अकम्प मन मर्कट चूँकि स्वैरी ।
निर्ग्रन्थ हो मत करो जनरंजना ना ।
पै आत्म रंजन करो न प्रपंच नाना ॥९०॥

मिथ्यात्व को समझ हेय विसारना है,
औ नो कषाय नव को सब त्यागना है ।
सत् शास्त्र चैत्य गुरु भक्ति सँभारना है,
आज्ञा जिनेश मत की नित पालना है ॥९१॥

सन्मार्ग तीर्थ करने पहले बताया,
सत् शास्त्र बाद गुण नायक ने रचाया ।
ऐसा अतुल्य शुचि है श्रुत ज्ञान प्यारा,
तू नित्य भक्ति उसकी कर भाव द्वारा ॥९२॥

सत् शास्त्र का सलिल सादर साधु पीते,
हो प्यास त्रास उर दाह-विहीन जीते ।
चूडामणी जगत के स्वपराव-भासी,
वे सिद्ध शुद्ध बनते शिवधाम-वासी ॥९३॥

तू झेल काय पर, त्याग प्रमाद सारा,
बाईस दुस्सह परीषह कष्ट भारा ।
शास्त्रानुसार वह भी बन अप्रमादी,
हो ध्यान ! सयम नही बिगडे समाधि ॥९४॥

निर्ग्रन्थ साधु उपसर्ग परीषहो से,
भाई कदापि चिगते नहि पर्वतो से ।
हो दीर्घ काल तक भी जल मे तथापि,
पाषाण है कठिन क्या गलता कदापि ॥९५॥

भा पच विशति सुपावन-भावनाएँ ।
भा सर्वदा सुखद द्वादश भावनाएँ ।
रे ! भाव शून्य करनी किस काम आती,
ना मात्र वो नगनता सुख है दिलाती ॥९६॥

तूने तजा यद्यपि संग तथापि. क्या है ?
तत्त्वार्थ, औ नवपदार्थ यथार्थ क्या है ?
क्या-क्या स्वरूप कब जीव-समास धारे,
तू जान ! चौदह निरे गुणथान सारे ॥९७॥

अब्रह्म है दश विधा उसको हटाना,
है ब्रह्मचर्य नवधा जिसको निभाना ।
आर्त्त हुआ मिथुन के दुख से घिरा है,
संसार के सघन कानन में फिरा है ॥९८॥

वैराग्य भाव जिसके मन में लसे हैं,
आराधना वरण भी करती उसे हैं
वैराग्य से स्खलित है मुनि कष्ट पाता,
संसार को सघन और तभी बनाता ॥९९॥

है भाव से श्रमण है जग नाम पाता,
कल्याण पंच करता शिव धाम जाता ।
पै बाह्य में श्रमण केवल ना सुहाता
होता कुदेव-पशु मानव दु:ख पाता ॥१००॥

जिह्वेन्द्रि के वश हुआ निज को भुलाया,
छ्यालीस दोषयुत भोजन को उड़ाया ।
तूने अत. विधिवशात् बहुदु:ख पाया,
तिर्यञ्च हो विगत में कब सौख्य पाया ॥१०१॥

खा, पी लिया सचित भोजन पेय पानी,
हो लोलुपी सरस का मति मंद मानी ।
तीव्रातितीव्र फलत. दु:खही उठाया,
तू सोच आज चिरकाल वृथा बिताया ॥१०२॥

बीजादि पत्र फल-फूल समूल खाया,
खाके सचित्त फिर भी मद ही दिखाया।
हा! हा! अनन्त भव मे भ्रमता फिरा है,
कीडा बना विषय मे रमता निरा हे ॥१०३॥

है पाँचधा विनय सो, त्रययोग द्वारा,
पालो उसे विनय जीवन हो तुम्हारा।
कैसा गहे अविनयी भव कूल पाता,
है भूलता धरम को प्रतिकूल जाता ॥१०४॥

श्रद्धा समेत जिन भक्ति विलीन प्यारे,
आचार्य आदि दश ये बुध सेव्य सारे।
भाई यथा बल यथा विधि साधु सेवा,
सद् भक्ति राग वश होकर तू सदैवा ॥१०५॥

जो भी प्रदोष व्रत मे त्रय योग द्वारा,
मानो लगा जब हुआ उपयोग खारा।
धिक्कारते स्वयम् को गुरु पास बोलो,
मायाभिमान तज के, उर भाव खोलो ॥१०६॥

वे दुर्जनी कटुक, कर्ण कठोर काली,
देते, सदैव सहते शम-साम्यशाली।
वैराग्य से श्रमण शोभित हो रहे है,
जो काटने विधि, प्रलोभित हो रहे है ॥१०७॥

साधू क्षमा रमणि मे रमते रमाते,
सपूर्ण पाप पल मे फलत. मिटाते।
विद्याधरो नरवरो, असुरो सुरो के,
होते नितान्त स्तुति-पात्र मुनीश्वरो के ॥१०८॥

धारो क्षमा गुण, क्षमा जग जन्तुओं से,
मांगो, करो, विनय से मन वाक्तनो से ।
क्रोधाग्नि से चिर तपा उर है तुम्हारा,
सींचो क्षमा सलिल से फिर शान्ति धारा ॥१०९॥

सम्यक्त्व शुद्ध अविकार अहो सुधारो,
दीक्षा गही समय को स्मृति से निहारो ।
निस्सार सार तम क्या समझो सयाने,
हीरे समा विमल केवलज्ञान पाने ॥११०॥

नग्नत्व आदि जड बाहर लिंग धारो,
हो के परन्तु भवभीत स्व को निहारो ।
हो भाव लिंग बिन द्रव्य न कार्यकारी,
वैराग्य से मति करो अनिवार्य प्यारी ॥१११॥

आहार संग भय मैथुन चार संज्ञा,
होके विलीन इनमे तज आत्म प्रज्ञा ।
संसार के सघन कानन मे भ्रमे हो,
खोये युगों युग युगो पर मे रमे हो ॥११२॥

मैदान मे शयन आसन भी लगाना,
आतापनादि तपना तरुमूल पाना ।
मूलोत्तरादि गुण को रुचि से निभाना,
पै ख्याति लाभ यश को मन मे न लाना ॥११३॥

है आद्य कार्य निज तत्त्व अहो पिछानो,
औ आस्रवादिक अशेष सुतत्त्व जानो ।
शुद्धात्म मे तुम रमो ध्रुव नित्य प्यारा,
धर्मार्थ काम मिटते, त्रय योग द्वारा ॥११४॥

तू तत्त्व-भाव-जल से नहि सिंचता है,
औचित्य को न जब लौ यदि चिंतता है।
होते नहीं जनन-मृत्यु जरा जहाँ पे,
हे! मित्र, जा, न सकता शिव मे वहाँ पे ॥११५॥

ये जीव के, समझ तू परिणाम सारे,
हो पाप रूप कुछ हो कुछ पुण्य प्यारे।
हो बध मोक्ष निज के परिणाम द्वारा,
ऐसा जिनेश मत है अभिराम प्यारा ॥११६॥

मिथ्या असयम कषाय कुयोग लेश्या,
जो भी इन्हे धर रहा कर संक्लेशा।
बाँधे वही अशुभ कर्म नितान्त मोही,
जो है जिनेश मत अति दूर द्रोही ॥११७॥

सम्यक्त्व सयम यमादिक धारते है,
वे पुण्य बध करते, मन मारते है।
सक्षेप से विविध है विधि बध गाथा,
ऐसा जिनेश मत सुन्दर गीत गाता ॥११८॥

मै ज्ञान आवरण आदिक अष्ट कर्मों,
से हूँ बँधा सुचिर से तज आत्म धर्मों,
चैतन्य आदिक अनन्त निजी गुणों को,
देखूँ सही, अब जला विधि के गणों को ॥११९॥

सारे अठारह सहस्र सुशील होते,
चौरासिलाख गुण उत्तर पूर्ण होते।
भावो इन्हे सतत ये शुचि भावना है,
क्या व्यर्थ के कथन से? कुछ लाभ ना है ॥१२०॥

रे आर्त-रौद्रमय ध्यान अवश्य छोडो,
पै धर्म से शुकल से मन मात्र जोडो ।
दुर्ध्यान तो सुचिर से कर ही रहे हो,
जो बार-बार भव मे मर ही रहे हो ॥१२१॥

वे भाव से श्रमण, ध्यान-कुठार द्वारा,
काटे सुशीघ्र भव वृक्ष समूल सारा ।
जो मात्र नग्न मुनि इन्द्रिय दास होते,
ससार-वृक्ष-जड मे जल और देते ॥१२२॥

ज्यो दीप, गर्भ-घर मे बुझता नही है,
उद्दीप्त हो, जबकि वायु चली नहीं है ।
त्यो ध्यान दीपक अकम्प सही जलेगा,
औचित्य ! रागमय वात नहीं चलेगा ॥१२३॥

सर्वोत्तमा शरण मंगल चार प्यारे,
पूजे जिन्हें खग खगेन्द्र सुरेन्द्र सारे ।
आराधना सुगुण नायक है गुरो को,
ध्याओ सदा विनय से परमेष्ठियो को ॥१२४॥

दिज्ञान का विमल शीतल नीर पीते,
सद्भाव से भरित भव्य सुधीर जीते ।
वे आदि व्याधि मृति जन्म जरादिकों से,
होते विमुक्त, शिव हो लसते गुणो से ॥१२५॥

है पूर्णतः जल गया यदि बीज बोओ,
औचित्य ! अकुरित भूतल मे न हो वो ।
लो कर्म बीज-इकबार अहो जलेगा,
भाई ! भवांकुर पुनः उग ना सकेगा ॥१२६॥

जो भाव से श्रमण है शिव धाम जाता,
हो मात्र बाह्य मुनि ना सुख त्राण पाता।
यो जान मान गुण दोष सही सुचारा,
भावात्मिका श्रमणता भज विश्व-सारा ॥१२७॥

तीर्थंकरो गणधरो हलधारियो के,
उत्कृष्ट अभ्युदय है दिविवासियो के
जो भाव से श्रमण है, अनिवार्य पाते।
सक्षेप से, सुन जरा जिन आर्य गाते ॥१२८॥

वे धन्य धन्य तम है, तज सग सर्गी,
सम्यक्त्व बोध व्रत से शुचि भावलिगी।
है साधु निष्कपट भी त्रययोग द्वारा,
वन्दूँ उन्हे विमल हो उपयोग प्यारा ॥१२९॥

वे ऋद्धि-सिद्धि, खगदेव भले दिखाले,
आ पास किपुरुप किन्नर गीत गाले।
सम्यक्त्व से सहित श्रावकभी ऋपि से,
हो मुग्ध लुब्ध न प्रभावित हो किसी से ॥१३०॥

है मोक्ष को सजल लोचन सिचते है,
है जानते मनस से नित चितते है।
ऐसे मुनीश मन मोहित क्या करेगा, ?
स्वर्गीय स्वल्प सुख वो फिर क्या करेगा ? ॥१३१॥

रोगाग्नि, देह घर ना जब लौ जलाती,
दुर्वार मारक जरा जबलौ न आती।
पचेन्द्रियाँ शिथिल हो जबलौ नही है,
रे आत्मका हित करो सुघडी यही है ॥१३२॥

तू विश्व जीव पर धार दया सुधारा,
सारे अनायतन त्याग त्रियोग द्वारा ।
तेरा उपास्य बन जाय "महान सत्ता",
जो सर्व-जीव-मत-चेतन-ज्ञान वत्ता ॥१३३॥

संभोग सौख्य सबने त्रस स्थावरो को,
खाये अनन्त तुमने जग जन्तुओ को ।
ऐसा अतीत भरमे चिरकाल बीता,
ससार मे भटकता नहिं काल जीता ॥१३४॥

चौरासि लाख इन कुत्सित योनियो मे,
तू जन्म ले मर मिटा कि भवो-भवो मे ।
क्या ज्ञात है कि दु·ख कारण क्या रहा है,
हे मित्र "प्राणिवध" कारण ही रहा है ॥१३५॥

सद्भाव से अभयदान, चराचरो को,
देवो, सदा शुचि बना मनवाक्तनो को ।
"कल्याण पच", फलरूप परम्परा से,
पावो मुनीश मुकती, मृति से जरा से ॥१३६॥

है वाद सर्व किरिया शत और अस्सी,
बत्तीस वाद विनयी अक्रिया चवस्सी ।
अज्ञानवाद सडसष्ट अहो पुकारे,
ये वाद, तीन शत औ त्रय साठ सारे ॥१३७॥

सद्धर्म का श्रवण भी करता तथापि,
छोड़े अभव्य न अभव्यपना कदापि ।
मिश्री मिला यदपि पावन दूध पीता,
पै सर्प दर्प विष से रहता न रीता, ॥१३८॥

लेता सदोष मत को जडधी सहारा,
मिथ्यात्व से ढक गया उर नेत्र सारा ।
सिद्धान्त मे बस अभव्य रहा वही है,
श्री जैन धर्म जिसको रुचता नही है ॥१३९॥

सेवा कुसाधुजन की करता मुधा है,
सो ही कुधर्म मत मे रत सर्वदा है ।
है तापसी कुतप ही तपता वृथा है,
हो पात्र हा कुगति का सहता व्यथा है ॥१४०॥

मिथ्यात्व से भ्रमित दुर्जन सग पाया,
भाई तुझे कुनय आगम ने ठगाया ।
ससार मे फिर रहा चिर काल से तू,
हे धीर सोच चलना ! निज चाल ले तू ॥१४१॥

पाखडि वाद त्रय सौ त्रय साठ खारे,
उन्मार्ग है तुम इन्हे तज दो विसारो ।
सौभाग्य ! जैन पथ पे निज को चलाओ,
रे वाक् विलास बस हो ! मन से भुलाओ ॥१४२॥

सम्यक्त्व के बिन मुनी शव ही कहाता,
है मात्र नग्न चलता फिरता दिखाता ।
मोही त्रिलोक भर मे वह निद्य होता,
आत्मा उडा, शव कहाँ कब वद्य होता ॥१४३॥

जैसा शशी उज्जल तारक के गणो मे,
जैसा मृगेन्द्र बलवान रहा मृगो मे ।
सम्यक्त्व भी परम श्रेष्ठ सभी गुणो मे,
माना गया कि मुनि श्रावक के व्रतो मे ॥१४४॥

धारा फणा मणि विशेष सुलाल ऐसा,
होता सुशोभित फणाधर राज जैसा।
वैसा सुशोभित सदा जिन भक्त होता,
सन्मार्ग मे विमल दर्शन युक्त होता ॥१४५॥

तारा समूह नभ मे जब जन्म पाता
यो पूर्ण चन्द्र जिस भाँति लसे सुहाता।
निर्ग्रन्थ लिंग उस भाति लसे सुचारा,
सम्यक्त्व-शुद्ध तप ले व्रत युक्त प्यारा ॥१४६॥

मिथ्यात्व दोष, गुण दर्शन को विचारो,
भाई सुरत्न, समदर्शन को सुधारो।
सोपान आदिम शिवालय का रहा है,
औ सारभूत गुण रत्न यही अहा है ॥१४७॥

कर्ता, अमूर्त, निज देह प्रमाण वाला,
भोक्ता, अनादि अविनश्वर, जीव प्यारा
विज्ञान दर्शनमयी उपयोग प्याला,
ऐसा कहे जिन करे जग मे उजाला ॥१४८॥

मोहादि घाति विधि के दल को मिटाते,
वे भव्य साधु जिन लिंग धरे सुहाते।
वैराग्य से लस रहे 'दृग पूर्ण खोले,
तू खास दास उनका अयि चित्त होले ॥१४९॥

ज्यो चार घाति अघ-कर्म विनाशते है
त्यो लोक पूरण अलोक प्रकाशते है।
दृक् ज्ञान सौख्य बल ये प्रकटे गुणों से,
होते सुशोभित अनन्त चतुष्टयो से ॥१५०॥

लो कर्म मुक्त बनता जब आत्मा ,है,
होता सुनिश्चित वही परमातमा है ।
ज्ञानी वही शिव चतुर्मुख ब्रह्म भी है,
सर्वज्ञ विष्णु परमेष्ठि निजात्म ही है ॥१५१॥

हो घाति कर्म दल से, जब मुक्त स्वामी,
प्यारे अठारह सदोष-विमुक्त नामी ।
त्रैलोक्य दीप तुम ही अति दिव्य देही !
दो बोधि उत्तम बनूँ फलत विदेही ॥१५२॥

सद्भाव से भ्रमर हो निशिवासरो मे,
होता विलीन जिनके पद पकजो मे ।
आमूल-जन्म लतिका झट काटता है,
वैराग्य शस्त्र बल से शिव साधता है ॥१५३॥

ज्यो शोभता कमलिनी दृग मजु पत्र,
हो नीर मे, न सडता रहता पवित्र ।
त्यो लिप्त हो विषय से न मुमुक्षु प्यारे,
होते कषाय मल से अति दूर न्यारे ॥१५४॥

नाना कला गुण विशारद हो निहाला,
मानूँ उसे मुनि, सुसयम शील वाला ।
पै दोष कोष बस केवल नग्न साधू,
साधू रहा न वह श्रावक भी न ! स्वादू ! ॥१५५॥

तीखी क्षमा दम मयी असि हाथ धारे,
वे धीर, नीर-निधि से मुनि वीर प्यारे ।
दुर्जेय उद्धत कषाय-बली, भटो को,
है जीतते सुचिर कालिन सकटो को ॥१५६॥

पञ्चाक्ष के विषय के मकराकरो मे,
थे डूबते पतित भव्य भवो-भवो मे ।
विज्ञान दर्शनमयी कर का सहारा,
दे, धन्य ईश उस पार जिन्हे उतारा ॥१५७॥

उत्तुग मोह तरु पे लिपटी चढी है,
मायामयी विषम बेल घनी बढी है ।
फूले खिले विषय फूल जहाँ जिसे वे,
काटे विरोध असि से मुनि हा ! न सेवे ॥१५८॥

कारुण्य से यदपि पूर्ण भरे निरे है,
समोह मान मद गौरव से परे है ।
चारित्र खड्ग कर लेकर, काटते है,
सम्पूर्ण-पाप मय स्तभ न हाँफते है ॥१५९॥

ज्यो पूर्ण पौर्णिम शशी नभ मे सुहाता,
तारा समूह जिसको जब घेर पाता ।
त्यो श्री जिनेश मत के नभ मे दिखाते,
धारे सुमाल गुण की मुनि चन्द्र भाते ॥१६०॥

होते जिनेन्द्र अमरेन्द्र नरेन्द्र चक्री,
हो राम तीर्थंकर केशव अर्ध चक्री,
वे ऋद्धि-सिद्धि गहते मुनि, सग त्यागी,
होते गणेश ऋषि तारण है विरागी ॥१६१॥

अत्युज्वला अतुल निर्मल है निहाला,
उत्कृष्ट सिद्धि सुख है शिव शील वाला ।
वार्धक्य भी मरण भी जिसमे न भाते,
साधू विराग जिसको अविलम्ब पाते ॥१६२॥

नीराग है नित निरजन है निराले,
है सिद्ध शुद्ध जग पूजित, पूज्य सारे ।
दे, वे मुझे विमल भाव, कषाय धोऊँ
सम्यक्त्व-बोध-व्रत मे रत नित्य होऊँ ॥१६३॥

ये धर्म अर्थ पुनि काम विमोक्ष चारो,
है भाव पे निहित यो तुम तो विचारो ।
मत्रादि सिद्धि सब भी बस ।। भाव से हो,
कोई प्रयोजन नही बकवाद से हो ॥१६४॥

सर्वज्ञ ने प्रथम तो सब जान पाया,
सद्'भाव-प्राभृत' पुन हमको सुनाया ।
जो भी पढें यदि सुने अविराम भावे,
औचित्य, नित्य स्थिर शाश्वत धाम पावे ॥१६५॥

- दोहा -

निजी भाव ही दु·ख है, निजी भाव सुख कूप ।
भव-भव भ्रमते भाव से, भूल रहे निज रूप ॥१॥

दु ख से बचना चाहते, तजो परिग्रह भाव
नग्न हुए बिन शिव नही, बिना निजातम भाव ॥२॥

मोक्ष पाहुड

देवाधिदेव जिनदेव बने हुए है,
आत्मीय-ज्ञान धन पाय तने हुए है ।
सर्वस्व-त्याग परका विधि को मिटाते,
बन्दूं उन्हे विनय से शिर को झुकाते ॥१॥

मे वन्दना कर इन्हे, जिनदेव प्यारे,
सच्चे अनन्त दृग बोध स्वय सुधारे ।
उत्कृष्ट योगिजन को रुचि से सुनाता,
जो श्रेष्ठ रूप परमातम, का सुहाता ॥२॥

जो पूर्व, जान परमातम, योग ढोते,
योगी सुयोग रत ही अविराम होते ।
निर्वाण प्राप्त करते सुख कूप साता,
निर्बाध शाश्वत अनन्त अनूप भाता ॥३॥

बाह्यात्म और परमातम अन्तरात्मा,
आत्मा त्रिधा सब, तजो तुम बाह्य आत्मा ।
है अन्रातम उपाय उसे सुधारो,
ध्याओ सदैव परमातम को निहारो ॥४॥

मै हूँ शरीरमय ही बहिरात्म गाता,
जो कर्म मुक्त परमातम देव साता ।
चैतन्य धाम मुझ से तन है निराला
यो अन्तरात्म कहता समदृष्टि वाला ॥५॥

होते अतीन्द्रिय अनिंद्य अकाय प्यारे,
शुद्धात्मा मात्र, विधि-पक विमुक्त सारे ।
शोभे सदा शिव शिवंकर सिद्ध स्थाई,
माने गये परम इष्ट, जिनेश, भाई ॥६॥

वाक्काय से मनस से तज बाह्य आत्मा,
सौभाग्य है ! तुम बनो शुचि अन्तरात्मा ।
ध्यावो उसे परम आतम जो सुहाया,
प्राप्तव्य मात्र वह है, जिनने बताया ॥७॥

वो मूढ दृष्टि, मन-इन्द्रिय-दास मोही,
"आत्मा" स्वय समझता निज देह को ही ।
आत्मीय बोध-च्युत है, फलत भ्रमा है,
बाह्यार्थ मे, रच पचा पर मे रमा है ॥८॥

है अन्य का स्वतन सा तन देख सोही,
सेवा सदैव करता उसकी विमोही ।
वो वस्तुत तन अचेतन ही रहा है,
भूला उसे तदपि चेतन ही गहा है ॥९॥

यो देह मे स्वपर भान लिए दिखाते,
आत्मा जिन्हे विदित है न यथार्थ पाते ।
माता पिता सुत सुता निज बाँधवो मे,
है मोह और करते वनितादिको मे ॥१०॥

ना-ना कुबोध भर मे रममान होता,
मिथ्या-विभाव वश मानव मान ढोता ।
समोह के उदय से यह लोक मे भी,
माने अभीष्ट तन को परलोक मे भी ॥११॥

आरम्भ से रहित निर्भय है विरागी,
निर्द्वन्द्व, राग रखते तन मे न त्यागी ।
योगी नितान्त निज मे रममान होता,
हो मोक्ष-ओर फलत गम मान होता ॥१२॥

जो राग से सहित है, विधि बंध पाता,
होता विराग, विधि मुक्त अनन्त ज्ञाता।
है मुक्ति की यह तथा विधि बंध गाथा,
संक्षेप से यह जिनागम जो बताता ॥१३॥

तल्लीन जो श्रमण स्वीय पदार्थ में है,
साधु निजात्म समदृष्टि यथार्थ में है।
सम्यक्त्व सहित तथा निज में सुहाता,
दुष्टाष्ट कर्म दल को क्षण में मिटाता ॥१४॥

तल्लीन साधु परकीय पदार्थ में हो
मिथ्यात्व दृष्टि वह क्या यथार्थ में हो।
मिथ्यात्व सहित, नहीं निज धर्म पाता,
है बार-बार फलत वसु कर्म पाता, ॥१५॥

होना निजाश्रय सुनिश्चित मोक्षदाता,
होता पराश्रय दुरन्त अशान्ति-धाता।
शुद्धात्म में इसलिए रुचि हो तुम्हारी,
रागादि में, अरुचि ही शिव सौख्यकारी ॥१६॥

जो भी सचेतन अचेतन मिश्र सारे,
शुद्धात्म के धरम से अति भिन्न न्यारे।
ऐसा हमें सदुपदेश अहो सुनाया,
सन्मार्ग को निखिल-दर्शक ने दिखाया ॥१७॥

है वस्तुत अतुल-निर्मल-शील वाला,
दुष्टाष्ट कर्म बिन ज्ञान-शरीर-धारा।
अत्यन्त शुद्ध निज आतम द्रव्य भाता,
ऐसा जिनेश कहते, निज-द्रव्य-धाता ॥१८॥

सलग्न पूर्ण जिनके पथ मे हुए है,
औ पूर्णत विमुख भी पर से हुए है ।
सद्ध्यान, आत्म भर का करते सदा है,
पाते विमोक्ष धरते व्रत सम्पदा है ॥१९॥

योगी जिनेश मत के अनुसार ध्याता,
शुद्धात्म-ध्यान मन मे यदि धार पाता ।
निर्वाण लाभ उसको मिलता यदा है,
आश्चर्य क्या न मिलती सुरसम्पदा है ? ॥२०॥

सौ कोश एक दिन मे चलता मजे से,
ले के स्वकीय शिर पे गुरु भार वैसे ।
क्या अर्ध कोस उसको न निभा सकेगा ?
शका नही वह नितान्त निभा सकेगा ॥२१॥

दुर्जेय कोटि भट है रण मे खडा है,
जीता न जाय भट कोटिन से अडा है ।
क्या एक मल्ल भट जीत उसे सकेगा,
कैसा असम्भव सुसम्भव हो सकेगा ? ॥२२॥

घोराति-घोर तप से तन को तपाते,
प्राय सभी अमर हो मुनि स्वर्ग पाते,
सद्ध्यान से सुर बने यदि स्वर्ग जाते ।
आगे नितान्त शिव शाश्वत सौख्य पाते ॥२३॥

अग्न्यादि का यदि सुयोग्य सुयोग पाता,
पाषाण हेम-मय, हेम बने सुहाता ।
कालादि योग्य जब साधन-प्राप्त होता,
आत्मा अवश्य परमातम आप्त होता ॥२४॥

अच्छा, व्रतादिक तया, सुर-सौख्य पाना,
स्वच्छन्दता अति बुरी, फिर श्वभ्र जाना ।
अत्यन्त-अन्तर व्रताव्रत मे रहा है,
छाया-सुधूप-द्वय मे जितना रहा है ॥२५॥

चाहो भयकर भवार्णव तैर जाना ।
चाहो यहाँ अब नहीं भव दु ख नाना ।
ध्याओ उसे शुचि निजातम है सुहाता,
जो शीघ्र कर्म-मय ईंधन को जलाता ॥२६॥

साधू कषाय-घट को झट फोडते है
समोहराग मद गारव छोडते है
वे त्याग लोक व्यवहार सदा सुहाते,
है ध्येय भूत निज ध्यान अत लगाते ॥२७॥

अज्ञान से विमुख हो दिन रात जागे,
मिथ्यात्व पाप सब पुण्य विभाव त्यागे,
सानन्द मौन व्रत गुप्ति तथा निभावे,
योगी सुयोग रत आतम को दिपावे ॥२८॥

जो भी मुझे दिख रहा जग रूप न्यारा,
सो जानता न कुछ भी जड-कूप सारा ।
मै तो अमूर्त नित ज्ञायक शील बाला,
कैसे करूँ कि, किससे कुछ बोल चाला ॥२९॥

वह कर्म का सतत आस्रव रोक पाता,
है पूर्व सचित तभी विधि को खपाता ।
योगी सुयोगरत हो, जिन यो बताते,
योगी बनो तुम धरो दृढ योग तातै ॥३०॥

होता सुजागृत वही निज कार्य मे है,
सोता हुआ सतत लौकिक कार्य मे है ।
जो जागता सतत लौकिक कार्य मे है,
सोता वही सतत आत्मिक कार्य मे है ॥३१॥

योगी सदैव इस भाँति विचारता है,
सारा असार व्यवहार विसारता है ।
जो भी जिनोक्त परमात्मपना उसी मे,
होता विलीन रत, भूल न औ किसी मे ॥३२॥

ये पच पाप तज पच महाव्रतो को,
पालो सदा समिति पच त्रिगुप्तियो को ।
ज्ञानादि रत्न त्रय मे मन को लगाओ,
स्वाध्याय ध्यानमय जीवन ही बिताओ ॥३३॥

आराधना वह रही निज के गुणो की,
आराधना कर रहा दृग-आदिकों की ।
माना गया विमल केवल ज्ञान दाता,
आराधना-मय-विधान मुझे सुहाता ॥३४॥

है शुद्ध, सिद्ध निज आतम विश्वदर्शी,
सर्वज्ञ है, पर नही पर द्रव्य स्पर्शी ।
जानो उसे सदन केवल ज्ञान का है,
ऐसा कहे जिन, निधान प्रमाण का है ॥३५॥

योगी जिनेश मत के अनुसार भाता,
ज्ञानादि रत्न त्रय सो उरधार पाता ।
शुद्धात्म-ध्यान सर मे डुबकी लगाता,
निर्भ्रान्त शीघ्र मन के मल को मिटाता ॥३६॥

जो जानता स्वपर को वह ज्ञान भाता
जो देखता सहज दर्शन नाम पाता ।
जो पाप पुण्य पर को जड से मिटाता,
सिद्धान्त मे विमल चारित वो कहाता ॥३७॥

सम्यक्त्व, तत्त्व भर मे रुचि नाम पाता,
तत्त्वार्थ का ग्रहण ज्ञान सही कहाता ।
चारित्र शुद्ध, परका-परिहार साता,
ऐसा जिनेश मत है हमको बताता ॥३८॥

वो शुद्ध, शुद्ध यदि दर्शन धारता है,
निर्वाण प्राप्त करता मन मारता है ।
अन्धा बना रहित दर्शन से विचारा,
पाता अभीष्ट फल को नहि मोक्ष प्यारा ॥३९॥

धर्मोपदेश जिनका सुख का पिटारा,
है जन्म मृत्यु हरता यह विश्व सारा ।
स्वीकारता हृदय से इसको सुहाता,
सम्यक्त्व सो, श्रमण श्रावक धार पाता ॥४०॥

क्या भेद चेतन अचेतन मे रहा है,
योगी उसे समझ जीवन मे रहा है ।
सद् ज्ञान है नियम से उसका, बताया,
सत्यार्थ को निखिल-दर्शक ने दिखाया ॥४१॥

योगी सुरत्नत्रय लक्षण जान लेता,
सो पुण्य पाप झट छोड नितान्त देता ।
है निर्विकल्प मय चारित धार लेता,
ऐसा कहे जिन सुनो विधि मार जेता ॥४२॥

हो सयमी स्वबल को न कभी छुपाते,
रत्नत्रयी बन तपे तप साधु तातै ।
शुद्धात्म-ध्यान धरते रुचि से सुचारा,
पाते पुन परम हे पद पूर्ण प्यारा ॥४३॥

मायादि शल्य त्रय त्याग त्रिरत्न पाले,
धारे त्रियोग त्रय योग सदा सँभाले ।
औ राग दोष द्वय को जड से मिटाते,
योगी तभी नियम से परमात्म ध्याते ॥४४॥

माया व क्रोध भय को मन मे न लाना,
हो लोभ से रहित-जीवनही चलाना ।
है शोभता विमल भाव-स्वभाव द्वारा,
पाता अनन्त गुण उत्तम विश्व सारा ॥४५॥

शुद्धात्म-भाव-च्युत है विषयी कषायी,
है रौद्र भाव धरते भव दु खदाई ।
पाते न सिद्धि सुख है विधि से कसे है,
वे क्योंकि हा ! न जिन लिगन से लसे है ॥४६॥

निर्ग्रन्थ रूप जिन-लिग वही सुहाया,
उत्कृष्ट मोक्ष सुख है, जिन देव गाया ।
सो स्वप्न मे तक जिन्हे रुचता नही है,
रोते फिरे अबुध वे भव मे यही है ॥४७॥

सद् ध्यान मे उतरता परमातमा है,
होता प्रलोभ मलदायक खातमा है ।
योगी नवीन विधि आस्रव रोधता है,
प्यारी जिनेन्द्र प्रभू की यह बोधता है ॥४८॥

सम्यक्त्व संग दृढ चारित्र पालता है,
वैराग्य से नियम से मन मारता है ।
योगी निजात्म भरका शुचि ध्यान ध्याता,
पाता अनन्त परम है पद को सुहाता ॥४९॥

चारित्र ही धरम निश्चय से सुहाता,
सो धर्म भी सहज साम्य स्वभाव धाता ।
है राग रोष रति से वह अन्य होता,
जीवात्म का हि परिणाम अनन्य होता ॥५०॥

ज्यों स्वच्छ ही स्फटिक आप स्वभाव से हो,
भाई ! वही विकृत अन्य प्रभाव से हो ।
जीवात्म भी विमल आप स्वभाव से हो,
रागादि से मलिन-मैल-विभाव से हो ॥५१॥

साधर्मि-साधु जन, मे अनुराग ढोता
सद्भक्त देव गुरु का अनगार होता ।
सम्यक्त्व-ध्यान रत हो वह मात्र योगी
माना गया समय मे सुन शास्त्र भोगी ॥५२॥

मोही अनेक भव मे जितना खपाता,
उग्राति उग्रतप से विधि को मिटाता ।
ज्ञानी त्रिगुप्ति बल से उतना खपाता
अन्तर्मुहूर्त भर मे, यह 'साधू-गाथा' ॥५३॥

जो पुण्य के उदय मे निज को भुलाता,
होता विमुग्ध पर मे शुभ वस्तु पाता ।
है अज्ञ ही इसलिए वह साधु होता,
ज्ञानी विराग उससे विपरीत होता ॥५४॥

भोगानुराग अघ आस्रव हेतु जैसा
मोक्षानुराग शुभ आस्रव हेतु वैसा
है मोक्ष चाह रखता बस अज्ञ होता,
शुद्धात्म से इसलिए अनभिज्ञ, होता ॥५५॥

पा कर्म जन्य कुछ इन्द्रिय ज्ञान को है,
ना मानता सहज केवलज्ञान को है ।
अज्ञान धाम फलत वह कहाता,
धिक्कार दोष जिन-शासन मे लगाता ॥५६॥

जो मूढ-ज्ञान-बिन-चारित ढो रहा है,
सम्यक्त्व से रहित तापस हो रहा है
सवेग आदि गुण मे रुचि भी न लाता,
वो मात्र नग्नपन क्या सुख को दिलाता ? ॥५७॥

माने सचेतन अचेतन को वही है,
है अज्ञ ही, चतुर विज्ञ अहो नही है ।
भाई सचेतन सचेतन को बताता,
ज्ञानी वही नियम से जग मे कहाता ॥५८॥

विज्ञान के बिन नही तप कार्यकारी,
विज्ञान भी तप बिना नहि कार्यकारी ।
भाई अत तप तपो तुम ज्ञान द्वारा,
निर्वाण प्राप्त करलो सुख खान प्यारा ॥५९॥

निर्वाण का नियम से जब पात्र होते,
निर्भ्रान्त तीर्थंकर वे चहु ज्ञान ढोते ।
भाई तथापि तपते तप भी रुचि से,
यो जान, ज्ञान समवेत तपो इसी से ॥६०॥

जो मात्र नग्न मुनि है तज वस्त्र सारा,
है भाव लिंग बिन बाह्य लिंग धारा ।
निर्ग्रन्थ नष्ट निज चारित से रहा है,
हितार्थ मोक्ष पथ नाशक सो, रहा है ॥६१॥

जो तत्त्व-बोध सुख पूर्वक साथ आता,
आता नहीं दुख में झट से वह भाग जाता ।
ये काय-क्लेश-साधन अतः सुयोगी,
तत्त्वानुचिन्तन करे तज भाग भोगी ॥६२॥

निद्रा तथा अशन आसन जीत लेना,
भाई जिनेन्द्र मत में रुचि नित्य लेना ।
पाके प्रसाद गुरु का उपदेश प्यारा,
शुद्धात्म ध्यान करना मन से सुचारा ॥६३॥

चारित्रवान निज आतम ही रहा है,
सम्यक्त्व बोध गुण मण्डित भी रहा है ।
ध्यातव्य सो सतत है मन से सुचारा,
पाके प्रसाद गुरु का उपदेश प्यारा ॥६४॥

श्रद्धा समेत निज आतम जान पाना
सद्भावना स्वयम की अविराम भाना ।
पंचाक्ष के विषय से मन को छुडाना,
दुर्लभ्य पूर्ण क्रमशः सब ये सुजाना ! ॥६५॥

जो वासना विषय की जबलौं रखेगा,
शुद्धात्म को न नर वो तब लौं लखेगा ।
योगी जभी विषय से अति दूर होता,
शुद्धात्म को निरखता सुन मूढ ! श्रोता ॥६६॥

कोई सुजान कर आतम को तथापि,
सद्भाव से स्खलित हो मतिमढ पापी ।
है झूलते विषय मे अति फूलते है
वे मूढ चार गति मे चिर घूमते हैं ॥६७॥

शुद्धात्म जान जिन भाव समेत तारे,
योगी विरक्त विषयादिक को विसारे,
मूलोत्तरादि गुण ले तपते सुहाते,
वे छोड चार गतियाँ निजधाम जाते ॥६८॥

तू राग को तनिक भी तन मे रखेगा,
मोहाभिभूत बन के पर को लखेगा ।
होगा स्व से स्खलित हो विपरीत जाता,
मूढात्म हा न फलत भव जीत पाता ॥६९॥

सम्यक्त्व शुद्ध धर शोभित हो रहा है,
उत्साह से सुदृढ चारित हो रहा है ।
शुद्धात्म ध्यानरत निर्विषयी विरागी,
निर्वाण प्राप्त करते तज राग-रागी ! ॥७०॥

जो मोह राग पर मे करना कराना,
ससार कारण रहा गुरु का बताना ।
योगी अत नित करे निज भावनाएँ,
वाक्काय से मनस से तज वासनाएँ ॥७१॥

निन्दा मिले स्तुति मिले न विभाव होना,
बन्धू रहो रिपु रहो समभाव होना ।
सो साम्य ही विपद मे सुख सम्पदा मे,
माना गया चरित है धरता सदा मै ॥७२॥

चारित्र मोह विधि से सहसा घिरे है,
स्वच्छन्द है समिति संयम से निरे है।
वैराग्य हीन, जड यों बकते यहाँ है,
सद्ध्यान योग्य यह काल नहीं अहा है! ॥७३॥

सम्यक्त्व ज्ञान बिन जीवन जी रहे है,
भोगोपभोग रस सादर पी रहे है
जो ध्यान योग्य यह काल नहीं बताते
वे ही अभव्य नहि, मोक्ष कदापि जाते ॥७४॥

पाले न पंच व्रत पालन की न इच्छा,
धारे न गुप्ति समिती धरते न दीक्षा।
चारित्र बोध बिन यों जड ही पुकारे,
है ध्यान योग्य यह काल नहीं विचारे ॥७५॥

लो धर्म ध्यानरत, भारत देश मे भी,
साधू मिले दुखद पंचम काल मे भी।
ऐसे निजात्म रत साधु जिन्हे न माने,
वे अज्ञ मूढ कहलाय, सुनो सयाने ॥७६॥

ज्ञानादि रत्नत्रय से शुचि हो सुहाते,
लो आज भी मुनि निजातम ध्यान ध्याते।
लोकांतिका सुरप या फलरूप होते,
आ स्वर्ग से मुनि बने शिव को सजोते ॥७७॥

हो पाप पंक मल से मन को बिगारा,
हा साधु ने यदपि है जिन लिंग धारा।
पै पाप मात्र करता दिन रैन पापी,
पाता न मोक्ष पथ को तजता तथापि ॥७८॥

जो पचधा वसन को रखते सदा है,
है मूढ याचक, रखे धन सम्पदा है ।
हा ! पाप कार्य भर मे रस ले रहे है,
सन्मार्ग को बस जलाजलि दे रहे है ॥७९॥

सारे परीषह सहे अनिवार्य भाते,
है हेय मान तजते अघ कार्य ताते ।
निर्ग्रन्थ है विगत मोह कषाय जेता,
वे मोक्ष मार्ग भजते दृग के समेता ॥८०॥

हा ! तीन लोक भर मे कुछ है न मेरा,
होगा, न था, न अब है, बस मै अकेला ।
योगी निरन्तर अहो इस भाति गाता,
जाता स्वधाम ध्रुव शाश्वत शान्ति साता ॥८१॥

जो भक्त देव गुरु के मन से बने है,
निर्वेग रूप रस मे सहसा सने है ।
शुद्धात्म ध्यानरत निश्चल भी रहे है,
वे ही विमोक्ष पथ से चल भी रहे है ॥८२॥

आत्मार्थ, आतम निजातम मे समाता,
सच्चा सुनिश्चित चरित्र वही कहाता ।
हे भव्य ! पावन पवित्र चरित्र पालो,
पालो अपूर्व पद, निज को दिपालो ॥८३॥

आकार से पुरुष आतम शैल योगी,
सम्यक्त्व ज्ञानमय है विमलोपयोगी ।
योगी सदैव करता निज ध्यान प्यारा,
निर्द्वन्द्व आप बनता हर पाप सारा ॥८४॥

धर्मोपदेश इस भांति हमें सुनाया,
श्रामण्य क्या श्रमण का जिनने बताया।
सागार धर्म सुन लो भव को मिटाता,
उत्कृष्ट कारण रहा, शिव का सुहाना ॥८५॥

सम्यक्त्व का प्रथम श्रावक ! लो सहारा,
जो है अकम्प, गिरि सा शुचि शान धारा।
सम्यक्त्व पे हि तुम ध्यान अहो जमा लो,
हो दुःख का क्षय यही कि प्रयोजना हो ॥८६॥

सम्यक्त्व ध्यान करता यदि है सुचारा,
भाई सुनो वह रहा समदृष्टि वाला।
सम्यक्त्व से सहित जो लसता सुहाता,
दुष्टाष्ट कर्म दल को वह ही मिटाता ॥८७॥

जो भी हुए विगत मे शिव सिद्ध प्यारे,
होंगे भविष्य भर मे कटि बद्ध सारे।
ज्यादा कहाँ तक कहूं महिमा निराली,
सम्यक्त्व ही वह रही, सुखदा शिवाली ॥८८॥

हे धन्य शूर नर श्रेष्ठ कृतार्थ सारे,
वे ही प्रकाण्ड बुध पडित पूज्य प्यारे।
लो स्वप्न मे तक कलकित न किया है,
सम्यक्त्व को विमल धारण ही किया है ॥८९॥

निर्ग्रन्थ मोक्षपथ हो गुरु ग्रन्थ त्यागी,
वे देव अष्ट दश दोष बिना विरागी।
हिसा बिना धरम हो सबको सुहाता,
श्रद्धान होय इनमे "दृग" नाम पाता ॥९०॥

जो सर्व सग बिन सयत हो रहा हो,
है जात रूप शिशु सा मुनि हो रहा हो ।
सग्रन्थ लिङ्ग मुनि का नहि ध्यान देना,
सम्यक्त्व प्राप्त करना पहचान लेना ॥९१॥

जो देव शास्त्र गुरु कुत्सित शील वाले,
हिसादि मे निरत निर्दय शील वाले,
मिथ्यात्व मडित इन्हे नमते विचारे,
लज्जाभिभूत भय गारव भाव धारे ॥९२॥

भोगार्थ-राज भय से बन साधु मोही,
है पूजता यदि कुदेव कुसाधु को ही ।
मिथ्यात्व धारक सुनिश्चित ही रहा है,
सम्यक्त्व का न वह धारक ही रहा है ॥९३॥

निर्दिष्ट धर्म जिनसे सुख पूर्ण प्याला,
सो धर्म श्रावक करे समदृष्टि वाला ।
मिथ्यात्व धारक रहा वह भूल जाता,
सद्धर्म से सतत जो प्रतिकूल जाता ॥९४॥

मिथ्यात्व धारक यहाँ सुख को न पाता,
भाई अनेक कटु दुस्सह दु ख पाता ।
है बार-बार मृति जन्म जरा गहाता,
संसार मे सुचिर जीवन है बिताता ॥९५॥

मिथ्यात्व कौन समदर्शन कौन जानो,
क्या दोष क्या गुण रहे इनके पिछानो ।
धारो उसे अब तुम्हे रुचता सुहाता,
क्या लाभ है अधिक वाचन है न साता ॥९६॥

लो बाह्य संग तज नग्न भले बने है,
मिथ्यात्व रूप मल मे फिर भी सने है ।
क्या लाभ हो तप तपे स्थित मौन से क्या ?
जाने न साम्य निज का निज गौण से क्या ? ॥९७॥

है दोष मूल गुण मे मुनि हो लगाता,
पै बाह्य उत्तर गुणादिक को निभाता ।
पाता न सिद्धि सुख को बिन संग का है,
होता विराधक निरा जिन लिंग का है ॥९८॥

मासोपवास करले कर क्या करेगा,
आतापनादि तप ले तप क्या करेगा ।
तू बाह्य कर्म कर केवल क्या करेगा,
जाता विलोम निज से सुख क्या मिलेगा ? ॥९९॥

पालो अनेक विधि चारित को बढाओ,
भाई भले सकल शास्त्र पढो, पढाओ ।
वे सर्व बाल श्रुत चारित ही कहाते,
शुद्धात्म से यदि अरे विपरीत जाते ॥१००॥

साधू सदा विमुख अन्य पदार्थ से है,
वैराग्य लीन निज लीन यथार्थ से है ।
आत्मीय शुद्ध सुख में अनुरक्त होते,
भोगादि से बहुत दूर विरक्त होते ॥१०१॥

मूलोत्तरादि गुण से तन को सजाया,
स्वाध्याय ध्यान भर मे मन को लगाया ।
आदेय हेय जिनको सब ज्ञान होते,
साधू गहे स्वपद वे जिन आप्त होते ॥१०२॥

आत्मा निजी नमन योग्य नमस्कृतो से,
आत्मा निजी परम स्तुत्य सुसस्तुतो से ।
ध्यातव्य भी बस वही सब ध्यानियो से,
देहस्थ को निरख लो तुम ज्ञानियो से ॥१०३॥

अर्हन्त सिद्ध शिव थे परमेष्ठि प्यारे,
आचार्य वर्य उवझाय सुसाधु सारे ।
ये आत्म से निरख लो दिखते सुचारा,
आत्मा अत शरण हो मम हो सहारा ॥१०४॥

सम्यक्त्व ज्ञान तप चारित सत्य प्यारे
चारो निजात्म गुण है गुरु यो पुकारे ।
देखूँ इन्हे स्वयम मे दिखते सुचारा,
आत्मा अत शरण हो मम हो सहारा ॥१०५॥

यो मोक्ष के प्रथम पाहुड को बताया,
धर्मोपदेश, जिन ने हमको सुनाया
जो भी पढे सुन इसे अविराम भावे,
श्रद्धा समेत स्थिर शाश्वत धाम पावे ॥१०६॥

- दोहा -

रत्नत्रय से द्विविध है निश्चय और व्यवहार ।
प्रथम साध्य साधक द्वितिय रत्नत्रय उर धार ॥१॥

नग्न दिगम्बर बिन बने, रत्नत्रय नहि होय ।
रत्नत्रय के बिन कभी, निज सुख मोक्ष न होय ॥२॥

लिंग पाहुड

मै वन्दना कर उन्हे, परमेष्ठियो को,
सिद्धो तथा जिनवरो जिन अर्हतो को।
सत् प्राभृती श्रमण लिग सुखी बनाता,
सक्षेप से तुम सुनो तुमको सुनाता ॥१॥

सद्धर्म से सहित हो वह लिग सारा,
पावे न धर्म-धन, केवल-लिग द्वारा।
तू जान भावमय धर्म अरे! रुची से,
है मात्र लिग वह व्यर्थ रहा इसी से ॥२॥

निर्ग्रन्थ लिग जिसने मुनि हो सुधारा,
पै पाप पक मल से मन को बिगारा।
वो ''भार लिग'' जिसकी करता हॅसी है,
सो अन्य साधु-मुख मे लगती मषी है ॥३॥

निर्ग्रन्थ रूप धर वाद्य मनो बजाता,
है नित्य नृत्य करता रति गीत गाता,
है पाप पक मल से मन पे लिपाता,
होता नही श्रमण वो पशु ही कहाता ॥४॥

जो सग के ग्रहण रक्षण मे लगे है,
है आर्त्त ध्यान करते मुनि हो डिगे है।
है पाप पक मल से मन को लिपाते,
होते नही श्रमण वे पशु ही कहाते ॥५॥

खेले जुवा कलह वाद वृथा करे है,
मानी प्रमत्त बन के मद से भरे है।
निर्ग्रन्थ बाह्य मुनि यद्यपि है तथापि,
पाताल मे उतरते कर पाप पापी ॥६॥

निर्ग्रन्थ हो सहित मैथुन कार्य से है,
पापी बने उदय पूर्ण अनार्य से है
है पाप रूप मल से मन ओ लिपाते,
ससार के विपिन मे भ्रम दु ख पाते ॥७॥

सम्यक्त्व ज्ञान व्रत ये शिव हेतु प्यारे,
मोही बने मुनि परतु इन्हे न धारे ।
है आर्त्त ध्यान भर मे मन को लगाते,
ससार को अमित और अत· बनाते ॥८॥

मोही, विवाह अविवाहित का कराते,
वाणिज्य जीव बध औ कृषि भी कराते ।
निर्ग्रन्थ नग्न मुनि यद्यपि है तथापि,
पाताल मे उतरते कर पाप पापी ॥९॥

चोरो नृपो यदि परस्पर मे लडाता,
है पाप कार्य करता पर से कराता ।
तासादि खेल मुनि होकर खेलता है,
सो आत्म को नरक मे ही ढकेलता है ॥१०॥

सम्यक्त्व ज्ञान चरणो व्रत पालनो मे,
आवश्यको नियम सयम सत् तपो मे ।
निर्ग्रन्थ हो यदि मनो दुख मानता है,
जाता अत· नरक सो अनजानता है ॥११॥

हो लोलुपी सरस भोजन का बना है,
कामादि पाप भर में फलत सना है ।
होता नहीं श्रवण वो व्यभिचारकर्त्ता,
मायाभिभूत पशु है मद मार धर्त्ता ॥१२॥

लो भोजनार्थ सहसा बस भाग जाते,
साधर्मि से कलह भी कर भात खाते।
विद्वेषपूर्ण रखते मुनि सन्त से ह,
वे दूर ही श्रमण हो शिव पथ से हे ॥१३॥

निन्दा परोक्ष परकी करता बनाता,
दोषी, प्रदत्त बिन दान स्वय गहाता।
निर्ग्रन्थ लिग जिसने बस बाह्य धारा,
सो चोर सा श्रमण हे नहि साम्य धारा ॥१४॥

हे खोदते अवनि को चलते दिखाते,
हे दोडते उछलते गिर भाग जाते।
ईर्यामयी समिति धारक, ना कहाते,
होते नही श्रमण वे पशु ही कहाते ॥१५॥

हिसादि जन्य विधि बध, नही गिनाता,
खोदे धरा तरुलता दल को गिराता।
हे छेदता श्रमण हो तरु के गणो को,
हो, साम्य हीन, धरता पशु के गुणो को ॥१६॥

दोषावरोप करता मुनि सज्जनों मे,
आसक्त रात दिन है महिला जनो मे।
सम्यक्त्व ज्ञान गुण से अति दूर होता,
होता नही श्रमण वो पशु मूढ होता ॥१७॥

हे धारते परम स्नेह असयतों मे,
किवा विमुग्ध निज शिष्य सुसंयतो मे।
आचार से विनय से च्युत हो रहे है,
होते नही श्रमण वे पशु तो रहे है ॥१८॥

पूर्वोक्त दुर्गुण लिए मुनि सयतो मे,
सत् सघ मे रह रहा गुणधारियो मे ।
होता विशारद जिनागम मे तथापि,
होता नही श्रमण भावविहीन पापी ॥१९॥

विश्वास नारिजन मे रखता, दिलाता,
सम्यक्त्व ज्ञान व्रत भी उनको सिखाता ।
पार्श्वस्थ से अधिक निद्य रहा तथापि,
होता नही श्रमण वद्य रहा कुपापी ॥२०॥

आहार लेत व्यभिचारिणि के यहाँ हे,
प्रशसा करे स्तुति करे उसकी अहा है ।
वे बाल अज्ञ निज भाव-विहीन पापी,
होते नही श्रमण, लिग धरे तथापि ॥२१॥

यो लिग प्राभृत रहा मुनिलिग प्यारा,
सर्वज्ञ ने यह कहा हमको सुचारा ।
जो भी इसे यतन से यदि पाल पाता,
औचित्य ! स्वीय परमोत्तम धाम जाता ॥२२॥

- दोहा -

नग्न मात्र बाहर बना, भीतर भरी कषाय,
शिव सुख पाता वह नही, बसता नही अकाय ॥१॥

बाहर-भीतर एकसा, यथा जात जिन लिग ।
दर्पण सम शुचि यदि बना, वह नर बने अलिग ॥२॥

शील पाहुड़

उत्फुल्ल लाल पद पद्म भले निराले,
हैं वीर के विमल नेत्र विशाल प्यारे ।
मै वन्दना कर उन्हे त्रय योग द्वारा,
हूँ शील प्राभृत सुनो कहता सुचारा ॥१॥

ये ज्ञान शील नहिं आपस में विरोधी,
ऐसा कहे जिन सुधारक पूर्ण बोधि ।
जो शील से रहित जीवन है बिताते,
जो ज्ञान को विषय सेवन से मिटाते ॥२॥

श्रद्धा समेत निज पावन ज्ञान पाना,
सद्भावना स्वयम् की अविराम भाना ।
पंचाक्ष के विषय से मन को छुडाना,
दुर्लभ्यपूर्ण क्रमश सब ये सुजाना ॥३॥

हा ! वासना विषय की जब लौं रखेगा,
विज्ञान को न नर वो तब लौ लखेगा ।
पचाक्ष के विषय मे यदि लीन होता,
ना पूर्व बद्ध विधि को मति हीन होता ॥४॥

जो मूढ, ज्ञान बिन चारित ढो रहा है,
निर्ग्रन्थ साधु, दृग के बिन हो रहा है ।
आतापनादितप संयम ना निभाना,
सो सर्व ही तप निरर्थक ही कहाता ॥५॥

सम्यक्त्व शुद्ध धर शोभित हो रहा है,
विज्ञान संग दृढ चारित ढो रहा है ।
निर्ग्रन्थ संयम समेत, तपे, सहाता,
हो अल्प भी तप महाफल है दिलाता ॥६॥

कोई सुजान कर ज्ञानन को तथापि,
सभोग लीन नर है मतिमन्द पापी ।
है झूलते विषय मे अति फूलते है,
वे मूढ चार गति मे चिर घूमते है ॥७॥

विज्ञान जान निज भाव समेत सारे,
योगी विरक्त विषयादिक को विसारे ।
मूलोत्तरादि गुण ले तपते सुहाते,
शका न चार गति तोड स्वाधाम जाते ॥८॥

जैसा सुहाग-लवणोदक लेप द्वारा,
होता विशुद्धतम भासुर स्वर्ण प्यारा ।
वैसा हि ज्ञान जल से यह आतमा है,
होता विशुद्धतम है परमातमा है ॥९॥

ज्ञानी भला बन गया मद धारता है,
वो मूढ कापुरुष हा न विचारता है ।
देखो अत विषय मे रम मान होता,
दोषी वही, न उसका वह ज्ञान होता ॥१०॥

सम्यक्त्व दर्शन लिए तपते तपस्वी,
विज्ञान आचरण मे रमते यशस्वी ।
चारित्र-शुद्ध बनता उनका स्वत है,
निर्वाण लाभ मिलता उनको अत है ॥११॥

पा शुद्ध दर्शन सुरक्षित शील वाले,
चारित्र को सुदृढ से, नहि ढील पाले ।
भोगादि से बहुत दूर विरक्त होते,
निर्वाण पा नियम से भव मुक्त होते ॥१२॥

रागी गृही तदपि वो पथ पा सकेगा,
सम्यक्त्व-प्राप्त जिसको शिव जा सकेगा।
उन्मार्ग का पथिक ना सुख इष्ट पाता,
निस्सार ज्ञान उसका अति कष्ट पाता ॥१३॥

सद्ज्ञान शीलव्रत को यदि न निभाता,
दुस्शास्त्र का कुमत का यदि गीत गाता।
होगा अनेक विध आगम ज्ञान वाला,
आराधना-रहित दूषित ज्ञान शाला ॥१४॥

शोभे युवा सुभग भासुर-देह-धारी,
सत्-शील से रहित हैं यदि है विकारी।
है गर्व रूप-धन का करता तथापि,
निस्सार व्यर्थ उसका वह जन्म पापी ॥१५॥

वैशेषिकादि व्यवहार सुमानता है,
औ न्याय के विषद शास्त्र सुजानता है।
होता विशारद जिनागम में तथापि,
सत्शील उत्तम रहा सबमे अपापी ! ॥१६॥

जो भव्य शील गुण मण्डितनाथ होते,
है पूजते सुर उन्हें नत माथ होते।
वे प्रेम पात्र तक भी श्रुत पारगामी,
होते नहीं जगत में गत-शील, कामी ॥१७॥

हो वृद्ध हो स्वतन से कुबड़े भले हो,
हो जॉत पॉत कुलहीन निरे गले हो।
सत्शील-गीत जिनका मन गा रहा है,
मानुष्य जीवित अभी उनका रहा है ॥१८॥

अस्तेय सत्य, दम, जीवदया, सुप्यारी,
औ ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह दु-ख हारी ।
सम्यक्त्व, ज्ञान, तप भव्य सुनो सयाने,
है शील के सकल ये परिवार माने ॥१९॥

है शील ही विमल सत् पथ ही सही है,
है ज्ञान शुद्ध शुचि दर्शन भी वही है ।
पचाक्ष के विषय का रिपुशील ही है,
सोपान, मोक्ष घर का, सुख झील भी है ॥२०॥

सर्पादिको विषधरो त्रस स्थावरो को-
भी मारते विषय, ये विष ना सबो को ।
है वस्तुत विषय दारुण दु ख हाला,
है छोडता विबुध ही इसको निहाला ॥२१॥

जो एक बार विष सेवन हा ! करेगा,
तो एक बार वह जीवन मे मरेगा ।
धिक्कार है विषय सेवन जो करेगा,
सो बार-बार भव कानन मे मरेगा ॥२२॥

पचाक्ष के विषय में मन जो लगाना,
हो नारकी नरक मे अति दु-ख पाना ।
तिर्यञ्च हो मनुज हो दु-ख ही उठाना,
हो हीन देव दिवि मे अपमान पाना ॥२३॥

जैसा कि शुष्क तृण को यदि हो उठाना,
हे ! भव्य ! द्रव्य तब क्या पडता लगाना ?
त्यो विज्ञ, शील तप से मन पूर्ण जोडे,
हाला लखे विषय को खल भाँति छोडे ॥२४॥

लो अर्ध गोल समगोल सुडौल प्यारे,
ज्यों अंग अंग भर में लसते निराले ।
हो प्राप्त उत्कृष्ट सुदेह, तथापि भाई,
शोभे तभी कि जब शील धरे सुहाई ॥२५॥

दु:शास्त्र को पढ़ कुधी कुमतानुगामी
पंचाक्ष के विषय मे रत मूढ़ कामी ।
संसार में भटकते परको भ्रमाते,
जैसे कि नित्य भ्रमते घटि यन्त्र भाते ॥२६॥

रागी हुए विषय के विषयी बने थे,
बाँधे कुकर्म दल को पर मे सने थे,
काटे कृतार्थ मुनि ये उनको गुणो से ।
शीलो सुसंयम तपो मुनि के व्रतो से ॥२७॥

पूरा भरा रतन से जलधी तथापि,
ज्यों शोभता सलिल से सुन मूढ पापी ।
दानादि रत्न विनयादि तपादि ढोता,
पै शील से विलसता मुनि मुक्ति जोता ॥२८॥

गो श्वान गर्दभ तथा पशु आदिकों को,
होता विमोक्ष नहि है महिला जनों को ।
देखो जरा तुम सुनो ! अयिभव्य श्रोता,
धारे करे पुरुष ही पुरुषार्थ चौथा ॥२९॥

ज्ञानी बना विषय लोलुप पूर्ण पापी,
मानो ! विमोक्ष मिलता उसको तथापि ।
क्यों ? वो भला नरक सात्यकि पुत्र जाता,
तू ही बता जबकि था दस पूर्व ज्ञाता ॥३०॥

आत्मा सुशील बिन, केवल ज्ञान द्वारा,
होता विशुद्ध, यदि यो बुधने पुकारा ।
तो क्यो नही विमल शुद्ध हुआ प्रमाता,
वो रुद्र भी यदपि था दश पूर्व ज्ञाता ॥३१॥

जो नारकीय दुख वेदन झेलते हैं,
आसक्त हो विषय मे नहि झूलते है ।
आ, श्वभ्र से पद गहे अरहन्त का है,
है वर्धमान मत यो मत सन्त का है ॥३२॥

हो शील, मोक्ष पद की मिलती सुधा है,
भाई, अतीन्द्रिय अनश्वर सम्पदा है ।
प्रत्यक्ष ज्ञान दृग पा जिन यों बताया,
सर्वज्ञ हो विविध बोध हमे सुनाया ॥३३॥

सम्यक्त्व वीर्य तप चारित ज्ञान प्यारे,
आचार पच निज आतम के पुकारे ।
ये पूर्व बद्ध विधि को क्षण मे जलाते,
ज्यो वायु औ अनल कानन को जलाते ॥३४॥

हो दूर भी विषय से मुनि दक्ष सारे,
ध्यानाग्नि से विधि जला मन-अक्ष-मारे ।
सत् शील से विनय से तप से लसे है,
वे सिद्ध सिद्धगति मे बस जा बसे है ॥३५॥

लावण्य पूर्ण तन मन शील वाला,
है शोभता श्रमण जीवन वृक्ष प्यारा ।
सो शील मंडित, शुभाश्रय हो इसी का,
फैले वितान गुण का जग मे उसी का ॥३६॥

सद्ध्यान दर्शन तथा शुचि ज्ञान प्यारा,
ओ वीर्य के बिन नही यह योग सारा।
सम्यक्त्व दर्शन बिना नहि बोधि होता,
है जैन शासन यही सुन भव्य श्रोता ॥३७॥

साराभिभूत, जिनके, मत को गहे है,
भोगादि भी तज तपोधन भी हुए है।
है शील के सलिल से मन को धुलाते,
वे मोक्ष धाम सुख को अनिवार्य पाते ॥३८॥

मूलोत्तरादि गुण से विधि को घटाया,
पा साम्य दुःख सुख मे मन को धुलाया।
लो चार घाति रज को फलतः उडाया,
आराधना, वन जिनेन्द्र हमे, दिखाया ॥३९॥

निर्ग्रन्थ रूप शुचि दर्शन युक्त होना,
सम्यक्त्व है जिनप मे, शुभ भक्ति होना।
सो शील है विषय के प्रति राग ना हो,
वो "ज्ञान" कौन कब है इनके बिना हो ? ॥४०॥

- दोहा -

मणियो मे वर नील ज्यो, मुनिगण गण मे शील।
शील बिना ना शिव धरो, शील करो मत ढील ॥१॥

शील बिना ना ज्ञान हो, ज्ञान बिना ना शील।
ज्ञान निहित है शील मे, निहित ज्ञान मे शील ॥२॥

भूल क्षम्य हो

लेखक कवि मै हूँ नही, मुझ मे कुछ नहि ज्ञान ।
त्रुटियाँ होवे यदि यहाँ, शोध पढे धीमान् ॥१॥

गुरु-स्तुति

तरणि ज्ञानसागर गुरो, तारो मुझे ऋषीश ।
करुणाकर करुणा करो, कर से दो आशीष ॥२॥

कुन्दकुन्द को नित नमॅ, हृदय-कुन्द खिल जाय ।
परम सुगधित महक मे, जीवन मम घुल जाय ॥३॥

समय-समय पर समय मे, सविनय समता धार ।
सकल सग सबध तज, रम जा, सुख पा सार ॥४॥

भव, भव भववन भ्रमित हो, भ्रमता-भ्रमता काल ।
बीता अनन्त वीर्य, बिन, बिनसुख बिन वृषसार ॥५॥

पर पद, निज पद जान, तज पर पद, भज निजकाम ।
परम पदारथ फल मिले, पल-पल जप निज नाम ॥६॥

मोक्ष-मार्ग पर तुम चलो, दुख मिट, सुख मिल जाय ।
परम सुगधित ज्ञान की, मृदुल कली खिल जाय ॥७॥

तन मिला तुम तप करो, करो कर्म का नाश
रवि शशि से भी अधिक है, तुम मे दिव्य प्रकाश ॥८॥

विषय-विषम विष है सुनो ! विष सेवन से मौत
विषय कषाय विसार दो, स्वानुभूति सुख स्रोत ॥९॥

स्थान एवं समय-परिचय

नमन मनोरम क्षेत्र है, नैनागिरि अभिराम ।
जहाँ विचरते सुर सदा, ऋषि मन ले विश्राम ॥१॥

वर्ण गगन गति गंध का, दीपमालिका योग ।
पूर्ण हुआ अनुवाद है, ध्येय मिटे भव रोग ॥२॥

नियमसार

मूल नियमसार (प्राकृत)

रचनाकार आचार्य कुदकुद स्वामी

पद्यानुवाद आचार्य विद्यासागर

नियमसार

मंगलाचरण

सन्मति को मम नमन हो मम मति सन्मति होय ।
सुरनर पशु गति सब मिटे गति पंचमगति होय ॥१॥

कुन्द कुन्द को नित नमूँ हृदय कुन्द खिल जाय ।
परम सुगन्धित महक मे जीवन मम घुल जाय ॥२॥

तरणि ज्ञान सागर गुरो तारो मुझे ऋषीश ।
करुणाकर करुणा करो करसे दो आशीष ॥३॥

चन्दन, चन्दर चान्दनी से जिन धुनि अतिशीत ।
उसका सेवन मैं करूँ मन वच तन करनीत ॥४॥

नियमसार, का मै करूँ पद्यमयी अनुवाद ।
मात्र प्रयोजन यह रहा मोह मिटे परमाद ॥५॥

वसंततिलका-छन्द

सच्चे अनन्त दृग ज्ञान स्वभाव धाता,
वे वीर है जिन जिन्हे शिर मै नवाता ।
भाई तुम्हे नियम सार सुनो सुनाता,
जो केवली व श्रुतकेवलि ने कहा था ॥१॥

वैराग्य से विमल केवल बोध पाया,
सन्मार्ग-मार्ग-फल को जिनने बताया ।
सन्मार्ग तो परम-मोक्ष-उपाय प्यारा,
निर्वाण ही फल रहा जिसका निराला ॥२॥

जो भी रहा नियम से करतव्य सत्ता,
सोही रहा नियम दर्शन ज्ञान वृत्ता
मिथ्यात्व आदि विपरीतन को मिटाने,
संयुक्त "सार" पद है सुन तू सयाने ॥३॥

है मोक्ष का नियम सत्य उपाय साता,
निर्वाण ही फल रहा इसका सुहाता
प्रत्येक का यह जिनागम-गीत गाता,
ज्ञानादि रत्न त्रय रूप हमें दिखाता ॥४॥

लो ! आप्त-आगम-सुतत्त्वन मे जमाना,
श्रद्धा, नितान्त समदर्शन लाभ पाना ।
हो दोष-रोष-मल से अति दूर सारे,
निर्दोष, कोष-गुण के वह आप्त प्यारे ॥५॥

ये स्वेद खेद मद मृत्यु विमोह खारे,
उद्वेग नीद भय विस्मय जन्म सारे ।
औ रोग रोष रति राग जरा क्षुधा रे,
चिन्ता तृषादिक सदोष जिनेश टारे ॥६॥

निश्शेष दोष बिन शोभित हो रहे है ।
कैवल्यज्ञान दृग वैभव ढो रहे है ॥
सिद्धान्त मे परम आतम वे कहाते ।
दोषी कदापि परमात्मपना न पाते ॥७॥

पूर्वापरा सकल दोष विहीन प्यारा,
जो पूज्य आप्त मुख से निकला निहाला ।
सोही जिनागम रहा गुरुदेव गाते
तत्त्वार्थ वे कथित आगम मे सुहाते ॥८॥

नाना निजीय गुण पर्यय-माल धार,
थे जीव पुद्गल-ख धर्म अधर्म काल ।
जो शोभिते जगत मे स्वयमेव सारे,
''तत्त्वार्थ वे कहत है जिनदेव प्यारे ॥९॥

है जीव लक्षण रहा उपयोग भाता,
है ज्ञान दर्शनमयी द्विविधा कहाता ।
''ज्ञानोपयोग'' वह भी द्विविधा निराला,
भाई स्वभावमय और विभाव शाला ॥१०॥

होता अतीन्द्रिय स्वभावज ज्ञान प्यारा,
जो नित्य ''केवल'' न ले पर का सहारा ।
सत् ज्ञान औ वितथ ज्ञान विभाव बाना,
दोनो मिटे मिलत कैवल का ठिकाना ॥११॥

सत् ज्ञान भी मति श्रुतावधि तीन, चौथा,
सिद्धान्त मान्य मन पर्यय ज्ञान होता ।
अज्ञान भी त्रिविध है जिन है बताते,
जो मत्यज्ञान कुश्रुतावधि ना सुहाते ॥१२॥

हे मित्र ! दर्शनमयी उपयोग होता,
द्वेधा, स्वभावपन और विभाव ढोता ।
होता अतीन्द्रिय स्वभावज एक प्यारा,
कैवल्य दर्शन न ले परका सहारा ॥१३॥

होता विभावमय दर्शन भी त्रिधा है,
चक्षू अचक्षु अवधी सुन तू मुधा है ।
पर्याय दो रहित कर्म उपाधि से है,
वे है स्वभावमय, युक्त सुखादि से है ॥१४॥

तिर्यञ्च नारक नरामररूप सारी,
पर्याय ये बस विभावमयी हमारी ।
पर्याय जो रहित कर्म उपाधि से है,
वे है स्वभावमय, युक्त सुखादि से है ॥१५॥

ये कर्म-भोग मय भूमिज भेद से है
होते मनुष्य द्विविधा युत खेद से है
है सप्त ही नरक की मिलती मही है
तो सप्तधा, समझ नारक भी वही है ॥१६॥

होते चतुर्दश विधा पशु नित्य रोते,
भाई चतुर्विध सुरा सुर सर्व होते ।
विस्तार चूँकि इनका यदि जानना है
तो "लोक भाग" जिन आगम बाचना है ॥१७॥

भोक्ता निजातम रहा चिरकाल से है,
कर्त्ता कुकर्म-जड का व्यवहार से है ।
भाई अशुद्धनय से भवराह राही,
रागादि को करत भोगत आतमा ही ॥१८॥

है द्रव्य दृष्टिवश आतम भिन्न न्यारा,
पूर्वोक्त भाव-दल का नहिं लव सहारा।
पर्याय दृष्टिवश तो स्वपरावलम्बी,
किंवा नितान्त निरपेक्ष निजावलम्बी ॥१९॥

दो भेद "स्कन्ध" 'अणु' पुद्गल के पिछानो,
है स्कन्ध भेद छह दो अणु के सु जानो।
है कार्य रूप अणु कारण रूप दूजा,
ये चर्म चक्षु अणु की करती न पूजा ॥२०॥

है स्थूल-स्थूल फिर स्थूल व स्थूल-सूक्ष्म,
औ सूक्ष्म-स्थूल पुनि सूक्ष्म सुसूक्ष्म-सूक्ष्म।
भू नीर आतप हवा विधि-वर्गणायें,
ये है उदाहरण स्कन्धन के गिनाये ॥२१॥

भू-शैल-काष्ठ तन आदिक जो दिखाते,
ये स्थूल-स्थूलमय स्कन्ध सभी कहाते।
घी दूध तेल जल पुद्गल की दशायें,
ये है उदाहरण स्थूलन के सुनाये ॥२२॥

उद्योत छाँव रवि आतप आदि सारे,
ये स्थूल-सूक्ष्म मय स्कन्धन के पिटारे।
नासादि के विषय जो बिन रूप प्यारे,
है सूक्ष्म-स्थूलमय स्कन्ध गये पुकारे ॥२३॥

जो भी बने, बन सके विधिवर्गणाएं,
वे सूक्ष्म स्कन्ध सब है गुरु देव गाये।
जो शेष स्कन्ध इनसे विपरीत सारे,
वे सूक्ष्म-सूक्ष्म इस सार्थक नाम धारे ॥२४॥

भू आदि धातु इनका जब हेतु होता,
सो मित्र कारणमयी परमाणु होता ।
पै कार्य रूप परमाणु रहा वही है,
जो स्कन्ध के क्षरण से उगता सही है ॥२५॥

जो द्रव्य होकर न इन्द्रिय गम्य होता,
आद्यन्त मध्य खुद ही त्रय रूप होता ।
हो खण्ड खण्ड न कभी अविभाज्य भाता,
ऐसा कहे जिन यही परमाणु गाथा ॥२६॥

दो स्पर्श एक रस गन्ध सवर्ण ढोता,
धारी स्वभाव गुण का परमाणु होता ।
स्पर्शादि नैक गुण का जग स्पष्ट होता,
धारी विभाव गुण का अणु स्कन्ध होता ॥२७॥

पर्याय एक रखती पर की अपेक्षा,
स्वापेक्ष एक रहती परकी उपेक्षा ।
स्कधात्मिका परिणती जु विभावशाली,
द्रव्यात्मिका परिणती स्व स्वभाव वाली ॥२८॥

है "द्रव्य" निश्चय तथा परमाणु भाता,
पै स्कन्ध द्रव्य व्यवहार तथा कहाता ।
सो स्कन्ध नैक अणु से बनता इसी से,
है द्रव्य रूप व्यपदेश धरे सदी से ॥२९॥

जीवादि द्रव्य भरके अवकाश दाता,
आकाश-द्रव्य वह सार्थक नाम पाता ।
औ जीव पुद्गल की स्थिति वा गती मे,
होते अधर्म पुनिधर्म निमित्त ही मे ॥३०॥

होता त्रिधा समय आवलि हार द्वारा,
है काल, या त्रिविध है व्यवहार वाला ।
संख्यात आवलि व सिद्ध प्रमाण वाला,
है भूतकाल सुन सांप्रत भाविवाला ॥३१॥

तो जीव से व जड़ से वह काल भावी,
होता अनन्त गुण सांप्रत काल भाई ।
त्रैलोक्य के प्रति प्रदेशन पे सुहाते,
एकैक काल अणु "निश्चय" वीर गाते ॥३२॥

रे काल का वह अनुग्रह तो रहे हैं,
जीवादि द्रव्य परिवर्तित हो रहे हैं ।
जो जीव पुद्गल बिना अवशेष सारे,
धारे स्वभावमय पर्यय द्रव्य प्यारे ॥३३॥

जीवादि द्रव्य दल जो बिन काल सारा,
है अस्तिकाय उस सार्थक नाम वाला ।
है काय का सरल अर्थ बहु प्रदेशी,
है जैन शासन कहे सुन तू हितैषी ॥३४॥

होता मितामित अनन्त प्रदेश वाला,
सो मूर्त पुद्ग्ल इसी व्यपदेश वाला ।
आत्मा अधर्म फिर धर्म असंख्य देशी,
विश्वास धार इन मे दृढ तू हितैषी ॥३५॥

होता उसी तरह लोक असंख्य देशी,
हो सर्व मे गुरु अलोक अनन्त देशी ।
पै काल कायपन को धरता नही है,
वो एक देश धरता अणु सा सही है ॥३६॥

ये पाँच द्रव्य नभ धर्म अधर्म काल,
औ जीव शाश्वत अमूर्तिक है निहाल ।
है मूर्त पुद्गल सदा सुन भव्य प्यारे,
है जीव चेतन, अचेतन शेष सारे ॥३७॥

कर्मादि के उदय या क्षय से मिले है,
पर्याय और गुण वे मुझसे निरे है ।
प्रामण्य ध्येय निज आतम मात्र प्यारा,
जीवादि बाह्य सब हेय अपात्र न्यारा ॥३८॥

ये हर्षभाव नय निश्चय से नही है,
जीवात्म मे नहि विषाद अहर्ष ही है ।
मानापमान मय भाव विभाव से है,
है दूर जीव निज स्थान स्वभाव से है ॥३९॥

ना जीव मे वह रहा स्थिति बन्ध स्थाना,
ना जीव मे यह रहा अनुभाग स्थाना ।
लो बन्ध ही जब कि निश्चय मे नही है,
तो जीव मे उदय स्थान कहाँ ? नही है ॥४०॥

ना हो क्षयोपशम भाव स्वभाव स्थाना,
होते न औपशमिकादि स्वभाव स्थाना ।
होते न औदयिक क्षायिक भाव स्थाना,
ये जीव के सुन सुनिश्चय से न बाना ॥४१॥

ससार सक्रमण ना कुल योनियाँ है,
ना रोग शोक गति जाति विजातियाँ है ।
ना मार्गणा न गुणथानन की दशाये,
शुद्धात्म मे जनन मृत्यु जरा न पाये ॥४२॥

आत्मा मदीय गत दोष अयोग योग,
निश्चित है निडर है निखिलोपयोग ।
निर्मोह एक नित है सब संग त्यागी,
है देह रहित निर्मम वीतरागी ॥४३॥

संतोष कोप गत शेष अटोप ज्ञानी,
निःशल्य शाश्वत दिगम्बर है अमानी ।
नीराग निर्मद नितान्त प्रशान्त नामी,
आत्मा मदीय नय निश्चय से अकामी ॥४४॥

संस्थान संहनन ना कुछ ना कलाई,
ना वर्ण स्पर्श रस गंध विकार भाई ।
ना तीन वेद नहिं भेद अभेद भाता,
शुद्धात्म में कुछ विशेष नहीं दिखाता ॥४५॥

आत्मा सचेतन अरूप अगंध प्यारा,
अव्यक्त है अरस और अशब्द न्यारा ।
आता नहीं पकड़ में अनुमान द्वारा,
संस्थान से रहित है सुख का पिटारा ॥४६॥

वे मुक्त हैं जनन मृत्यु तथा जरा से,
सामान्य आठ गुण से लसते सदा से ।
जैसे विशुद्ध सब सिद्ध प्रशान्त प्यारे,
वैसे विशुद्ध नय से भवधारि सारे ॥४७॥

शुद्धात्म सिद्ध अविनश्वर है विदेही,
लोकाग्र पे स्थित अतीन्द्रिय ज्ञान देही ।
ये सिद्ध के सदृश है जग जीव सारे,
तू देख शुद्धनय से मद को हटा रे ॥४८॥

पर्याय ये विकृतियाँ व्यवहार से है,
जो भी यहाँ दिख रहे जग मे तुझे है ।
पै सिद्ध के सदृश है जग जीव सारे,
तू देख शुद्ध नय से मद को हटा रे ! ॥४९॥

लो ! पूर्व मे कथितभाव विभाव सारे,
है हेय द्रव्य परकीय स्वभाव टारे ।
आत्मीय द्रव्य वह अन्तर तत्व प्यारा,
आदेय है शुचि निरतर साधु-शाला ॥५०॥

श्रद्धान हो वितथ आशय हीन प्यारा,
सम्यक्त्व है वह जिनागम में पुकारा ।
समोह विभ्रम ससशय हीन सारा,
सज्ज्ञान है सुखसुधारस पूर्ण प्याला ॥५१॥

श्रद्धान जो चलमलादि अगाढता से,
हो शून्य, दर्शन धरो अविलम्बता से ।
आदेय हेय वह क्या ? यह बोध होना
सज्ज्ञान है उर धरो बनलो सलोना ॥५२॥

सम्यक्त्व का वह जिनागम मात्र साता,
होता निमित्त, अथवा जिन शास्त्र ज्ञाता ।
पै अतरग वह हेतु सुनो सदा ही,
होता क्षयादिक कुदर्शनमोह का ही ॥५३॥

सम्यक्त्व ज्ञान भर से शिव पथ होता
ऐसा नही चरित भी अनिवार्य होता ।
होता सुनिश्चयमयी व्यवहारवाला,
चारित्र भी द्विविध है सुन लो सुचारा ॥५४॥

होते सुनिश्चय नयाश्रित वे अनूप,
चारित्र और तप निश्चय मोक्ष्य कूप ।
पै व्यावहार नय आश्रित ना स्वरूप,
चारित्र और तप वे व्यवहार रूप ॥५५॥

जो जीव स्थान कुल मार्गण-योनियो मे,
पा जीव बोध, करुणा रखता सबो मे ।
आरम्भत्याग उनकी करता न हिंसा,
वो साधु-भाव व्रत आदिम है अहिंसा ॥५६॥

सम्मोह रोष रति मे नहि बोलता है,
भाषा असत्य मन से बस छोडता है ।
होता द्वितीय व्रत सत्य महा उसी का,
साधु वही स्तवन मे करता उसी का ॥५७॥

लो ! ग्राम मे नगर मे वन मे विहार,
साधु करे पर न ले पर द्रव्य भार ।
वे स्तेय भाव तक भी मन मे न लाते,
अस्तेय है व्रत यही जिन यो बताते ॥५८॥

स्त्री रूप देखकर भी मन मे न लाना,
सभोग भाव उनसे मन को हटाता ।
है ब्रह्मचर्य व्रत, मैथुन भाव रीता
किवा रहा कि जिससे मुनिलिंग जीता ॥५९॥

जो अतरग बहिरग निसग होता,
भोगाभिलाष बिन चारित सार जोता ॥
है पाँचवा वृत परिग्रह त्याग पाता,
पाता स्वकीय सुख तू दुख क्यो उठाता ॥६०॥

हो मार्ग प्रासुक, न जीव विराधना हो,
जो चार हाथ पथ पूर्ण निहारना हो ।
ले स्वीय कार्य कुछ, पै दिन मे चलोगे,
ईर्यामयी समिति को तब पा सकोगे ॥६१॥

साधू करे न परनिंदन आत्म शंसा,
बोले न हास्य-कटु कर्कश पूर्ण भाषा ।
स्वामी करे न विकथा, मितमिष्ट बोले,
भाषामयी समिति मे नित ले हिलोरे ॥६२॥

जो दोष मुक्त कृत कारित सम्मती से ।
हो शुद्ध, प्रासुक यथागम-पद्धती से ॥
सागार अन्न दिन मे यदि दान देता ।
ले साम्य धार, मुनि एषण पाल लेता ॥६३॥

जो देख भाल, कर मार्जन पिच्छिका से,
शास्त्रादि वस्तु रखना गहना दया से ।
आदान निक्षिपण है समिती कहाती,
पाले उसे सतत साधु, सुखी बनाती ॥६४॥

एकान्त हो विजन विस्तृत, ना विरोध,
सम्यक् जहाँ बन सके त्रस जीव शोध ।
ऐसा अचित्त थल पे मल मूत्र त्यागे,
व्युत्सर्ग रूप-समिति गह साधु जागे ॥६५॥

रागादि का अशुभ भाव प्रणालियो का,
जो त्याग, कालुषमयी दुखनालियो का ।
श्री वीर के समय में व्यवहारवाली,
मानी गई कि मन गुप्ति यही शिवाली ॥६६॥

स्त्री राज की अशन चोरन की कथायें,
जो पाप तापमय है जिनसे व्यथाएँ ।
है पूर्ण त्याग उनका वच गुप्ति भाति,
या पापरूप वच त्याग गुप्ती बनाती ॥६७॥

जो देह की छिदन भेदन की क्रियाएँ,
किंवा सभी हलन चालन की क्रियाएँ ।
पाती विराम मुनि साधक की दशा में,
सो काय गुप्ति, धरते मिटती निशायें, ॥६८॥

रागादि का शमन जो मन से कराना,
गुप्ति वही मनस की प्रभुका बताना ।
हिंसा मयी वचन त्याग, व मौन बाना,
गुप्ती वही वचन की सुन तू निभाना ॥६९॥

हिंसादि की विरति हो तन गुप्ति होती ।
वाणी कहे जिनप की मन मैल धोती ॥
पावे विराम सब ही तन की क्रियाये
कायोतसर्ग अथवा तन गुप्ति पाये ॥७०॥

है घाति कर्म दल को जिनने नशाया,
पाये विशुद्ध गुण केवल ज्ञान पाया ।
चौतीस सातिशय मंडित है सुहाते,
वे ही विशिष्ट "अरिहन्त" सुधी बताते ॥७१॥

सामान्य आठ गुण पाकर जो लसे है,
लोकाग्र मे स्थित शिवालय मे वसे है ।
दुष्टाष्ट कर्ममय बन्धन को मिटाया,
वे सिद्ध, सिद्ध-पद मे शिर मै नवाया ॥७२॥

आचार पच परिपूर्ण सदा निभाते,
पंचेन्द्रि रूप गज के मद को मिटाते ।
गभीर नीरनिधि से गुणधीर भाते,
आचार्य वे समय में युग वीर गाते ॥७३॥

नि·स्वार्थ भाव धरते कुछ भी न लेते,
शस्त्रानुसार वह भी उपदेश देते ।
सारे परीषह सहे बलवान होते,
धारी स्वरत्नत्रय के उवझाय होते ॥७४॥

आराधना स्वयम की करते सदा है,
व्यापार लौकिक तजे जड सपदा है ।
निर्ग्रन्थ, ग्रन्थ बिन शोभत वीतमोही,
वे साधु, पूज उनको भवभीत मोही ॥७५॥

ऐसी निरन्तर रहे शुभभावनायें,
तो भेद रूप वह चारित्र हाथ आये ।
चारित्र निश्चय नयाश्रित जो कहाता,
आगे यहीं तुम सुनो उसको सुनाता ॥७६॥

तिर्यञ्च भाव नही नारक भाव मैं हूँ,
ना देव भाव नही मानव भाव मै हूँ ।
मै वस्तुत न इनको करता कराता,
कोई करे, न उनका अनुमोद दाता ॥७७॥

मैं जीव थान नही हूँ गुण थान ना हूँ,
भाई सुनो विविध मार्गण थान ना हूँ ।
मै वस्तुत· न इन को करता कराता,
कोई करे, न उनका अनुमोद दाता ॥७८॥

मै हूं नही युवक बालक भी नहीं हूँ,
हूं वृद्ध भी न उन कारण भी नही हूँ ।
मै वस्तुत: न इनको करता कराता,
कोई करे, न उनका अनुमोद दाता ॥७९॥

मै रोष कोप नहिं राग कभी नही हूँ,
मोही नही व उन कारण भी नही हूं ।
मै वस्तुत: न उन को करता कराता,
कोई करे, न उनका अनुमोद दाता ॥८०॥

मै क्रोध रूप नहि हूँ मद मान ना हूँ,
माया न लोभ उन कारणवान ना हूं ।
मैं वस्तुत. न इनको करता कराता,
कोई करे, न उनका अनुमोद दाता ॥८१॥

यो भेद ज्ञानमय भानु उदीयमान,
मध्यस्थ भाव वश चारित हो प्रमाण ।
ऐसे चरित्र गुण मे पुनि पुष्टि लाने,
होते प्रतिक्रमण आदिक ये सयाने ॥८२॥

रागादि भाव मलको मन से हटाता,
हो निर्विकल्प मुनि जो निज ध्यान ध्याता ।
सारी क्रिया वचन की तजता सुहाता,
सच्चा प्रतिक्रमण-लाभ वही उठाता ॥८३॥

आराधनामय सुधारस नित्य पीते,
छोडे विराधन, सभी अघसे सुरीते ।
वे ही प्रतिक्रमण हैं गुरु यों बताते,
तल्लीन क्योंकि बन जीवन हैं बिताते ॥८४॥

साधू अनाचरण पूरण छोडते है,
स्वाचार मे स्वयम को दृढ जोडते है ।
वे ही प्रतिक्रमण है गुरु है बताते,
तल्लीन क्योकि रह जीवन है बिताते ॥८५॥

उन्मार्ग में विचरते मन को हटाते,
सन्मार्ग मे स्वयम को थिर है लगाते ।
वे ही प्रतिक्रमण है गुरु है बताते,
तल्लीन क्योंकि रह जीवन है बिताते ॥८६॥

जो शल्य भाव तजते वह साधु होते,
नि शल्य भाव भजते अघ आशु खोते ।
वे ही प्रतिक्रमण है गुरु है बताते,
तल्लीन क्योंकि बन जीवन हैं बिताते ॥८७॥

भाई अगुप्तिमयभाव स्वयं बिसारे,
औ तीन गुप्तिमय भाव अहो सुधारे ।
साधू "प्रतिक्रमण" वे गुरु है बताते,
तल्लीन क्योंकि बन जीवन है बिताते ॥८८॥

जो आर्त रौद्रमय ध्यान सदा विसारे,
पै धर्म शुक्ल मय ध्यान सदा सुधारे ।
वे ही प्रतिक्रमण साधु प्रशान्त प्यारे,
तल्लीन क्योंकि रह जीवन को सुधारे ॥८९॥

जीवात्म ने अमित बार अरे सदीसे,
मिथ्यात्व आदि सब भाव किए रुचि से ।
सम्यक्त्व आदि समभाव किए नहीं है,
शुद्धात्म दर्शन अवश्य किए नही है ॥९०॥

मिथ्यात्व-ज्ञान-व्रत की जड काटता है,
सस्कार भी न उनका रख डालता है ।
सम्यक्त्व ज्ञान व्रत को उर मे बिठाता,
सोही प्रतिक्रमण लाभ अहो उठाता ॥९१॥

है सर्व श्रेष्ठ निज आत्म पदार्थ साता,
हो आत्म मे स्थित यती विधि को नाशता ।
सच्चा प्रतिक्रमण आतम ध्यान होता,
तू आत्म ध्यान कर, केवल ज्ञान होता ॥९२॥

सध्यान रूप सर मे अवगाह पाता,
साधू-स्वदोष मल को पल मे धुलाता ।
सद्ध्यान ही विषमकलमष पातको का,
सच्चा प्रतिक्रमण है घर सद्‌गुणो का ॥९३॥

जो भी प्रतिक्रमण नामक शास्त्र बोले,
भाई प्रतिक्रमण की विधि नेत्र खोले ।
जानो यथाविधि उसे उस भावना को
भाना प्रतिक्रमण है तज वासना को ॥९४॥

हो निर्विकल्प तज जल्प विकल्प सारे,
साधू अनागत शुभाशुभ भाव टारे ।
शुद्धात्म-ध्यान सर में डुबकी लगाते,
वे प्रत्याख्यान गुण धारक है कहाते ॥९५॥

मेरा स्वभाव वर केवल ज्ञान वाला,
कैवल्य दर्शन मदीय स्वभाव शाला ।
कैवल्य शक्ति मम मात्र स्वभाव ऐसा,
ज्ञानी करे सुखद चिंतन को हमेशा ॥९६॥

लो आतमा न तजता निज भाव को है,
स्वीकारता न परकीय विभाव को है,
दृष्टा बना निखिल का परिपूर्ण ज्ञाता,
मै ही रहा वह, सुधी इस भाति गाता ॥९७॥

स्थित्यादि भेदवश बध चतुर्विधा है,
आत्मा परन्तु उससे लसता जुदा है ।
"सो मै" निरतर विचार करे उसी मे,
ज्ञानी निवास कर नित्य रहे निजी में ॥९८॥

मै तो मदीय ममता द्रुत त्यागता हूँ,
निर्मोह भाव गहता नित जागता हूँ ।
आत्मा मदीय अवलोकन एक मेरा,
छोडूँ सभी पर, रहूँ बन मै अकेला ॥९९॥

विज्ञान मे चरण मे दृग सवरों मे,
औ प्रत्यख्यान गुण मे लसता गुरो ! मै ।
शुद्धात्म की परम पावन भावना का,
है पाक मात्र सुख है, दुख वासना का ॥१००॥

है जीव एक मरता जग मे मुधा है,
है एक ही जनमता रहता सदा है ।
हो एकका मरण भी जब अन्त वेला,
हो मुक्त, कर्मरज से तब भी अकेला ॥१०१॥

पूरा भरा दृग निबोध मयी सुधा से,
मै एक शाश्वत सुधाकर हूँ सदा से ।
संयोग जन्य सब शेषविभाव मेरे,
रागादि भाव जितने मुझसे निरे रे ॥१०२॥

जो भी दुराचरण है मुझ मे दिखाता,
वाक्काय से मनस से उसको मिटाता ।
नीराग सामयिक को त्रिविधा करूँ मे,
तो बार बार तन धार नही मरूँ मै ॥१०३॥

ना वैरभाव मम हो जग में किसी से,
हो साम्य-भाव त्रस स्थावर से सभी से ।
आशा सभी तरह की तजना कहाती,
सच्ची समाधि अनुपाधि-मुझे सुहाती ॥१०४॥

साधू कषाय तज इन्द्रिय जीत होता
संसार के दुखन से भयभीत होता ।
सारे परीषह सहे नित अप्रमादी,
हो प्रत्यख्यान उसका गुरु ने बताती ॥१०५॥

यो जीव भेद, विधि भेदन का सुचारा,
अभ्यास है कर रहा जग को विसारा,
सो सयती नियम से बस धार पाता,
है प्रत्यख्यान पद को भव पार जाता ॥१०६॥

नो-कर्म-कर्म बिन शाश्वत है सुहाता,
होता विभावगुण पर्यय हीन साता ।
ऐसी निजात्म छवि का यदि ध्यान ध्याता,
आलोचना श्रमण वो उरधार पाता ॥१०७॥

आलोचना अविकृति करुणा निराली,
आलुचना विमलभाव विशुद्धि प्यारी ।
आलोचना चउविधा जिन शास्त्र गाता,
जो भी धरे परम पावन पात्र पाता ॥१०८॥

आत्मीय सर्व परिणाम विराम पावे,
वे साम्य के सदन मे सहसा सुहावे,
डूबो लखो बहुत भीतर चेतना मे,
आलोचना बस यही जिन देशना मे ॥१०९॥

ऐसा अपूर्व बल को वह धारता है,
आमूल कर्ममय वृक्ष उखाडता है ।
स्वाधीन साम्य-मय भाव स्वकीय होता,
आलुंचना वह रहा भजनीय होता ॥११०॥

आत्मा स्वकर्म दल से अति भिन्न न्यारा,
हीराभ शुभ्र गुणधाम अखिन्न प्यारा ।
माध्यस्थ भाव धर यो मुनि भा रहा हो,
सिद्धान्त में अविकृती-करुणी रहा वो ॥१११॥

मायाभिमान - मदमोह - विहीन होना,
है भाव शुद्धि जिससे शिव सिद्धि लोना ।
आलोक से सकल-लोक अलोक देखा,
सर्वज्ञ ने सदुपदेश दिया सुरेखा ॥११२॥

जो भाव है समिति शील व्रतों यमों का,
प्रायश्चिता वह सही दम इन्द्रियो का ।
ध्याऊँ उसे विनय से उर मे बिठाता ।
होऊँ अतीत विधि से विधि खो विधाता ॥११३॥

क्रोधादि भाव, जिनका क्षय होय कैसा,
साधू विचार करता दिन रैन ऐसा ।
आत्मीय शुद्धात्म चितन लीन होता,
प्रायश्चिता वह सही अघ हीन होता ॥११४॥

माया हरो परम आर्जव भाव द्वारा,
औ मान मर्दन, सुमार्दव भाव द्वारा
मेटो प्रलोभ धर तोष, क्षमा सुधा से,
क्रोधाग्नि शान्त कर दो अविलम्बता से ॥११५॥

शुद्धात्म के सतत चितन में लगा है
शुद्धात्म ज्ञान करता निज मे जगा है
शुद्धात्म बोध कर जीवन है बिताता
प्रायश्चिता नियम से उसका कहाता ॥११६॥

भारी तपश्चरण साधु महार्षियों का,
प्रायश्चिता वह सभी गुणधारियो का ।
क्या क्या कहूँ बहुत भी कहना वृथा है,
है सर्व कर्म-क्षय हेतु यही कथा है ॥११७॥

जो भी शुभाशुभ कुकर्म युगो युगों में,
बांधा हुवा विगत में कि भवो भवो मे ।
सम्यक् तपश्चरण से मिट पूर्ण जाता,
प्रायश्चिता इसलिए तप ही कहाता ॥११८॥

आत्मा विनष्ट करता पर भाव सारा,
लेके स्वकीय गुणका रुचि से सहारा ।
सर्वस्व है इसलिए निजध्यान प्यारा,
लेऊँ अत. शरण मैं निजकी सुचारा ॥११९॥

छोडी विभावमय राग प्रणालि की भी,
चेष्टा शुभाशुभ सभी वचनावली की ।
पश्चात् स्वकीय शुचि ध्यान लगा रहा है,
वो साधु का “नियम” मित्र सगा रहा है ॥१२०॥

जो ध्यान आत्म गुण का करता निहाला,
हो निर्विकल्प तज जल्प विकल्प-माला ।
देहादि से बन निरीह स्व मे बसा है,
कायोतसर्ग मुनि का वह है लसा है ॥१२१॥

वाक् योग-रोक जिसने मन-मौन धारा,
औ वीतराग बन आतम को निहारा ।
होती समाधि परमोत्तम ही उसी की,
पूजूँ उसे शरण और नही किसी की ॥१२२॥

हो सयमी नियम औ तप धारता है,
औ धर्म शुक्लमय ध्यान निहारता है ।
होती समाधि परमोत्तम हो उसी की,
पूजूँ उसे शरण और नही किसी की ॥१२३॥

मासोपवास करना वनवास जाना,
आतापनादि तपना तनको सुखाना ।
सिद्धान्त का मनन मौन सदा निभाना,
ये व्यर्थ है श्रमण के बिन साम्य बाना ॥१२४॥

आरम्भ दम्भ तज के त्रय गुप्ति पाले,
है पचइन्द्रियजयी समदृष्टि वाले ।
स्थायी सुसामयिक है उनमे दिखाता,
यों केवली परम शासन गीत गाता ॥१२५॥

जो साधुराज जड जंगम जतुवो में,
सौभाग्यमान धरता समता सबो मे ।
स्थायी सुसामयिक है उसमे दिखाता,
यो केवली परम शासन गीत गाता ॥१२६॥

हो सयमी नियम मे यम मे बिठाता,
जो आत्म को पतन से अघ से उठाता ।
स्थायी सुमामयिक है उसमे दिखाता,
यो केवली परम शासन गीत गाता ॥१२७॥

ये राग द्वेष मुनि मे रहते तथापि,
उत्पन्न वे न करते विकृती कदापि ।
स्थायी सुसामयिक है उनमे दिखाता,
यों केवली परम शासन गीत गाता ॥१२८॥

लो आर्त रौद्रमय ध्यान नही लगाता,
पै साधु नित्य उनको मन से हटाता ।
स्थायी सुसामयिक है उसमे दिखाता,
यो केवली परम शासन गीत गाता ॥१२९॥

लो पाप पुण्य मय भाव कभी न लाता,
पै साधु नित्य उनको मन से हटाता ।
स्थायी सुसामयिक है उसमें दिखाता,
यो केवली-परम शासन गीत गाता ॥१३०॥

जो शोक को अरति को रति-हास्य त्यागे,
हो नित्य दूर उनसे मुनि नित्यजागे ।
स्थायी सुसामयिक है उसमे दिखाता,
यो केवली-परम-शासन गीत गाता ॥१३१॥

ग्लानी त्रिवेद भयको मुनि त्यागता है,
हो दूर नित्य उनसे नित जागता है ।
स्थायी सुसामयिक है उसमे दिखाता,
यो केवली परम शासन गीत गाता ॥१३२॥

जो धर्म-शुक्लमय ध्यान सदा लगाता,
होता न दूर उनसे यह साधु गाथा।
स्थायी सुसामयिक है उसमे दिखाता।
यो केवली परमशासन गीत गाता ॥१३३॥

सम्यक्त्व ज्ञान व्रत की मुनि श्रावको से,
जो भक्ति हो नियम-सयम धारियो से।
निर्वाण-भक्ति उनकी वह है कहाती,
वाणी जिनेन्द्र कथिता इस भाँति गाती ॥१३४॥

सन्मार्ग पे विचरते मुनि साधुवो के,
भेदोपभेद गुण जान यतीश्वरो के।
होना विलीन उनकी शुचि भक्ति मे है,
निर्वाण-भक्ति वह भी व्यवहार मे है ॥१३५॥

जो साधु मोक्ष पथ पे निजको चलाता,
निर्वाण-भक्ति-भर मे मन को लगाता।
स्वाधीन पूर्ण-गुण-युक्त निजी दशा को,
पाता नितान्त, कर नष्ट निरी निशाको ॥१३६॥

रागादि मोह परिणामन को मिटाने,
जो साधु उद्यत निरतर है सयाने।
वे योग-भक्ति सर मे डुबकी लगाते,
पै अन्य साधु किस भाँति सुयोग पाते ॥१३७॥

सकल्प जल्प सविकल्पन से छुडाता,
हो निर्विकल्प निजको निजमे सुलाता,
सो योग-भक्ति सर मे डुबकी लगाता।
पै अन्य साधु किस भाँति सुयोग पाता ? ॥१३८॥

मिथ्यात्व भाव परिणाम विभाव त्यागे,
हो जैन तत्त्व भर में रत आप जागे।
सो योग, भाव निज का अभिराम साता,
ऐसा वसन्त तिलका अविराम गाता ॥१३९॥

तीर्थकरों वृषभ-सन्मति आदिकों ने,
की योग-भक्ति यम संयम धारकों ने।
पश्चात बने शिव बने शिव धामवासी
धारो अतः तुम सुयोग बनो उदासी ॥१४०॥

जो इन्द्रियों व मन के वश में न आता,
आवश्यका वह रहा मुनि कार्य साता।
जो योग है करम नाशक है कहाता
निर्वाण मार्ग वह आगम यों बताता ॥१४१॥

हो अन्य के वश नहीं अवशी कहाता
आवश्यका, अवश का वह कार्य भाता।
है युक्ति का उचित अर्थ उपाय होता।
ऐसा अवश्यक सयुक्तिक सिद्ध होता ॥१४२॥

वैभाविकी अशुभ आशय बो रहा है,
जो अन्य के, श्रमण हो, वश हो रहा है।
आवश्यका न उसका वह कार्य होता,
अध्यात्म के विषय में अनिवार्य सोता ॥१४३॥

जो साधु, भाव शुभ में रत हो रहा है,
भाई नितान्त पर के वश हो रहा है।
आवश्यका न उसका वह कार्य होता,
अध्यात्म के विषय में अनिवार्य सोता ॥१४४॥

पर्याय द्रव्य-गुण मे मन है लगाता,
वो भी यती वश रहा पर के कहाता ।
मोहान्धकार परिपूर्ण भगा रहे है,
ऐसा कहे श्रमण जो कि जगा रहे है ॥१४५॥

सध्यान मे श्रमण अन्तरधान हो के,
रागादि भाव पर है पर भाव रोके ।
वे ही निजातमवशी यति भव्य प्यारे,
जाते अवश्यक कहे उन कार्य सारे ॥१४६॥

भाई तुझे यदि अवश्यक पालना है,
होके समाहित स्व मे मन मारना है ।
हीराभ सामयिक मे द्युति जाग जाती,
सम्मोह तामस निशा झट भाग जाती ॥१४७॥

जो साधु ना हि षडवश्यक पालता है,
चारित्र से पतित हो सहता व्यथा है ।
आत्मानुभूति कब हो यह कामना है,
आलस्य त्याग षडवश्यक पालना है ॥१४८॥

जो साधु सादर अवश्यक धारता है,
सो अतरातम रहा मन मारता है ।
पै साधु हो नहि अवश्यक पालता है,
सो है अवश्य बहिरातम, बालता है ॥१४९॥

जो अतरग बहिरग-प्रजल्पधारी,
होना नितात बहिरातम है विकारी ।
सम्पूर्ण जल्प भर मे अति दूर होता,
सो अतरातम रहा सुख पूर होता ॥१५०॥

सद्धर्म-शुक्लमय ध्यान-सुधा सुपीता,
सो अतरात्म सुख जीवन नित्य जीता ।
पे साधु हो तदपि ध्यान नहि लगाता,
होता नितातबहिरात्म वही कहाता ॥१५१॥

सामायिकादि षडवश्यक नित्य पाले,
जो साधु निश्चय सुचारित भव्य धारे ।
तो वीतराग शुचि चारित मे यमी वो,
शीघ्रताशीघ्र फलत. नित उद्यमी हो ॥१५२॥

आलोचना, नियम आदिक मूर्तमान,
भाई प्रतिक्रमण शाब्दिक प्रत्यख्यान ।
स्वाध्याय से सफल है गुरु है बताते,
होते विकल्पमय भेद चरित्र ताते ॥१५३॥

सवेग-दारक यथोचित शक्तिवाले,
ध्यानाभिभूत षडवश्यक साधु पाले ।
ऐसा नही यदि बने उर धार लेना,
श्रद्धान तो दृढ रखो अघ मार देना ॥१५४॥

सामायिकादि विधि की कर लो परीक्षा,
सो जैन शास्त्र कहता बन के निरीच्छा,
योगी बने इसलिये मन मौन धारो,
साधो स्वकार्य नित पै अघ को न धारो ॥१५५॥

ससार मे विविध कर्म प्रणालियाँ है,
ये जीव भी विविध औ उपलब्धियाँ है ।
भाई अत मत विवाद करो किसी से,
साधर्मि से अनुज से परसे अरी से ॥१५६॥

ज्यो वित्त को खरचता निज पोषणो मे,
भोगी सुभोग करता दिन रात्रियो मे,
पा नित्यज्ञान निधि, नित्य नितात ज्ञानी,
त्यो भोगता न रमता पर मे अमानी ॥१५७॥

जो भी पुराण पुरुषोत्तम रे हुये है,
सामायिकादि षडवश्यक वे किये है ।
सप्तादि पूर्ण गुणथान पुन चढे है,
है केवली बने फिर हम से बढे है ॥१५८॥

ये केवली प्रभु सदा व्यवहार नाते,
है जानते सकल विश्व निहार पाते,
पै केवली नियम से निजको अमानी,
है जानते निरखते पर को न ज्ञानी ॥१५९॥

ये ज्ञान दर्शन स्वय जिन के, बली के,
हो एक साथ सुन मित्र सु केवली के ।
होते प्रभाकर प्रकाश प्रताप जैसे,
देते सभी सदुपदेश अपाप ऐसे ॥१६०॥

होता सदैव वह ज्ञान परप्रकाशी,
होता नितात वह दर्शन स्वप्रकाशी ।
आत्मा तथा स्वपर का रहता प्रकाशी,
ऐसा कहो यदि अरे ! विषयाभिलाषी ! ॥१६१॥

तू ज्ञान को परप्रकाशक ही कहेगा,
तो ज्ञान से पृथक दर्शन ही रहेगा ।
औ अन्य-द्रव्यगत दर्शन भी नही है,
यो पूर्व के कथन मे मिलता सही है ॥१६२॥

आत्मा मनो पर प्रकाशक ही रहा हो,
तो आत्म से पृथक दर्शन ही रहा वो ।
औ अन्य-द्रव्य गत दर्शन भी नही है,
यो पूर्व के कथन मे मिलता सही है ॥१६३॥

ज्यो ज्ञान, मात्र व्यवहार तथा प्रकाशी,
त्यो अन्य का यह सुदर्शन भी प्रकाशी ।
ज्यो आत्म मात्र व्यवहार तया प्रकाशी,
त्यो अन्य का वह सुदर्शन भी प्रकाशी ॥१६४॥

ज्यो ज्ञान, मात्र व्यवहार तया प्रकाशी,
त्यो हो सुदर्शन अत निज का प्रकाशी ।
ज्यो आत्म निश्चयतया निज का प्रकाशी,
त्यो हों सुदर्शन अत निज का प्रकाशी ॥१६५॥

ये केवली नियम से निज को निहारे,
ना देखते सकल लोक अलोक सारे ।
कोई मनो यदि कहे इस भाति भाई,
क्या दोष दूषण रहा इस मे बुराई ॥१६६॥

ससार के अमित मूर्त अमूर्त सारे,
ये द्रव्य चेतन अचेतन आदि प्यारे ।
जो जानता निज समेत इन्हे सुचारा,
प्रत्यक्ष है वह अतीन्द्रिय ज्ञान सारा ॥१६७॥

पूर्वोक्त द्रव्य दल जो दिखता अपारा,
नाना गुणो विविध-पर्यय का पिटारा ।
जाने सही न उसको युगपत् कदापि,
होता परोक्ष वह ज्ञान कहें अपापी ॥१६८॥

है देखते सकललोक अलोक सारे,
ये केवली पर नही निज को निहारे ।
कोई मनो यदि कहे इस भाति भाई,
क्या दोष दूषण रहा इस मे बुराई ॥१६९॥

है ज्ञान आतम सरूप सदा सुहाता,
आत्मा अत बस निजातम ज्ञान पाता ।
माना न ज्ञान निज आतम को जनाता,
तो आत्म से पृथक ज्ञान बना, न पाता ॥१७०॥

तू आत्म को समझ ज्ञान अनूप प्याला,
औ ज्ञान को समझ आतम रूपवाला ।
ये ज्ञान दर्शन अत स्वपर-प्रकाशी,
सदेह के बिन, कहे मुनि सत्यभाषी ॥१७१॥

इच्छा किये बिन सुकेवल ज्ञान धारी,
है जानते निरखते सब को अघारी ।
होते अत सब अबधक निर्विकारी,
रोते यहाँ सतत बधक ये विकारी ॥१७२॥

सकल्पपूर्वक कभी कुछ बोलना है,
सो बध हेतु, पय मे विष घोलना है ।
सकल्प-मुक्त कुछ बोलत साधु ज्ञानी,
होता न बध उनको सुन भव्य प्राणी ॥१७३॥

इच्छा समेत कुछ भी वह बोलना है,
लो बध हेतु, पय मे विष घोलना है ।
इच्छा विमुक्त कुछ बोलत साधु ज्ञानी,
होता न बध उनको सुन भव्य ! प्राणी ॥१७४॥

इच्छा बिना सहज से उठ बैठ जाते,
है केवली इसीलिये नही बंध पाते ।
मोही बना जगत ही विधि बन्ध पाता,
ऐसा वसन्ततिलका वह छन्द गाता ॥१७५॥

है आयु का प्रथम तो अवसान होता,
निश्शेष कर्म दल का फिर नाश होता,
पश्चात् सुशीघ्र शिव वे पल मे लसेगे,
लोकाग्र पे स्थित शिवालय मे वसेगे ॥१७६॥

दुष्टाष्ट कर्म तजते सकलावभाशी,
होते अछेद्य परमोत्तम ना विनाशी
ज्ञानादि अक्षय चतुष्टय रूप धारे,
वार्धक्य जन्म मृति-मुक्त सुसिद्ध सारे ॥१७७॥

आकाश से निरवलम्ब अबाध प्यारे,
वे सिद्ध है अचल नित्य अनूप सारे ।
होते अतीन्द्रिय पुनः भव मे न आते,
है पुण्य-पाप-विधि-मुक्त मुझे सुहाते ॥१७८॥

बाधा न जीवित जहाँ कुछ भी न पीडा,
आती न गन्ध दुख की सुखी की न क्रीडा ।
ना जन्म है मरण है जिस मे दिखाते,
निर्वाण जान वह है गुरू यो बताते ॥१७९॥

निद्रा न मोहतम विस्मय भी नहीं है,
ये इन्द्रियाँ जडमयी जिस मे नहीं हैं ।
होते कभी न उपसर्ग तृषा क्षुधा है,
निर्वाण मे सुखद बोधमयी सुधा है ॥१८०॥

चिता नही उपजती चिति मे जरा-सी,
नो कर्म भी नहि, नही वसु कर्म राशी ।
होते जहाँ नहि शुभाशुभ ध्यान चारो,
निर्वाण है वह, सुधी तुम यों विचारो ॥१८१॥

कैवल्य-बोध सुख दर्शन वीर्यवाला,
आत्मा प्रदेशमय मात्र अमूर्त शाला ।
निर्वाण मे निवसता निज नीति धारी,
अस्तित्व से विलसता जग आर्तहारी ॥१८२॥

निर्वाण ही परम सिद्ध रहा सुहाता,
या सिद्ध शुद्ध निर्वाण सदा कहाता ।
जो कर्म-मुक्त बनते अविराम जाते,
लोकाग्र लौ फिर सुसिद्ध विराम पाते ॥१८३॥

यो प्राणि पुद्गल, जहाँ तक धर्म होता,
जाते वहाँ नहि, जहाँ नहि धर्म होता ।
यो जीव की व जड की गति मे सहाई,
धर्मास्तिकाय बनता सुन भव्य भाई ॥१८४॥

हो शास्त्र भक्तिवश शास्त्र सही बनाया,
मैंने यहाँ 'नियम' के फल को दिखाया ।
पूर्वापरा यदि विरोध यहाँ दिखावे,
शास्त्रज्ञ दूर कर नित्य पढें पढावें ॥१८५॥

ईर्ष्याभिभूत जन सुदर पथ की भी,
निंदा करे शरण ले अघ ग्रंथ की भी ।
भाई कभी न उनसे अनुकूल होना,
आस्था जिनेश पथ की मत भूल खोना ॥१८६॥

पूर्वापरा-सकल दोष-विहीन प्यारा,
होता जिनागम अपार अगाध न्यारा।
मैने स्वकीय-शुचिभाव-निमित्त भाया,
जाना उसे 'नियमसार' पुन. रचाया ॥१८७॥

इति शुभं भूयात्

भूल क्षम्य हो

लेखक कवि मै हूँ नही मुझ मे कुछ नहिं ज्ञान।
त्रुटियाँ होवें यदि यहाँ शोध पढे धीमान ॥१॥

स्थान एवं समय परिचय

रहा तपोवन नियम से रम्य क्षेत्र थूबौन
जहाँ ध्यान मे उतरता मुनि का मन हो मौन ॥२॥

शांति नाथ जिन नाथ है दर्शन से अति हर्ष।
धारा वर्षायोग उन चरणन में इस वर्ष ॥३॥

गात्र गगन गति गंध की भाद्र वदीशित तीज।
पूर्ण हुआ यह ग्रन्थ है भुक्ति मुक्ति का बीज ॥४॥

मंगल कामना

विस्मृत मम हो विगत सर्व विगलित हो मद मान।
ध्यान निजातम का करूँ करूँ निजी गुण गान ॥१॥

सादर शाश्वत सारमय समय सार को जान
गट गट झट पट चाव से करूँ निजामृत पान ॥२॥

रम रम शम दम में सदा मत रम पर मे भूल ।
रख साहस फलत मिले भव का पल मे कूल ॥३॥

चिदानन्द का धाम है ललाम आतमराम ।
तन मन से न्यारा दिखे मन पे लगे लगाम ॥४॥

निरा निरामय नव्य मै नियत निरंजन नित्य
यह केवल नियमित जपूँ तजूँ विषय अनित्य ॥५॥

मन वच तन मे सौम्यता धारो वन नवनीत
सार्थक तब जप तप बने प्रथम बनो भवभीत ॥६॥

रति रति पति से मति बने गति पंचम गति होय
कारण सादृश कार्य हो समाधान मति होय ॥७॥

सार यही जिनशास्त्र का सादर समता धार
रहा बंध पर राग है विराग भवदधि पार ॥८॥



द्वादशानुप्रेक्षा

मूल द्वादशानुप्रेक्षा (प्राकृत)

रचनाकार आचार्य कुंदकुंद स्वामी

पद्यानुवाद आचार्य विद्यासागर

द्वादशानुप्रेक्षा

मंगलाचरण (प्रतिज्ञा वाक्य)

उत्कृष्ट ध्यान बल से भव बध तोडा,
वे सिद्ध, ढोक उनको द्वय हाथ जोडा।
चौबीस तीर्थंकर की कर वदना मै,
पश्चात् कहूँ सुखद द्वादश भावनाएँ ॥१॥

ससार, लोक, वृष, आस्रव, निर्जरा है,
अन्यत्व और अशुचि, अध्रुव, सवरा है।
एकत्व औ अशरणा अवबोधना ये,
भावे सुधी सतत द्वादश भावनाये ॥२॥

अनित्यानुप्रेक्षा

सर्वोत्तमा भवन वाहन यान सारे,
ये आसनादि शयनादि प्यारे।
माता पिता स्वजन सेवक दास दासी,
राजा प्रजाजन सुरेश विनाश राशी ॥३॥

लावण्य-लाभ बल यौवन रूप प्यारा,
सौभाग्य इन्द्रिय सतेज अनूप सारा।
आरोग्य सग सब में पल आयुवाले,
हो नष्ट ज्यों सुरधनु बुध यो पुकारे ॥४॥

होके मिटे कि बलदेव नरेन्द्र का भी,
नागेन्द्र का सुपद त्यो न सुरेन्द्र का भी
ये मेघ दृश्य सम या जलके बबूले,
विद्युत् सुरेश धनु से नसते समूले ॥५॥

लो ! क्षीर नीर सम, मिश्रित, काय यों ही,
जो जीव से दृढ बधा नश जाय मोही !
भोगोपभोग अघ कारण द्रव्य सारे,
कैसे गले ध्रुव रहे व्यय शील वाले ॥६॥

है वस्तुत नर सुरासुर वैभवो से,
आत्मा रहा पृथक भिन्न भवो भवों से ।
ऐसा करो सतत चिंतन, जी रहा है,
आत्मा वही अमर शाश्वत ही रहा है ॥७॥

अशरणानुप्रेक्षा

घोडे बडे रथ खड़े मणि मत्र हाथी,
विद्या दवा सकल रक्षक सग साथी ।
पै मृत्यु के समय मे जग मे हमारे,
होगे नही शरण ये बुध यो विचारे ॥८॥

है स्वर्ग-दुर्ग-सुरवर्ग सुभृत्य होता,
है वज्र शस्त्र जिसका वह इन्द्र होता ।
ऐरावता गज गजेन्द्र सवार होता,
ना ! ना ! उसे शरण अतिम बार होता ॥९॥

अश्वादि पूर्ण बल है चतुरंग सेना,
दो सात रत्न निधियाँ नव रग लेना ।
चक्रेश को शरण ये नहि अन्त मे हो,
खा जाय काल लखते लखते इन्हे वो ॥१०॥

लो रोग से जनन मृत्यु जरादिकों से,
रक्षा निजात्म निजकी करता अघो से ।
त्रैलोक मे इसलिए निज आतमा ही,
है वस्तुत शरण लो अघ खातमा ही ॥११॥

ये पांच इष्ट अरहंत सुसिद्ध प्यारे,
आचार्य वर्य उवझाय सुसाधु सारे ।
आत्मा निजात्ममय ही करता इन्हे है,
आत्मा अतः शरण ही नमता मुझे है ॥१२॥

सद्ज्ञान और समदर्शन भी लखे है,
सच्चा चरित्र तप भी जिस में बसे है ।
आत्मा वही नियम से समझो कहाता,
आत्मा अतः शरण हो मम प्राण त्राता ॥१३॥

एकत्वानुप्रेक्षा

आत्मा यही विविध कर्म करे अकेला,
ससार मे भटकता चिर से अकेला ।
है एक ही जनमता मरता अकेला,
है भोगता करम का फल भी अकेला ॥१४॥

है एक ही विषय की मदिरा सदा पी,
औ तीव्र लोभवश हो, कर पाप पापी ।
तिर्यंच को नरक की दुख योनियो मे,
भोगो स्व कर्म एक भवों भवो मे ॥१५॥

दे पात्र दान उस धर्म निमित्त आत्मा,
है एक ही करत पुण्य अये महात्मा ।
होता मनुष्य फलत दिवि देव होता,
पै एक ही फल लखे स्वयमेव ढोता ॥१६॥

उत्कृष्ट पात्र वह साधु अहो रहा है,
सम्यक्त्व से सहित शोभित हो रहा है ।
सम्यक्त्व धार इक देश व्रती सुहाता,
है पात्र मध्यम सुश्रावक ही कहाता ॥१७॥

सम्यक्त्व पा अविरती रहता सरागी,
होता जघन्य वह पात्र व पाप त्यागी,
सम्यक्त्व से रहित मात्र अपात्र जानो
भाई अपात्र अरु पात्र सही पिछानो ॥१८॥

वे भ्रष्ट है पतित, दर्शन भ्रष्ट जो है,
निर्वाण प्राप्त करते न निजात्म को है ।
चारित्र भ्रष्ट पुनि चारित ले सिजेगे,
पै भ्रष्ट दर्शनतया नहि वे सिजेगे ॥१९॥

मै हूँ विशुद्धतम निर्मम हूँ अकेला,
विज्ञान दर्शन सुलक्षण मात्र मेरा ।
एकत्व का सतत चितन साधु ऐसा,
आदेय मान करते रहते हमेशा ॥२०॥

अन्यत्वानुप्रेक्षा

माता पिता सुत सुता वनिता व भ्राता,
है जीव से पृथक है रखते न नाता ।
ये बाह्य मे सहचरी दिख भी रहे हैं,
मोहाभिभूत मदिरा नित पी रहे हैं ॥२१॥

स्वामी मरा मम, रहा मम प्राण प्यारा,
यो शोक नित्य करता जड ही विचारा ।
पै डूबता भव पयोनिधि मे निजी की,
चिता कभी न करता गलती यही की ॥२२॥

मै शुद्ध चेतन, अचेतन से निराला,
ऐसा सदैव कहता सम दृष्टिवाला,
रे देह नेह करना अति दु.ख पाना,
छोड़ो उसे तुम यही गुरु का बताना ॥२३॥

संसारानुप्रेक्षा

संसार पंच विध है दुख से भरा है,
है रोग शोक मृति जन्म जहाँ जरा है ।
जो मूढ गूढ निज को न निहारता है
ससार मे भटकता चिर हारता है ॥२४॥

ससार मे विषय पुद्गल मे अनेकों,
भोगे तजे बहुत बार नितान्त देखो ।
संसार द्रव्य परिवर्तन वो रहा है,
अध्यात्म के विषय मे जग सो रहा है ॥२५॥

ऐसा न लोक भर मे थल ही रहा हो,
तूने गहा ! न तन को क्रमशः जहाँ हो ।
छोटे बड़े धर सभी अवगाहनों को,
ससार "क्षेत्र" पलटे बहुशः अनेको ॥२६॥

उत्सर्पिणीव अवसर्पिणि की अनेकों,
कालावती वरतती अयि भव्य देखो ।
यों जन्म मृत्यु उनमें बहु बार पाये,
हो मूढ काल परिवर्तन भी कराये ॥२७॥

तूने जघन्य नरकायु लिए बिताये,
ग्रैवेयकांत तक अतिम आयु पाये ।
मिथ्यात्व धार भव के परिवर्तनों को,
पूरे किये बहु व्यतीत युगो युगों को ॥२८॥

लो सर्व कर्म स्थिति यों अनुभाग बंधो,
बाँधे प्रदेश विधि के अयि भव्य बधो !
मिथ्यात्व के वश हुए भव में भ्रमाये,
ऐसे अनत भव भावमयी बिताये ॥२९॥

स्त्री पुत्र मोह वश ही धन है कमाता,
पापी बना विषम जीवन है चलाता ।
तो दान धर्म तजता निज भूल जाता,
ससार मे भटकता प्रतिकूल जाता ॥३०॥

स्त्री पुत्र धान्य धन ये मम कोष प्यारे,
यो तीव्र लोभ-मद पी सब होश टारे ।
सद्धर्म से बहुत ही बस ऊब जाते,
मोही अगाध भव सागर डूब जाते ॥३१॥

मिथ्यात्व के उदय से जिन धर्म निंदा,
पापी सदैव करता नहिं आत्म निदा ।
जाता कुतीर्थ, व कुलिग कुधर्म माने,
ससार मे भटकता, सुन तू सयाने ॥३२॥

हो क्रूर जीव वध भी कर मॉस खाता,
पीता सुरा मधु-चखे तन दास भाता ।
पापी पराय धन स्त्री हरता सदा है
संसार मे गिर, सहे दुख आपदा है ॥३३॥

ससार मे विषय के वश जो रहेगा,
सो यत्न रात-दिन भी अघ का करेगा ।
मोहाधकार युत जीवन जी रहा है,
ससार मे भटकता "लघुधी रहा है ॥३४॥

दोनो निगोद चउथावर सप्त सप्त,
हैं लक्ष हो विकल इन्द्रिय है प्रयत्र ।
है वृक्ष लक्ष दश चौदह लक्ष मर्त्य,
चौरासि-लक्ष सब योनि सुजान मर्त्य ॥३५॥

मानापमान मिल जाय अलाभ होता,
होता कभी सुख कभी दुख लाभ होता।
होता वियोग विनियोग सुयोग होता,
संसार को निरख तू उपयोग जोता ॥३६॥

है कर्म के उदय से जग जीव सारे,
दिग् मूढ़ घोर भव कानन मे विचारे
संसार-तत्व नहि निश्चय से तथापि,
हे जीव मुक्त विधि से चिर से अपापी ॥३७॥

होता अतीत भवसे पद आत्म गाया,
आदेय-ध्येय वह जीव सदा सुहाता।
संसार दुःख सहता दिन रैन रोता,
ऐसा विचार वह केवल हेय होता ॥३८॥

लोकानुप्रेक्षा

जीवादि द्रव्य-दल शोभित हो रहा है,
है लोक स्वीकृत सुनो तुम वो रहा है।
पाताल-मध्य पुनि ऊर्ध्व प्रभेद द्वारा ॥
सो लोक भी त्रिविध है दुख का पिटारा ॥३९॥

नीचे जहाँ नरक, नारक नित्य रोते,
है मध्य मे जलधि द्वीप असंख्य होते।
है ऊर्ध्व मे स्वरग त्रेशठ भेदवाले,
लोकान्त मे परम मोक्ष, मुनीश पाले ॥४०॥

है एकतीस पुनिसात व चार दो है,
है एक एक छह यो क्रमवार जो हैं।
औ तीन बार त्रय है इक एक सारे,
ऋत्वादि ये पटल त्रेशठ है उजाले ॥४१॥

स्वर्गीय मर्त्य सुख हो शुभ से सुनो रे ।
शुद्धोपयोग बल से शिव हो गुणो रे ।
पाताल हो अशुभ से पशु या विचारो,
यो लोक चिंतन करो अघ को विसारो ॥४२॥

अशुच्यानुप्रेक्षा

पूरी ढकी चरम से बहु अस्थियो से,
काया बधी वलिपटी पल पेशियो से
कीडे जहाँ बिलबिला करते सदा है,
मैली घृणास्पद यही तन सपदा है ॥४३॥

वीभत्स है तन अचेतन है विनाशी,
दुर्गन्ध मांसमल का घर रूपराशी ।
धारा स्वभाव सड़ना गलना सदा ही,
ऐसा सुचिंतन करो शिव राह राही ॥४४॥

मज्जा व मांस रस रक्त व मेद वाला,
है मूत्र पीब कृमिधाम शरीर कारा ।
दुर्गन्ध है अशुचि चर्ममयी विनाशी,
जानो अचेतन अनित्य अरे विलाशी ॥४५॥

है कर्म से रहित है तन से निराला,
होता अनन्त सुखधाम सदा निहाला ।
आत्मा अचेतन निकेतन है अनोखा,
भा भावना सतत तू इस भांति चोखा ॥४६॥

आस्रवानुप्रेक्षा

मिथ्यात्व और अविरती व कषाय चारो,
औ योग आस्रव रहे इन को विसारो ।
ये पाच पाच क्रमश चउ तीन भाते,
सत् शास्त्र शुद्ध इनका शुचि गीत गाते ॥४७॥

एकान्त औ विनय औ विपरीत चौथा,
अज्ञान सशय करे निजरीत खोता ।
मिथ्यात्व यों नियम से वह पंचधा है,
हिसादि से अविरती वह पचधा है ॥४८॥

माया प्रलोभ पुनि मान व क्रोध चारो,
होते कषाय दुख दे, इनको विसारो ।
वाक्काय और मन ये त्रय योग होते,
वे सिद्ध योग बिन हो उपयोग ढोते ॥४९॥

होता द्विधा वह शुभाशुभ भेद द्वारा,
प्रत्येक योग समझो गुरु ने प्रकारा ।
आहार आदिक रही वह चार सज्ञा,
होता वही अशुभ है "मन" मान अज्ञा ॥५०॥

लेश्या सभी अशुभ जो प्रतिकूल बाना,
धिक्कार, इन्द्रिय सुखो नित झूल जाना ।
ईर्षा विषाद, इन को जिन शास्त्र गाता,
ये ही रहे अशुभ सो मन, दुःख दाता ॥५१॥

नौ नो कषायमय जो परिणाम होना,
संमोह रोष रति को अविराम ढोना ।
हो स्थूल सूक्ष्म कुछ भी जिन का बताना,
वे ही रहे अशुभ सो मन दुःख बाना ॥५२॥

स्त्री राज चोर अरु भोजन की कथाये,
माना बुरा वचन योग, करे व्यथा ये ।
औ छेदनादि वधनादि बुरी क्रियाये,
सो काय का अशुभ योग, यती बतायें ॥५३॥

पूर्वोक्त जो अशुभ भाव उन्हें विसारे,
छोडे तथा अशुभ द्रव्य अशेष सारे ।
हो संयमी समिति शील व्रतों निभाना,
जानो उसे शुभ रहा मन योग बाना ॥५४॥

बोलो वही वचन जो भव दु खहारी,
सो योग है वचन का शुभ सौख्यकारी ।
सद्देव शास्त्र गुरु पूजन लीन काया,
सो काय योग शुभ है जिन ईश गाया ॥५५॥

जो दु ख रूप जल जगम से भरा है,
ले दोष रूप लहरे लहरा रहा है ।
खाता, भवार्णव जहाँ यह जीव गोता,
है कर्म-आस्रव सहेतु सदीव होता ॥५६॥

ज्यो ही कुधी करम-आस्रव खूब पाता,
त्यो ही अगाध भव सागर डूब जाता ।
सद्ज्ञान मंडित क्रिया कर तू जरा से,
है मोक्ष का वह निमित्त परपरा से ॥५७॥

ज्यो ही कुधी करम-आस्रव खूब पाता,
त्यो ही अगाध भव सागर डूब जाता ।
जो आस्रवा वह क्रिया शिव का न हेतु,
ऐसा विचार कर नित्य नितान्त रे तू ॥५८॥

हो सामग्री वह क्रिया न परम्परा से,
निर्वाण हेतु तुम तो समझो जग से ।
संसार के गमन का वह हेतु होता,
है निज आस्रव हमें भव में डुबोता ॥५९॥

पूर्वोक्त आस्रव विभेद निरे निरे हैं,
आत्मा विशुद्ध नय से उनसे परे है ।
आत्मा सदा उभय आस्रव मुक्त ऐसा,
चिंते सभी तज प्रमाद सुधी हमेशा ॥६०॥

संवरानुप्रेक्षा

सम्यक्त्व का दृढ़ कपाट विराट प्यारा,
जो शून्य है चलमलादि अगाढ़ द्वारा ।
मिथ्यात्व रूप उस आस्रव द्वार को है,
जो रोकता जिन कहें जग सार सो है ॥६१॥

पाले मुनीश-मन पंच महाव्रतों को,
रोकें सभी अविरती मय-आस्रवों को
जो निष्कषाय मय पावन भाव-धारे,
रोकें कषाय मय आस्रव द्वार सारे ॥६२॥

औचित्य है कि शुभ योग विकास पाता,
सच स्वतः अशुभ योग विनाश पाता ।
शुद्धोपयोग, शुभयोगन को नशाता,
ऐसा वसततिलका यह छन्द गाता ॥६३॥

शुद्धोपयोग बल वो मिलता जिसे है,
तो धर्म शुक्लमय ध्यान मिले उसे है ।
है ध्यान हेतु विधि सवर का इसी से,
ऐसा करो सतत चिंतन भी रुचि से ॥६४॥

जीवात्म मे न वर सवर भाव होता,
वो तो विशुद्ध नय से शुचि भाव ढोता ।
आत्मा विमुक्त वर सवर भाव से रे !
ऐसा सुचितन सदा कर चाव से रे ॥६५॥

निर्जरानुप्रेक्षा

जो भी बधा पृथक हो विधि आतमा से,
सो निर्जरा जिन कहे निज की प्रभा से ।
हो सवरा जिस निजी परिणाम द्वारा,
हो निर्जरा वह उसी परिणाम द्वारा ॥६६॥

सो निर्जरा द्विविध, एक असयमी मे,
होती सभी गतिन मे इक सयमी मे ।
आद्या स्वकाल विधिका झरना कहाती,
दूजी तपश्चरण का फल रूप भाती ॥६७॥

धर्मानुप्रेक्षा

है धर्म ग्यारह तथा दश भेदवाला,
सम्यक्त्व से सहित है निज वेद शाला ।
सागार और अनगार जिसे निभाते,
पा श्रेष्ठ सौख्य जिन यो हमको बताते ॥६८॥

सद्दर्शना सुव्रत सामयकी सभक्ति
औ प्रौषधी सचित त्याग दिवाभिभुक्ति
है ब्रह्मचर्य व्रत सार्थक नाम पाता
आरभ सग अनुमोदन त्याग साता
उद्दिष्ठत्याग व्रत ग्यारह ये कहाते,
है एकदेश व्रत श्रावक के सुहाते ॥६९॥

प्यारी क्षमा मृदुलता ऋजुता सचाई,
आ शौच संयम धरो तप धार भाई ।
त्यागो परिग्रह अकिंचन गीत गा लो,
लो ! ब्रह्मचर्य सर में डुबकी लगा लो ॥७०॥

साक्षात्कार यदि हो उस में, खड़ा है,
जो क्रोध का जनक बाहर में अड़ा है ।
पै क्रोध-लेश तक भी मन में न लाते,
पाते क्षमा धरम वे मुनि हैं कहाते ॥७१॥

हूँ श्रेष्ठ जाति कुल में श्रुत में यशस्वी,
ज्ञानी सुशील अतिसुन्दर हूँ तपस्वी ।
ऐसा नहीं श्रमण हो मन मान लाते,
औचित्य ! वे "परम मार्दव धर्म" पाते ॥७२॥

कौटिल्य-छोड मुनि चारित पालता है,
हीराभ सा विमल मानस धारता है ।
सो तीसरा परम आर्जव धर्म पाता,
है अन्त में नियम से शिव शर्म पाता ॥७३॥

मिश्री मिले वचन वे रुचते सभी को,
संताप हो श्रवण से न कभी किसी को ।
कल्याण हो स्वपर का, मुनि बोलता है,
सो सत्य धर्म उसका दृग खोलता है ॥७४॥

भोगाभिलाष जिसने मन से हटाया,
वैराग्य भाव दृढ से निज में जगाया ।
ऐसा महा मुनिपना मुनि ही निभाता,
सो, शौच धर्ममय जीवन है बिताता ॥७५॥

जो पालता समिति इन्द्रिय जीतता है,
है योग-रोध करता, व्रत धारता है ।
ऐसा महा श्रमण जीवन जी रहा है,
सद्धर्म सयम-सुधा वह पी रहा है ॥७६॥

फोडा कषाय घट को, मन को मरोडा,
लो साधु ने विषय को विष मान छोडा ।
स्वाध्याय ध्यान बल से निज को निहारा,
पाया नितान्त उसने तप धर्म प्यारा ॥७७॥

वैराग्य धार भव भोग स्वदेह से वो,
देखा स्वको यदि सुदूर विमोह से हो ।
तो त्याग धर्म समझा उसने लिया है,
सदेश यो जगत को प्रभु ने दिया है ॥७८॥

जो अतरग बहिरग निसंग नगा,
होता दुखी नहि सुखी बस नित्य चंगा ।
निर्द्वन्द्व हो विचरता अनगार होता,
भाई वही वर अकिचन धर्म ढोता ॥७९॥

सर्वांग देख कर भी वनिता जनो के,
होते न मुग्ध उनमे मुनि हैं अनोखे ।
तो ब्रह्मचर्य व्रत धारक वे रहे है,
कन्दर्प-दर्प अपहारक वे रहे हैं ॥८०॥

सागार धर्म तज के अनगार होते,
शास्त्रानुसार यति के व्रतसार जोते ।
रीते रहे न शिव से अनिवार्य पाते,
यो धर्म चितन करो अयि ! आर्य तातैं ॥८१॥

सागार धर्म यति धर्म निरे निरे है,
आत्मा विशुद्ध नय से उनसे परे है।
मध्यस्थ भाव उनमे रखना इसी से,
शुद्धात्म चिंतन सदा करना रुची से ॥८२॥

सद् ज्ञान होय जिस भाँति उपाय द्वारा,
चिंता करे उस उपायन की सुचारा।
चिंता वही परम बोधि अहो कहाती,
सो बोधि दुर्लभ अतीव मुझे सुहाती ॥८३॥

जो भी क्षयोपशम ज्ञानन की छटाये,
हैं हेय कर्म वश लो उपजी दशाये।
आदेय मात्र निज आतम द्रव्य होता,
सद्ज्ञान सो यह सुनिश्चय भव्य होता ॥८४॥

होते असख्यतम लोक प्रमाण सारे,
मूलोत्तरादि विधि ये पर द्रव्य न्यारे।
आत्मा विशुद्धमय से निज द्रव्य भाता,
ऐसा जिनागम निरतर नित्य गाता ॥८५॥

ऐसा सुचिंतन जभी दिन रात होता,
आदेय हेय वह क्या वह ज्ञात होता।
आदेय हेय नहि निश्चय मे सयाने,
चिंता सुबोध मुनि सो भवकूल-पाने ॥८६॥

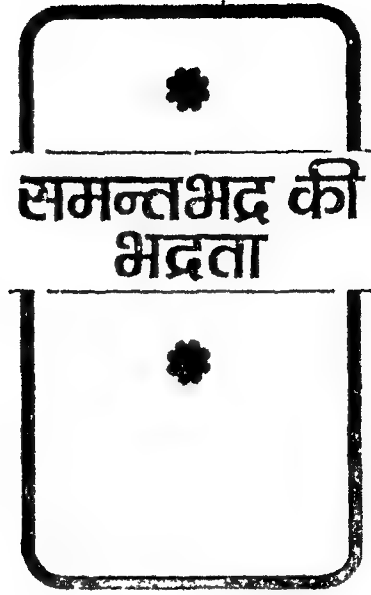
है वस्तुत. सकल-बारह भावनाये,
आलोचना सुखद शुद्ध समाधियाँ ये।
ये ही प्रतिक्रमण है बस प्रत्यख्याना,
भा भावना नित अत इनकी सयाना ॥८७॥

आलोचना सुसमता व समाधि पाले,
सच्चा प्रतिक्रमण का शुचिभाव भा ले ।
औ प्रत्यख्यान कर रे दिन रात भाई,
है चादनी क्षणिक तो फिर रात आई ॥८८॥

भा बार बार बस बारह भावनाये,
वे भूत मे शिव गये जिनभाव पाये ।
मै बार बार उनको प्रणमूँ त्रिसंध्या,
मेरा प्रयोजन यही तजदूँ अविद्या ॥८९॥

जो भी हुए विगत मे शिव और आगे,
होगे नितान्त पुरुषोत्तम और आगे ।
माहात्म्य मात्र वह द्वादश भावना का,
क्या अर्थ है अब सुदीर्घ प्ररूपणाका ॥९०॥

जो कुन्द कुन्द मुनि नायक ने निभाया,
है निश्चयादि व्यवहार हमे सुनाया ।
भाता विशुद्ध मन से इस को वही है,
निर्वाण प्राप्त करता शिव की मही है ॥९१॥



समन्तभद्र की भद्रता

मूल स्वयभू स्तोत्र (सस्कृत)

रचनाकार आचार्य समन्तभद्र स्वामी

पद्यानुवाद आचार्य विद्यासागर

समन्तभद्र की भद्रता

सन्मति को मम नमन हो मम मति सन्मति होय।
सुर नर पशु गति सब मिटे गति पचम गति होय॥१॥

स्वामी समतभद्र हो मे तो रहा अभद्र।
मम उर मे आ तुम बसो बन जाऊँ मै भद्र॥२॥

तरणि ज्ञानसागर गुरो ! तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर ! करुणा करो कर से दो आशीष॥३॥

चन्दन चन्दर चाँदनी से जिन-धुनि अति शीत।
उसका सेवन मे करूं मन वच तन कर नीत॥४॥

स्वयभु-थुति का मैं करूँ पद्यमयी अनुवाद।
मात्र कामना मम रही मोह मिटे परमाद॥५॥

वृषभनाथ-स्तवन

(ज्ञानोदय छन्द : लय : मेरी भावना)

पर से बोधित नही हुए पर, स्वय स्वयं ही बोधित हो।
समकित-सपत्ति ज्ञान नेत्र पा जग मे जग हित शोभित हो॥
विमोह-तम को हरते तुम प्रभु निज-गुण-गण से विलसित हो।
जिस विध शशि तम हरता शुचितम किरणावलि ले विकसित हो॥१॥

जीवन इच्छुक प्रजाजनो को जीवन जीना सिखा दिया।
असि, मषि, कृषि आदिक कर्मो को प्रजापाल हो दिखा दिया॥
तत्त्व-ज्ञान से भरित हुए फिर बुध-जन मे तुम प्रमुख हुए।
सुर-पति को भी अलभ्य सुख पा विषय-सौख्य से विमुख हुए॥२॥

सागर तक फैली धरती को मन-वच-तन से त्याग दिया।
सुनन्द-नन्दा वनिता तजकर आतम में अनुराग किया॥
आतम-जेता मुमुक्षु बनकर परीषहो को सहन किया।
इक्ष्वाकू-कुल-आदिम प्रभुवर अविचल मुनिपन वहन किया॥३॥

समाधि-मय अति प्रखर अनल को निज उर मे जब जनम दिया।
दोष-मूल अघ-घाति कर्म निर्दय बनकर भसम किया॥
शिव-सुख-वाछक भविजन का फिर परम तत्त्व का बोध दिया।
परम-ब्रह्म-मय अमृत पान कर तुमने निज घर शोध लिया॥४॥

विश्व-विज्ञ हो विश्व-सुलोचन बुध-जन से नित वंदित हो।
पूरण-विद्या-मय तन धारक बने निरंजन नदित हो॥
जीते छुट-पुट वादी-शासन अनेकान्त के शासक हो।
नाभि-नन्द हे! वृषभ जिनेश्वर मम-मन-मल के नाशक हो॥५॥

- दोहा -

आदिम तीर्थकर प्रभो आदिनाथ मुनिनाथ!
आधि व्याधि अघ मद मिटे तुम पद मे मम माथ॥१॥

शरण, चरण हैं आपके तारण तरण जहाज।
भव-दधि-तट तक ले चलो! करुणाकर जिनराज॥२॥

अजितनाथ-स्तवन

बन्धु-वर्ग तो खेल-कूद मे भी विजयी तव मस्त रहा ।
अजेय-बनकर अमेय बल पा मुदित सुखी बन स्वस्थ रहा ॥
यह सब प्रभाव मात्र आपका दिवि से आ जब जन्म लिया ।
"अजित"-नाम तव सार्थक रख तव परिजन सार्थक जन्म किया ॥१॥

अजेय शासन के शासक थे अनेकान्त के पोषक थे ।
भविजन हित-सत पथदर्शक थे अजित नाथ ! जग-तोषक थे ॥
वांछित-शिव-सुख, मंगल पाने मुमुक्षु जन अविराम यहाँ ।
आज ! अभी भी लेते जिन का परम सुपावन नाम महा ॥२॥

भविजन का सब पाप मिटे बस यही भाव ले उदित हुए ।
मुनि नायक प्रभु समुचित बल ले घाति-घात कर मुदित हुए ॥
मेघ-घटा बिन नभ-मंडल मे दिनकर जिस विध पूर्ण उगा ।
कमल-दलो को खुला-खिलाता, अन्धकार को पूर्ण भगा ॥३॥

चन्दन-सम शीतल जल से जो भरा लबालब लहराता ।
तपन ताप से तपा मत्त गज उस सर मे ज्यो सुख पाता ॥
धर्म-तीर्थ तव परम-श्रेष्ठ शुचि जिसमे अवगाहन करते ।
काम-दाह से दग्ध दुखी जन पल मे सुख पावन वरते ॥४॥

शत्रु मित्र में समता धरकर परम ब्रह्म मे रमण किया ।
आत्म-ज्ञान-मय सुधा-पान कर कषाय-मल का वमन किया ॥
आतम-जेता अजित-नाथ हो चेतन-श्री का वरण किया ।
जिन-पद-संपद-प्रदान कर दो तुम-पद मे "यह" नमन किया ॥५॥

- दोहा -

जित इन्द्रिय जित मद बने, जित भव विजित कषाय।
अजित-नाथ को नित नमूँ, अर्जित दुरित पलाय॥१॥

कोपल पल-पल को पले, वन मे ऋतु-पति आय।
पुलकित मम जीवन-लता, मन में जिन पद पाय॥२॥

शम्भवनाथ-स्तवन

ऐहिक सुख-तृष्णामय रोगो से जो पीडित जग जन है ।
उन्हे निरोगी पूर्ण बनाने वैद्य रहे शभव जिन है ॥
प्रति-फल की पर वॉछा कुछ नहि बिना-स्वार्थ परहित रत है ।
वैद्य लोग ज्यो रोग मिटाते दया-भाव से परिणत है ॥१॥

अहकार-मय विभाव भावो मिथ्या-मल से रजित है ।
क्षणिक रहा है त्राण-हीन है जगत रहा सुख वचित है ॥
जनन-मरण से जरा रोग से पीड़ित दु.खित विकल अहा !
उसे किया जिन निरजना-मय शान्ति पिला कर सबल महा ॥२॥

बिजली-सम पलजीवी चचल इन्द्रिय-सुख है तनिक रहा ।
तृष्णा-मय-मारी के पोषण का कारण है क्षणिक रहा ॥
तृष्णा की वह वृद्धि, निरतर उपजाती है ताप निरा ।
ताप जगत को पीडित करता जिन कहते, तज पाप जरा ॥३॥

बध-मोक्ष क्या उनका कारण सुफल मोक्ष का कौन रहा ?
बद्ध जीव औ मुक्त जीव सब जग में रहते कौन कहॉ ?
ये सब वर्णन देव ! तुम्हारे स्याद्-वाद मत मे पाते ।
एकान्ती-मत मे ना, पाते शिव-पथ-नेता तुम तातै ॥४॥

पुण्य वर्धनी तुम स्तुति करने इन्द्र विज्ञ असमर्थ रहा ।
किन्तु अज्ञ मे स्तोत्र कार्य मे उद्यत हू ना अर्थ रहा ॥
तदपि भक्तिवश तुम-पद-पकज-स्तुति, अलि बल अनिवार्य किया ।
शिव-सुख की कुछ गध सुंघा दो आर्य देव ! शुभ कार्य-किया ॥५॥

- दोहा -

तुम-पद पकज से प्रभो झर-झर-झरी पराग ।
जब तक शिव-सुख ना मिले पीऊँ पट्पद जाग ॥१॥

भव-भव, भव-वन भ्रमित हो भ्रमता-भ्रमता आज ।
शभव-जिन भव शिव मिले पूर्ण हुआ मम काज ॥२॥

अभिनन्दननाथ-स्तवन

क्षमा-सखी युत दया-वधू मे सतत निरत हो नन्दन हो ।
गुण-गण से अति परिवर्धित हो इसीलिए अभिनन्दन हो ॥
''लक्ष'' बना कर समाधि भर का समाधि पाने यमी बने ।
बाहर-भीतर नग्न बने प्रभु ग्रन्थ तजे सब दमी बने ॥१॥

निरे अचेतन तन-मन-धन है वचन बंधु-जन तनुज रहे ।
हम इनके ये रहे हमारे इस विध जग के मनुज कहे ॥
मोह-भूत के वशीभूत हो अस्थिर को स्थिर समझे है ।
तत्त्व-ज्ञान प्रभु उन्हे बताया उलझे जन-जन सुलझे है ॥२॥

अशन-पान कर, क्षुधा तृषा से जनित दुःख के वारण से ।
तन तन धारक नहिं ध्रुव बनते, क्षणिक विषय सुख पानन से ॥
इसीलिए ये विषय सुखादिक किसी तरह नहिं गुणकारी ।
इस विध इस जग को समझाया प्रभो आप गुणगणधारी ॥३॥

यदपि दास बन विषयो का शठ लोलुपता से पूर रहा ।
तदपि नृपादिक भय से परवश दुराचार से दूर रहा ॥
इस पर भव मे "दुखद" विषय है इस विध जो जन यदि जाने ।
किस विध विषयन मे फिर रमते यही कहा प्रभु, बुध माने ॥४॥

विषयो की वह विषय-वासना ताप बढाती क्षण-क्षण है ।
तृष्णा फलत द्विगुणित, जिस सुख, से तोषित ना जड जन है ॥
सदुपदेश यो देते जिससे निहित-लोक-हित तुम मत मे ।
अत शरण हो सुधी जनो के मुनि गण के सब अभिमत मे ॥५॥

- दोहा -

विषयो को विष लख तजूँ बन कर विषयातीत ।
विषय बना ऋषि ईश को गाऊँ उनका गीत ॥१॥

गुण धारे पर मद नहीं मृदुतम हो नवनीत ।
अभिनन्दन जिन! नित नमूँ मुनि वन मे भवभीत ॥२॥

सुमतिनाथ-स्तवन

स्व पर तत्त्व का सही सुनिर्नय सुयुक्तियों से स्वत लिया ।
सुमति-नाथ मुनि 'सुमति' नाम को सार्थक तुमने अत किया ।
शेषमतो मे क्रिया-कर्म औ कारक कारण की विधियाँ ।
चूँकि सही नहि सभी सर्वथा एकान्तीपन की छवियाँ ॥१॥

तुमसे स्वीकृत तत्त्व सही है अनेक भी है एक रहा ।
पर्यय वश वह अनेक देखता द्रव्य अपेक्षा एक रहा ॥
इक उपचारी इनमे हो तो दूजा झूठा, इक लय से ।
शेष मिटेगा अवाच्य जिससे तत्त्व बनेगा निश्चय से ॥२॥

सत्त्व कथंचित असत्त्व सत हो आपस अपेक्षा चालक रहा ।
नभ से यद्यपि न पुष्प खिला पर, तरु पर खुल-खिल मादक रहा ।
तत्त्व, सत्त्व और असत्त्व बिन यदि, रहा, नहीं सम्मानित है ।
तुम मत से प्रभु अन्य सभी मत, स्खलित वचन से बाधित है ॥३॥

तत्त्व सर्वथा नित्य रहा तो मिटना-उगना नहीं कभी ।
तथा क्रिया औ कारक विधियाँ उसमें बनतीं नहीं कभी ॥
जनन असत का नहीं सर्वथा सत भी वह ना विनस रहा ।
दीपक, गुल हुआ, सघन तिमिर बन, पुद्गल-पन से विलस रहा ॥४॥

नास्तिपना और अस्तिपना है इष्ट कथंचित यही सही ।
वक्ता के कथनानुसार से मुख्य-गौण हो कभी कहीं ॥
तत्त्व-कथन की यही प्रणाली सुमति-नाथ प्रभु तव प्यारी ।
स्तुति करता है तव, मम मन्द मति, असर हो सुख प्याली ॥५॥

- दोहा -

सुमति नाथ प्रभु सुमति हो मम मति है अति मन्द ।
बोध कली खुल-खिल उठे महक उठे मकरन्द ॥१॥

तुम जिन मेघ मयूर मैं गरजो बरसो नाथ ।
चिर प्रतीक्षित हूँ खड़ा ऊपर कर के माथ ॥२॥

पद्मप्रभ-स्तवन

शुचिमय तन-चेतन लक्ष्मी से मडित निज मे निवस रहे ।
लाल-लाल फल पलाश छवि से अहो पद्मप्रभ ! विलस रहे ॥
लोकबन्धु हो भविक-कमल ये तुम दर्शन से खिलते है ।
जिस विध सर मे सरोज दल वे दिनकर को लख खुलते है ॥१॥

अक्षय सुख-मय लक्ष्मी वर के दिव्य भारती पाय लसे ।
पूर्णमुक्ति से पूर्ण प्रभो ! तुम त्रयोदशी गुण मॉय बसे ।
देव-रचित था समवसरण तव उसमे नहि, अनुरक्त हुए ।
दिव्य देशना त्याग अन्त मे सर्वज्ञान युत मुक्त हुए ॥२॥

नयन मनोहर किरणावलि छवि आप देह से उछल रही ।
बाल भानु की द्युति सम भाती धरती छूने मचल रही ॥
नर सुर से जो भरी सभा ललित लाल अति करा रही ।
पद्म राग-मय पर्वत जिस विध स्वीय-पार्श्व को विभामयी ॥३॥

सहस्र दल वाले कमलो के मध्य आप चलने वाले ।
चरण-कमल से नभ-तल को प्रभु पुलकित अति करने वाले ॥
मत्त मदन का मद-मर्दन कर निर्मद जीवन बना लिया ।
विश्वशान्ति के लिए विश्व मे विचरण इच्छा बिना किया ॥४॥

तुम मे हे ! ऋषिवर गुण-गण का लहराता वह सिन्धु महा ।
इन्द्र विज्ञ तव स्तुति करके भी पी न सकता वह बिन्दु अहा !!
अज्ञ, सफल क्या ? मै हो सकता स्तुति करने जो उद्यत हूँ ।
बाध्य मुझे तव भक्ति कराती तुम पद मे तब अवनत हूँ ॥५॥

तपः साधना अद्भुत करके हित-उपदेशक आप्त हुए ।
परम इष्ट पद को तुम प्रभुवर त्रिभुवन मे जब प्राप्त हुए ।
अनन्त सुख के धाम बने हो विश्व-विज्ञ अविनश्वर हो ।
जग-दुख-नाशक शासक के ही शासक तारक ईश्वर हो ॥४॥

भगवन् तुम शशि, भव्य कुमुद ये खिलते हे दृग खोल रहे ।
राग-रोष मय मेघ तुम्हारे चेतन मे नहि डोल रहे ॥
स्याद्वाद मय विशद वचन की मणिमय माला पहने हो ।
परमपूत हो, पावन कर दो, मम मन वस में रहने दो ॥५॥

- दोहा -

चद्र कलकित, किन्तु हो चन्द्र प्रभु अकलंक ।
वह तो शकित केतु से शकर तुम निःशक ॥१॥

रक बना हूँ मम अतः मेटो मन का पक ।
जाप जपूं जिन-नाम का बैठ सदा पर्यंक ॥२॥

पुष्पदंत-स्तवन

विरोध एकान्ती का करता तर्कादिक से सिद्ध सही ।
तदतत्-स्वभाव धारक यानी मुख्य-गौण हो कही-कही ॥
सुविधि नाथ प्रभु आत्मज्योति से तत्त्व प्ररूपित सही किया ।
तुम मत से विपरीत मतो ने जिसका स्वाद न कभी लिया ॥१॥

स्वभाव-वश औ अन्यभाव-वश तत्त्व रहा वह नही रहा ।
क्योंकि कथंचित् उसी तरह ही प्रतीत होता सही रहा ॥
निषेध-विधि में कभी सर्वथा अनन्यपन या अन्यपना ।
होते नहि हैं जिन मत गाता तत्त्व अन्यथा शून्य बना ॥२॥

वही रहा यह प्रतीत इसविध तत्त्व अत यह नित्य रहा ।
अन्य रूप ही झलक रहा है इसीलिए नहि नित्य रहा ॥
बाहर-भीतर के कारण औ कार्य-योग वश, तत्त्व वही ।
नित्यानित्यात्मक सगत है तव मत का यह सत्त्व सही ॥३॥

एक द्रव्य वश अनेक गुण वश वाच्य रहा वह वाचक का ।
"वन है तरु है" इस विध कहते भाव विदित ज्यो गायक का ॥
सर्व धर्म के कथन चाहते गौणपक्ष पर नहिं माने ।
एकान्ती मत कहते उनको स्याद्-पद दुखकर, बुध जाने ॥४॥

गौण-मुख्य मय अर्थ-युक्त तव दिव्य वाक्य है सुख-कारी ।
यदपि तदपि तुम मत से चिढते उनको निश्चित दुखकारी ॥
साधु राज हे चरण-कमल तव सुर-नर-पति से वदित है ।
अत मुझे भी वन्दनीय है सुरभित-सौम्य-सुगधित है ॥४॥

- दोहा -

सुविध ! सुविधि के पूर हो, विधि से हो अति दूर ।
मम मन से मत दूर हो, विनती हो मजूर ॥१॥

बाल मात्र भी ज्ञान ना मुझ में मै मुनि-बाल ।
बबाल भव का मम मिटे प्रभु पद में मम भाल ॥२॥

शीतलनाथ-स्तवन

ना तो मलयाचल चदन औ चन्द्र चान्दनी शीतल है ।
शीतल गंगा का भी जल नहि मणिमय माला शीतल है ॥
हे मुनिवर तव वचन-किरण में प्रशम भाव-मय नीर भरा ।
शीतलतम है, बुधजन जिसका सेवन करते पीर हरा ॥१॥

विषय-सौख्य की चाह-दाह से क्लान्त किया था तप्त किया ।
निज के मन को ज्ञान-नीर से शान्त किया तुम तृप्त किया ॥
वैद्य-राज ज्यो मन्त्र-शक्ति से जहर शक्ति को हरता है ।
जहर-दाह से मूर्च्छित निज के तन को सुशान्त करता है ॥२॥

जीवन की औ काम सौख्य की तृष्णा के जो नौकर है ।
जड़ दिन-भर श्रम कर थक रात बिताते सो कर है ॥
शुचि-तम निज आतम मेतुम तो निशि-दिन निश्चल जाग रहे ।
यही आर्य ! अनिवार्य कार्य तव, प्रमाद रिपु-सम त्याग रहे ॥३॥

सुर-सुख की, सुत-धन की, धन की तृष्णा जिनके मन मे है ।
ऐसे ही कुछ जड़ जन, तापस, बन तप तपते वन मे है ॥
किन्तु, जनन-मृति-जरा मिटाने, समधी बन यम धार लिया ।
मन वच तन की क्रिया मिटा दी, तुमने भव-दधि पार किया ॥४॥

धवलित केवलज्ञान-ज्योति हो जन्म रहित दुख सर्व हरे ।
आप कहाँ ये अन्य कहाँ जड अल्प ज्ञान ले गर्व करे ॥
शिव-सुख के अभिलाषी बुधजन अत· सदा तव गुण गाते ।
शीतल प्रभु मुझ शीतल कर दो तुम्हे भजे मम मन तातैं ॥५॥

- दोहा -

शीतल चन्दन है नही शीतल हिम ना नीर ।
शीतल जिन ! तव मत रहा शीतल, हरता पीर ॥१॥

सुचिर काल से मै रहा मोह-नीद से सुप्त ।
मुझे जगा कर, कर कृपा प्रभो करो परितृप्त ॥२॥

श्रेयोनाथ-स्तवन

दोष-रहित, शुभ वचन सुधारो श्रेयन् ! जिन ! अघ गला दिया ।
हित पथ दर्शित कर हित पथ पर हितैषियो को चला दिया ॥
एक अकेले विलसित हो तुम त्रिभुवन मे ज्यो उदित हुआ ।
मेघ-रहित इस विशाल नभ मे रवि लसता, जग मुदित हुआ ॥१॥

अस्तिपना जो नास्तिपना मय प्रमाण का वह विषय बना ।
अस्ति-नास्तिपन मे इक होता गौण एक तो प्रमुख बना ॥
प्रमुख बनाया, जिसको उसके नियमन का नय हेतु रहा ।
दृष्टान्त का रहा समर्थक जिन दर्शन का केतु रहा ॥२॥

प्रासगिक जो मुख्य कहाता तव मत कहता पुण्य मही ।
प्रासंगिक जो नही रहा सो गौण भले पर शून्य नही ॥
मित्र कथचित शत्रु मित्र हो किसी अपेक्षा अनुभव हो ।
सगुण गुणी अस्तिनास्ति वश वस्तु कार्य मे सक्रिय हो ॥३॥

समुचित है दृटान्त जभी से लोक सिद्ध वह मिल जाता ।
वादी-प्रतिवादी का झगडा स्वय शीघ्र तव मिट जाता ॥
मतैकान्त का पोषक तव मत में मिलता दृष्टान्त नही ॥
साध्य-हेतु दृष्टान्तन मे मत चूकि श्रेष्ठ नैकान्त सही ॥४॥

स्याद-वाद मय रामबाण से रगरग जिसको छेद दिया।
एकान्ती मत का मस्तक प्रभु पूर्ण रूप से भेद दिया ॥
लाभ लिया कैवल्य विभव का मोह-शत्रु का नाश किया।
अतः बने अरहन्त तभी मम मन तुम पद में वास किया ॥५॥

- दोहा -

अनेकान्त की कान्ति से हटा तिमिर एकान्त।
नितान्त हर्षित कर दिया क्लान्त विश्वको शान्त॥१॥

निश्रेयस् सुख-धाम हो हे जिन वर श्रेयांस।
तव थुति अविरल मे करूँ जब लौं घट मे श्वास॥२॥

वासुपूज्यनाथ-स्तवन

मंगल कारक गर्भ जन्म मय कल्याणों में पूज्य हुए।
वासुपूज्य प्रभु शत इन्द्रों से तुम पद-पकज पूज्य हुए ॥
हे मुनि-नायक लघु धी मैं हूँ मेरे भी अब पूज्य बने।
पूजा क्या नहिं दीपक से हो रवि की जो द्युति-पुज तने ॥१॥

वीतराग जिन बने तुम्हे अब पूजन से क्या अर्थ रहा।
बैरी कोई रहे न तब फिर निदक भी अब व्यर्थ रहा ॥
फिर भी तव गुण-गण-स्मृति से प्रभु परम लाभ है वह मिलता।
निर्मलतम जीवन है बनता मम मन-मल सब यह धुलता ॥२॥

पूजन पूजक पूज्य प्रभो! जिन तब जब करता भव्य यहाँ।
अल्प पाप तब पाता फिर भी पाता पावन मुख्य महा ॥
किन्तु पाप वह ताप नही है घटना-भर अनिवार्य रही।
सुधा-सिन्धु में विष-कण करता बाधक का कब कार्य कहीं? ॥३॥

उपादानमय मूल हेतु का बाह्य द्रव्य ले सहकारी ।
श्रावक जब तक पूजन करता पाप-पुण्य का अधिकारी ।।
किन्तु साधु जब पूजन करते सग-रहित ही जो रहते ।
पुण्य-पाप मे भाव शुभाशुभ केवल कारण, जिन कहते ।।४।।

बाह्याभ्यन्तर हेतु परस्पर यथायोग्य ये मिले सही ।
तभी कार्य सब जग के बनते द्रव्य धर्म बस दिखे यही ।।
मोक्ष कार्य मे यही व्यवस्था पर इससे विपरीत नही ।
अत वन्द्य तुम बुध जन से ऋषि-पति हो, कहता गीत सही ।।५।।

- दोहा -

औ न दया बिन धर्म ना, कर्म कटे बिन धर्म ।
धर्म मर्म तुम समझकर, कर लो अपना कर्म ।।

वासुपूज्य जिनदेव ने, देकर यूँ उपदेश ।
सबको उपकृत कर दिया, शिव में किया प्रवेश ।।

विमलनाथ-स्तवन

तत्व नित्य या क्षणिक सर्वथा इत्यादिक जो नय गाते ।
कलह परस्पर करते मरते सभी परस्पर भय खाते ।।
विमल नाथ प्रभु अनेकान्तमय तुम-मत के जो नय मिलते ।
बने परस्पर पूरक, हिल-मिल सभी कथचित् पथ चलते ।।१।।

निजी सहायक शेष कारकों को आपेक्षित करते है ।
एक-एक कर जिस विध कारक कार्य सिद्ध सब करते है ।।
समानता को विशेषता को लखते है क्रमवार भले ।
उस विध तव नय गौण-मुख्य हो वक्ता के अनुसार चले ।।२।।

ज्ञानमयी हो स्व-पर प्रकाशक प्रमाण जिस विध निश्चित है ।
जैनागम में निराबाध वह स्वीकृत है औ समुचित है ॥
अभेद-मय औ भेद-ज्ञान मे सदा मित्रता शुद्ध रही ।
समानता और विशेषता की समष्टि जिन से सिद्ध रही ॥३॥

किसी वस्तु की विशेषता का, कथक विशेषण होता है ।
विशेषता जिसकी की जाती विशेष्य बस वह होता है ॥
किन्तु विशेषण विशेष्य इनमे नित्य निहित सामान्य रहा ।
स्यात् पद-वश प्रासगिक होता मुख्य-गौण तब अन्य रहा ॥४॥

स्यात् पद भूपित तव नय बनते सुर सुख शिव सुख-दाता है ।
जिस विध पारस योग प्राप्त कर लोह स्वर्ण बन जाता है ॥
अत हितैषी सविनय होते तव पद मे प्रणिपात रहे ।
परम पुण्य का फलत· बुधजन लाभ लुटा दिन-रात रहे ॥५॥

- दोहा -

कराल काला व्याल सम कुटिल चाल का काल ।
मार दिया तमने उसे फाडा उसका गाल ॥१॥

मोह-अमल वश समल बन निर्बल मैं भयवान ।
विमलनाथ तुम अमल हो संबल दो भगवान ॥२॥

अनन्तनाथ-स्तवन

चिर से जीवित तुम उर मे था मोह-भूत जो पाप-मयी ।
अमित-दोष का कोष रहा था जिसका तन परिताप मयी ॥
उसे जीत कर बने विजेता आत्म तत्त्व के रसिक हुए ।
अत नाम तब अनन्त सार्थक, तव सेवक हम भविक हुए ॥१॥

समाधि-मय गुणकारी औषध, का तुमने अनुपान किया ।
दुर्निवार सतापक दाहक काम रोग का प्राण लिया ॥
रिपु-सम दु खद कषाय-दल का और पूर्णत नाश किया ।
पूर्णज्ञान पर परमजोति से त्रिभुवन को परकाश दिया ॥२॥

भरी लबालब श्रम के जल से भय-मय लहरे उपजाती ।
विषय-वासना-सरिता तुममे चिर से बहती थी आती ॥
उसे सुखा दी अपरिग्रहमय तरुण अरुण की किरणों से ।
मुक्ति-वधु वह हुई प्रभावित इसीलिए तब चरणो से ॥३॥

भक्त बना तब निरत भक्ति मे भुक्ति मुक्ति सुख वह पाता ।
तुम से जो चिढता वह निश्चित प्रत्यय-सम मिट दुख पाता ॥
फिर भी निन्दक वदक तुम को सम है समता-धाम बने ।
तब परिणति प्रभु विचित्र कितनी निज रस मे अविराम सने ॥४॥

तुम ऐसे हो तुम वैसे हो मम-लघु धी का कुछ कहना ।
केवल प्रलाप-भर है मुनिवर ! भक्ति-भाव मे बस बहना ॥
तव महिमा का पर नही पर अल्प मात्र भी तारण हैं ।
अमृत-सिन्धु का स्पर्श तुल्य बस शान्ति सौख्य का कारण है ॥५॥

- दोहा -

अनन्त गुण पा कर दिया अनन्त भव का अन्त।
अनन्त सार्थक नाम तव अनन्त जिन जयवन्त॥१॥

अनन्त सुख पाने सदा भव से हो भयवन्त।
अन्तिम क्षण तक मैं तुम्हे स्मरू स्मरे सब सन्त॥२॥

धर्मनाथ-स्तवन

वीतराग-मय धर्मतीर्थ को किया प्रसारित त्रिभुवन मे।
धर्म नाम तव सार्थक गणधर गुरू जो मुनिगण में॥
सघन कर्म के वन को तपमय तेज अनल से जला दिया।
शंकर बन कर सुखकर शिव-सुख पाकर जग को जगा दिया॥१॥

भद्र भव्य सुर-नरपति गण नत तुम पद में अति मोहित हैं।
मुनिगण-नायक गणधर से प्रभु आप घिरे हैं शोभित है॥
जैसा नभ में पूर्ण कला ले शान्त चन्द्रमा निखरा हो।
जिसके चारों ओर विहसता तारक-दल भी बिखरा हो॥२॥

छत्रादिक से सजा हुआ जिस समवशरण मे निवस रहे।
विरत किन्तु निज तन से भी हो निरीह सब से विलस रहे॥
नर, सुर, किन्नर भव्य जनो को शिव-पथ दर्शित करा रहे।
प्रति-फल की कुछ वांछा नहिं पर हमको हर्षितकरा रहे॥३॥

तन की मन की और वचन की चेष्टाएँ तब होती हैं।
किन्तु बिना इच्छा के केवल सहज भाव से होती है॥
थोथी यद्वा-तद्वा भी नहिं सही ज्ञान से सहित सभी।
धीर! नीर-निधि-सम तव परिणति, अचिंत्य-लखबुध, मुक्ति सभी॥४॥

मानवता से ऊपर उठ कर ऊपर उन्नत चढे हुए ।
सुर, सुर-पालक देवो मे भी पूज्य हुए हो बडे हुए ॥
इसीलिए देवाधिदेव हो परम इष्ट जिन ! नाथ हुए ।
हम पर करुणा कर दो शिव-सुख, तुम पद मे नत-माथ हुए ॥५॥

- दोहा -

दया धर्म वर धर्म है अदया-भाव अधर्म ।
अधर्म तज प्रभु धर्म ने, समझाया पुनि धर्म ॥१॥

धर्मनाथ को नित नमूँ सधे शीघ्र शिव शर्म ।
धर्म-मर्म को लख सकूँ मिटे मलिन मम कर्म ॥२॥

शान्तिनाथ-स्तवन

प्रजा सुरक्षित कर रिपुओ से निजी राज्य अविभाज्य किया ।
सुचिर काल तक प्रतापशाली अजेय राजा राज्य किया ।
स्वय आप मुनि बन वन मे पापो का अतिशमन किया ।
शान्तिनाथ जिन ! दया-धाम हो शान्ति-रमा से रमण किया ॥१॥

पुण्य-पुरुष चक्री बन तुमने चक्र दिखा कर डरा दिये ।
छहो खण्ड के नराधिपो को पूर्ण रूप से हरा दिये ॥
समाधि-मय निज दिव्य चक्र पुनि मोह-शत्रु पे चला दिया ।
दुर्नय-दुर्जय दुष्ट क्रूर को मिट्टी मे बस मिला दिया ॥२॥

राजाओ-के-राजा बन कर राजसभा मे राजित थे ।
लघु राजाओ के सुख-साधन तुम पर ही निर्धारित थे ॥
किन्तु पुन जब निजाधीन हो आर्हत पद को प्राप्त हुए ।
अगणित अमरासुर पतिगण मे हुए सुशोभित, आप्त हुए ॥३॥

नरेन्द्र जब थे, नरपति-दल ने तब चरणों मे शरण लिया।
सदय बने जब मुनिवर तुम को दया-धर्म को नमन किया ॥
पूज्य बने जिन तव पद युग मे सुरदल आ प्रणिपात हुआ।
ध्यानी बनते, कर्म विनसता, हाथ जोड, नत-माथ हुआ ॥४॥

निजी दोष सब पूर्ण मिटा कर, प्रथम प्रशम बन शान्त हुए।
शान्ति दिलाते शरणागत को, सुचिर काल से क्लान्त हुए ॥
शान्तिनाथ जिन ! शान्ति विधायक, शान्त मुझे अब आप करो।
शरण, चरण मे मुझे दिला कर भव-भव का मम ताप हरो ॥५॥

- दोहा -

शान्तिनाथ हो शान्त, कर साता साता सान्त।
केवल, केवल-ज्योतिमय क्लान्ति मिटी सब ध्वान्त ॥१॥

सकल ज्ञान से सकल को जान रहे जगदीश।
विकल रहे जड़ देह से विमल नमूँ नतशीश ॥२॥

कुन्थुनाथ-स्तवन

चक्री बन शासित नरपो को प्रथम किया यश सुख पाने।
तीर्थंकर बन धर्म-चक्र, फिर चला दिया निज-घर जाने ॥
जरा जनन मृति रोग मिटाने सदय स्वीजन बना लिया।
कुन्थु कृमी आदिक जीवो पर, कुन्थु जिनेश्वर दया किया ॥१॥

स्वभाव से ही तृष्णा-ज्वाला सदा धधकती वह जलती।
भोग्य वस्तुएँ भले भोग लो तृष्णा बुझती नहि बढती ॥
विषय-सौख्य तो निमित्त केवल, हर सकते ! तन-ताप भले।
विमुख हुए है अत विषय से, मुनि बन, शिव-पथ आप चले ॥२॥

कष्ट-साध्य बहु बाह्य तपो से तन को मन को जला दिया ।
आभ्यतर तप उद्दीपित हो यही प्रयोजन बना लिया ।।
आर्त ध्यान को, रौद्र ध्यान को, पूर्ण ध्यान से हटा दिया,
धर्म ध्यान मे, शुक्ल ध्यान मे, क्रमश निज को बिठा दिया ।।३।।

रत्नत्रयी मय होम-कुण्ड को योग अनल से तेज किया ।
होमा जिसमे घाति कर्म को यम-पुर रिपु को भेज दिया ।।
अतुल वीर्य पा सकल ज्ञेय के प्रतिपादक आगम-कर्त्ता ।
विलस रहे प्रभु मेघ-रहित नभ मे जिस विध रवि तम-हर्ता ।।४।।

विद्या-धन का निधान दुर्लभ मुनिवर ! तुम मे अहा खुला ।
ब्रह्मा महेश आदिक को पर जिसका कण भी कहाँ मिला ।।
अमिट-अमित हो स्तुत्य बने हो जन्म-रहित जिन-देव ! तभी ।
निज हित-इच्छुक अत सुधी ये तुम्हे भजे स्वयमेव सभी ।।५।।

- दोहा -

ध्यान-अग्नि से नष्ट कर प्रथम पाप परिताप ।
कुन्थुनाथ पुरुषार्थ से बने न अपने-आप ।।१।।

ऐसी मुझ पे हो कृपा मम मन मुझमे आय ।
जिस विध पल मे लवण है जल मे घुल मिल जाय ।।२।।

अरहनाथ-स्तवन

किसी पुरुष के अल्प गुणो का बढा-चढा कर यश गाना।
जग मे बुधजन कविजन कहते स्तुति का वह सब बाना ॥
पूज्य बने हो ईश बने हो अगणित गुण के धाम बने।
ऐसी स्थिति मे आप कहो फिर कैसे स्तुति का काम बने ॥१॥

यदपि मुनीश्वर की स्तुति करना रवि को दीपक दिखलाना।
तदपि भक्ति-वश मचल रहा मन कुछ रहने को अनजाना ॥
तथा अल्प भी जो तव यश का भविक यहाँ गुण-गान करे।
शुचितम बनता, क्यो ना हम फिर तव थति-रस का पान करे ॥२॥

चौदह मनियाँ निधियाँ नव भी चक्री तुम थे तुम्हे मिली।
हाथी छोड़े कोटि, नारियाँ कुछ कम लाखो तुम्हे वरी ॥
मुमुक्षुपन की किन्तु किरण जो तुम मे जगमग जभी जगी।
सार्वभौम पदवी भी तुमको जीरण तृण सम सभी लगी ॥३॥

सविनय द्वय नयनो से तव मुख छवि को जब अनिमेष लखा।
किन्तु तृप्त वह हुआ नहीं पर लख-लख कर अमरेश थका ॥
सहस्त्र लोचन खोल लिये फिर निजी ऋद्धि से काम लिया।
चकित हुआ तब अंग-अंग का प्रभु दर्शन अभिराम किया ॥४॥

मोहरूप रिपु-भूप, पाप-का-बाप, ताप का कारक है।
कषाय-मय सेना का चालक, चेतन निधि का हारक है ॥
समकित-चारित-भेदज्ञान मय कर मे खर तर-वार लिया।
किया वार निज मोह-शत्रु पर धीर आपने, मार दिया ॥५॥

तीन लोक को अपने बल पर जीत विजेता बना हुआ।
काम समझ यो लोक-ईश मैं व्यर्थ गर्व से तना हुआ ॥
धीर वीर जिन किन्तु आप पर प्रभाव उसका नही पडा।
लज्जित होकर शिशु-सा आकर तव चरणो मे तभी पडा ॥६॥

इस भव मे भी पर भव मे भी दुस्सह दुख की है जननी ।
तृष्णा-रूपी नदी भयकर यह नरको की वैतरणी ॥
इसका पाना पार कठिन है कई तैरते हार गये ।
वीतराग-मय ज्ञान-नाव मे बैठ किन्तु प्रभु पार गये ॥७॥

सदा काल से काल जगत को रुला रहा था सता रहा ।
जन्म-रोग को मित्र बना कर जीवन अपना बिता रहा ॥
महाकाल बिकराल किन्तु प्रभु काल आपने विकल किया ।
कुटिल चाल को छोड काल ने सरल चाल मे बदल दिया ॥८॥

शस्त्रो, वस्त्रो, पुत्र, कलत्रो, आभरणो से रहित रहा ।
विराग विद्या दया दमन से पूर्ण रूप से सहित रहा ॥
इस विध जो तव रूप मनोहर मौन रूप से बोल रहा ।
धीर ! रहित हो सकल दोष से जब जीवन अनमोल रहा ॥९॥

तव तन की अति प्रखर ज्यातिमा फैल रही चहुँ ओर सही ।
फलत बाहिर सघन तिमिर सब भगा, हुआ हो भार कही ॥
इसी तरह निज शुद्धातम के परम विभा से नाश किया ।
मोह-मयी अतिघनी निशा का, निज-घर शिव मे वास किया ॥१०॥

सकल विश्व का जानन हारा तुममे केवलज्ञान हुआ ।
समवशरण आदिक अनुपम तन अतिशय आविर्मान हुआ ॥
पुण्य-पाक मय इस अतिशय को भविक जनो ने निरखा हो ।
तव पद मे नत क्यो ना होवे दोष गुणन को परखा हो ॥११॥

जिसकी भाषा, उस भाषा मे उसको समझाती वाणी ।
अमृतमयी है जिनवाणी है ज्ञानी कहते कल्याणी ॥
समवशरण मे फैल सभी के कर्ण तृप्त भी है करती
सुधा जगत मे जिस विध, जन-जन को सुख दे सब दुख हरती ॥१२॥

अनेकान्त तव दृष्टि रही है सत्य तथ्य बुध-मीत रही ।
तथ्य-हीन एकान्त दृष्टि है औरो की विपरीत रही ॥
एकान्ती का जो कुछ कहना असत्य भी है उचित नही ।
और रहा निज मत का घातक इसीलिए वह मुदित नही ॥१३॥

पर मत की कमियो को लखने नेत्र खोलकर जाग रहे ।
निज-कमियाँ लख भी नहि लखते जैसे सोते नाग (हाथी) रहे ॥
निज मत थापित पर मत बाधित करने मे भी निर्बल है ।
तापस वे नहि समझ सकेगे तव मत जो अति निर्मल है ॥१४॥

एकान्ती जन दोष-बीज ही सदा निरन्तर बोते है ।
निज मत घातक दोष मिटाने सक्षम नहि वे होते है ॥
अनेकान्त तव मत से चिढते आत्महनक है बने हुए ।
अवक्तव्य ही "तत्त्व सर्वथा" जड़ जन कहते तने हुए ॥१५॥

अवक्तव्य वक्तव्य नित्य या अनित्य ही यह वस्तु रही ।
सदसत् या है एक रही या अनेक अथवा वस्तु रही ॥
कहे सर्वथा यो नय करते वस्तु-तत्त्व को दूषित है ।
पोषित करते, किन्तु आपके स्याद् पद से नय भूषित है ॥१६॥

प्रमाण द्वारा ज्ञात विषय की सदा अपेक्षा रखता है ।
किन्तु 'सर्वथा नियम' रखे बिन वस्तु-भाव को चखता है ॥
ऐसा स्याद् पद पर मत का नहि तव मत का शृगार रहा ।
अतः 'सर्वथा पद' ही परमत निजमत को सहार रहा ॥१७॥

प्रमाण नय साधन से साधित अनेकान्त-मय तव मत मे ।
अनेकान्त भी अनेकान्त है जिसका सेवक अवनत मैं ॥
पूर्ण वस्तु को विषय बनाते प्रमाण-वश नैकान्त बने ।
वस्तु-धर्म हो एक विवक्षित, नय-वश तब एकान्त तने ॥१८॥

निराबाध और निरुपम शासन के शासक गुण-धारक हो ।
सुखद-योग-गुण-पालन का पथ दिखलाते अघ मारक हो ॥
इन्द्रिय-विजयी धर्म तीर्थ के हे अर जिन तुम नायक हो ।
तुम बिन, भविजन हितपथ दर्शक, अन्य कौन ? सुखदायकहो ॥१९॥

आगम का भी अल्प ज्ञान है पूर्ण ज्ञान वह मिला नही ।
मद बुद्धि मम, विशद नही है भक्ति-भाव मिला यही ॥
मानस आगम-बल से फिर भी जो कुछ तव गुणगान किया ।
पाप-शमन का हेतु बनेगा वरद ! यही अनुमान लिया ॥२०॥

- दोहा -

नाम-मात्र भी नहिं रखो नाम-काम से काम ।
ललाम आतम मे करो विराम आठो याम ॥१॥

नाम धरो 'अर' नाम तव अत स्मरूँ अविराम ।
अनाम बन शिव-धाम मे काम बनूँ कृत-काम ॥२॥

मल्लिनाथ-स्तवन

बने महा ऋषि जब तुम, तुममे सुसुप्त जागृत योग हुआ ।
लोकालोकालोकित करता अतुलनीय आलोक हुआ ॥
इसीलिए बस सादर आकर अमराकर नर-जगत सभी ।
जोड करो को हुआ प्रणत तव, पद में हूँ मुनि जगत अभी ॥१॥

तव तन आभा तप्त स्वर्ण-सी तन की चारो ओर सही ।
परिमण्डल की रचना करती यह शोभा नहि और कही ॥
वस्तु-तत्त्व को कहने आतुर स्याद्-पद वाली तव वाणी ।
दोनो मुनिजन को हर्षाती जिनकी शरणा सुखदानी ॥२॥

मनमानी तज प्रतिवादी जन तव सम्मख हो गतमानी ।
वाद करे ना कुतर्क करते जब प्रभु पूरण हो ज्ञानी ॥
तथा आपके शुभ दर्शन से हरी-भरी हो भी लसती ।
खिली कमलिनी मृदुतम-सी यह धरा सुन्दरा भी हँसती ॥३॥

शान्त कान्ति से शोभ रहे है पूर्ण चन्द्रमा जिनवर है ।
शिष्य-साधु चहुँ-ओर घिरे हैं गृह-बन गणधर मुनिवर है ॥
तीर्थ आप का ताप मिटाता अनुपम सुख का हेतु रहा ।
दुखित भव्य भव पार कर सके भव-सागर का सेतु रहा ॥४॥

शुक्ल ध्यान मय तपश्चरण के दीप्त अनल से जला जला ।
राख किया कटु पाप कर्म को तभी तुम्हे शिव किला मिला ॥
शल्य-रहित कृत-कृत्य बने हो मल्लिनाथ जिन पुगव हो ।
चरणो मे दो शरण मुझे अब भव-भव पुनि ना सभव हो ॥५॥

- दोहा -

मोह मल्ल को मार कर मल्लिनाथ जिनदेव ।
अक्षय बनकर पा लिये अक्षय सुख स्वयमेव ॥१॥

बाल ब्रह्मचारी विभो बाल समान विराग ।
किसी वस्तु से राग ना मम तव पद से राग ॥२॥

मुनिसुव्रतनाथ-स्तवन

मुनि बन मुनि-पथ चलते मुनिपन में दृढ हो मुनिनाथ हुए ।
मुनिसुव्रत प्रभु पाप-रहित हो निज मे रत दिन-रात हुए ॥
मुनियो की उस भरी सभा मे अनुपम द्युति से शोभ रहे ।
तारक गण के ठीक बीच ज्यो शोभित शीतल सोम रहे ॥१॥

द्वादश विध खर तप कर तुमने देह-मोह सब भुला दिया ।
काम रोग को अहकार को पूर्ण रूप से जला दिया ॥
मोर-कण्ठ-सम सघन नीलिमा फलत तव तन मे फूटी ।
पूर्णचन्द्र के परित फैली मण्डल-द्युति पडती झूठी ॥२॥

चन्द्र-चाँदनी-सम धवलित शुचि रुधिर भरा है तव तन मे ।
परम सुगधित निर्मल तन है ऐसा तन ना त्रिभुवन मे ॥
केवल सुख-कर नही किन्तु तव तन मन वच की परिणतियाँ ।
विस्मय जग को सदा कराती जिन से मिटती चहुँ गतियाँ ॥३॥

युगो-युगो से जड-चेतन ये जग के पदार्थ सारे है ।
ध्रौव्य-जनन-मय तथा नाशमय लक्षण यथार्थ धारे है ॥
इस विध तव वाणी यह कहती, सकल विश्व के ज्ञायक है ।
शिव पथ शासन कर्त्ताओ मे कुशल आप हो शासक है ॥४॥

निरुपम चौथे शुक्ल ध्यान मय सबल निज मे जगा लिया ।
अष्टकर्म-मल पाप-किट्ट को जला-जला कर मिटा दिया ॥
भवातीत उस मोक्ष-सौख्य का लाभ आपने उठा लिया ।
करो नाश अब मम भव का भी, मन मे तव पद बिठा लिया ॥५॥

- दोहा -

मुनि बन मुनिपन मे निरत हो मुनि यति बिन् स्वार्थ ।
मुनिव्रत का उपदेश दे हमको किया कृतार्थ ॥१॥

यही भावना मम रही मुनिव्रत पाल यथार्थ ।
मै भी मुनिसव्रत बनूँ पावन पाय पदार्थ ॥२॥

नमिनाथ-स्तवन

स्तुत्य रहे या नही रहे, फल उसे मिले या नही मिले ।
स्तुति जब करता सज्जन मन मे पुण्य-भाव की कली खिले ॥
निजाधीन औं सुलभ मोक्षपथ जग में इस विध बनता हो ।
पूज्य ईश नमि जिन फिर क्यो ना तव थुति रत बुध जनता हो ॥१॥

परम ब्रह्म रत हो तोडा भव-बधन प्रभु कृत-काम बने ।
इसीलिए जिन सुधीजनों के बोध-धाम शिव-धान बने ॥
ज्ञान-ज्योति अति प्रखर किरण ले उदित हुई फलत· तुम मे ।
पर-मत जुगुनू सम कुण्ठित है तेज उदित हो रवि नभ मे ॥२॥

अस्ति नास्ति औ उभय रूप भी अवक्तव्य भी तत्त्व रहा ।
अवक्तव्य भी तीन रूप यों सप्त भगमय तत्त्व रहा ॥
आपस मे आपेक्षित बहुविध धर्मों से जो भरित रहा ।
गौण-मुख्य कर बहुनय-वश वह लोक ईश से कथित रहा ॥३॥

अणु-भर भी षडारम्भ हो वहाँ दया यह नही रहे ।
जीव-दया सो परम-ब्रह्म है जग मे बुधजन यही कहे ॥
अत· दया की प्राप्ति हेतु प्रभु करुण भाव से पूर रहे ।
उभय संग तज बनो दिगबर विकृत वेष से दूर रहे ॥४॥

भूषण वसनादिक से रीता नग्न काय तव यो गाता ।
जीता तुमने काम-बली को जित इन्द्रिय हो हो धाता ॥
तीक्ष्ण शस्त्र निज उर मे थित अदय क्रोध का नाश किया ।
निर्मोही हो अत· शरण दो शान्ति-सदन मे वास किया ॥५॥

- दोहा -

अनेकान्त का दास हो अनेकान्त की सेव ।
करूँ गहूँ मै शीघ्र से अनेक गुण स्वयमेव ॥१॥

अनाथ में जगनाथ हो नमीनाथ दो साथ
तव पद में दिन-रात हूँ हाथ जोड नत-माथ ॥२॥

नेमिनाथ-स्तवन

ऋद्धि-सिद्धि के धारक, ऋषि हो, प्राप्त किया है निज धन को ।
शुक्ल ध्यान मय तेज अनल से जला दिया विधि-इधन को ।।
खिले-खुले तव नील कमल-सम, युगल-सुलोचन विकसित है ।
सकल ज्ञान से सकल निरखते भगवन जग मे विलसित है ।।१।।

विनय-दमादिक पाप-रहित-पथ के दर्शक तीर्थंकर हो ।
लोक-तिलक हरिवश मुकुट हो, सकट के प्रलयकर हो ।।
हुए शील के अपार सागर, भवसागर से पार हुए ।
अजरामर हो अरिष्ट नेमी जिनवर ! जग मे सार हुए ।।२।।

झिलमिल-झिलमिल मणियो से जो जडित मुकुट को चढा रहे ।
तव चरणो मे अवनत सुरपति और मजुता बढा रहे ।।
कोमल-कोमल लाल-लाल तव युगल पाद-तल विमल लसे ।
तालाबो मे खुले-खिले-ज्यो लाल दलो से कमल लसे ।।३।।

शरद-काल के पूर्ण चन्द्र की शुभ्र चाँदनी-सी लसती ।
पूज्य-पाद की नखावली ये जिनमे जा मम मति बसती ।।
थुति करते नित तव पद मे नत प्रभु दर्शन की आस लगी ।
बुध-ऋषि, जिन को जिन आतम सुख की चिर से अतिप्यास लगी ।।४।।

तेज-भानु-सा चक्र-रत्न से जिनके कधे शोभित है ।
घिरे हुए है स्वजन बधुओ से जो पर मे मोहित है ।।
सघन-मेघ-मम नील वर्ण का जिन का तन जगनामी है ।
भ्रात चचेरे कृष्ण-राज तव तीन खण्ड के स्वामी है ।।५।।

स्वजन-भक्ति से मुदित रहे है जन-जन के जो सुखकर है ।
धर्म-रसिक है विनय-रसिक है इस विध चक्री हलधर है ।।
भक्ति-भाव से प्रेरित होकर नेमिनाथ तव ! चरणन मे ।
दोनो आकर बार-बार नत होते हर्षित तन-मन मे ।।६।।

सौराष्ट्र मे, वृषभ-कध-सम उन्नत पर्वत अमर रहे ।
खेचर महिलाओ से सेवित जिसके शोभित शिखर रहे ॥
बादल-दल-से जिसके तट भी सदा घिरे ही रहते है ।
जहॉ इन्द्र ने तव गुण लक्षण लिखे, जिन्हे बुध कहते है ॥७॥

तव गुण लक्षण धारण करता अत तीर्थ वह महा बना ।
ऊर्जयन्त फिर ख्यात हुआ है पुराण कहते महामना ॥
सुचिर काल से आज अभी भी जिसका वन्दन करते है ।
ऋषि-गण भी अति प्रसन्न होते सफल स्वजीवन करते है ॥८॥

बाहर से भी भीतर से भी ना तो साधक बाधक हो ।
इन्द्रिय गण हो यद्यपि तुममे,तदपि मात्र प्रभु ज्ञायक हो ॥
एक साथ जिननाथ, हाथ की रेखा सम सब त्रिभुवन को ।
जान रहे हो देख रहे हो विगत-अनागत कण-कण को ॥९॥

इसीलिए यति मुनिगण से प्रभु-पद युग-पूजित सुखदाता ।
अद्भुत से अद्भुत तम आगम-सगत चारित तव साता ॥
इस विध तव अतिशय का चिन्तन करके मन मे मुदित हुआ ।
जिन-पद मे अति निरत हुआ हूँ आज भव्य शुभ उदित हुआ ॥१०॥

- दोहा -

नील गगन मे अधर हो शोभित निज मे लीन ।
नील कमल आसीन हो नीलम से अति नील ॥१॥

शील-झील मे तैरते नेमि जिनेश सलील ।
शील डोर मुझ बॉध दो डोर करो मत ढील ॥२॥

पार्श्वनाथ-स्तवन

जल वर्षाते घने बादले काले-काले डोल रहे ।
झझा चलती बिजली कडकी घुमड-घुमड कर बोल रहे ॥
पूर्व वैर-वश कमठ देव हो इस विध तुमको कष्ट दिया ।
किन्तु ध्यान मे अविचल प्रभु हो घाति कर्म को नष्ट किया ॥१॥

द्युति-मय बिजली-सम पीला निज फण का मण्डप बना लिया ।
नाग इन्द्र तव कष्ट मिटाने तुम पर समुचित तना दिया ॥
दृश्य मनोहर तब वह दृश्य विस्मय-कारी एक बना ।
सध्या मे पर्वत को ढकता समेत-बिजली मेघ घना ॥२॥

आत्म ध्यान-मय कर मे खर तर खड्ग आपने धार लिया ।
मोहरूप निज दुर्जय रिपु को पल-भर मे बस मार दिया ॥
अचिन्त्य-अद्भुत आर्हत पद को फलत पाया अघहारी ।
तीन लोक मे पूजनीय जो अतिशयकारी अतिभारी ॥३॥

मनमाने कुछ तापस ऐसे तप करते थे वनवासी ।
पाप-रहित तुम को लख, इच्छुक तुम-सम बनने अविनाशी ॥
हम सब का श्रम विफल रहा यो समझ सभी वे विकल हुए ।
शम-यम-दम मय सदुपदेश सुन तव चरणन मे सफल हुए ॥४॥

समीचीन विद्या-तप के प्रभु रहे प्रणेता वरदानी ।
उग्र-वश मय विशाल नभ के दिव्य सूर्य, पूरण ज्ञानी ॥
कुपथ निराकृत कर भ्रमितो को पथिक सुपथ के बना दिये ।
पार्श्वनाथ मम पास वास बस, करो, देर अब बिना किये ॥५॥

- दोहा -

श्वास दास की आस बस श्वास-श्वास पर वास।
पार्श्व करे मत दास को उदासता का दास ॥१॥

ना तो सुर-सुख चाहता शिव-सुख की ना चाह।
तव थुति-सरवर मे सदा होवे मम अवगाह ॥२॥

वीर-स्तवन

तव गुण-गण की फैल रही है विमल कीर्ति वह त्रिभुवन मे।
तभी हो रहे शोभित ऐसे वीर देव बुध जन-जन मे ॥
कुन्द पुष्प की शुक्ल कान्ति-सम कान्ति धाम शशि हो भाता।
घिरा हुआ हो जिससे उडुदल गीत-गगन मे हो गाता ॥१॥

सत युग मे था कलियुग मे भी तव शासन जयवन्त रहा।
भव्यजनो के भव का नाशक मम भव का भी अन्त रहा ॥
दोष चाबु को निरस्त करते पर मत खण्डन करते है।
निज-प्रतिभा से अत गणी ये जिनमत मण्डन करते है ॥२॥

प्रत्यक्षादिक से ना बाधित अनेकान्त मत तव भाता।
स्याद्-वाद सब वाद-विवादो का नाशक मुनिवर! साता ॥
प्रत्याक्षादिक से है बाधित स्याद्वाद से दूर रहे।
एकान्ती मत इसीलिए सब दोष धूल से पूर रहे ॥३॥

दुष्ट दुराशय धारक जन से पूजित जिनवर रहे कदा?
किन्तु सुजन से सुरासुरो से पूजित वदित रहे सदा ॥
तीन लोक के चराचरो के परमोत्तम हितकारक है।
पूर्ण ज्ञान से भासमान शिव को पाया अघहारक है ॥४॥

समवशरण थित भव्यजनों को रुचते मन को लोभ रहे ।
सामुद्रिक ओ आत्मिक गुण से हे प्रभुवर अति शोभ रहे ॥
चमचम चमक निजी कान्ति से ललित मनोहर उस शशि को ।
जीत लिया तव काय कान्ति से प्रणाम मम हो जिन ऋषि को ॥५॥

मुमुक्षु जन के मनवाछित फलदायक ! नायक ! जिन तुम हो ।
तत्त्व-प्ररूपक तव आगम तो श्रेष्ठ रहा अति उत्तम हो ॥
बाहर-भीतर श्री से युत हो माया को नि:शेष किया ।
श्रेष्ठ श्रेष्ठतम कठिन कठिनतम यम-दम का उपदेश दिया ॥६॥

मोह-शमन के पथ के रक्षक अदया तज कर सदय हुए ।
किया जगत मे गमन अबाधित सभय सभीजन, अभय हुए ॥
ऐसा लगते तब, गज जेसा मद-धारा, मद बरसाता ।
बाधक गिरि की गिरा करिनियाँ अरुक अनाहत बस जाता ॥७॥

एकान्ती मत-मतान्तरो मे वचन यदपि श्रुति-मधुर सभी ।
किन्तु मिले न सगुण कभी भी नहीं सकल-गुण प्रचुर कभी ॥
तव मत ''समन्तभद्र'' देव हे सकल गुणो से पूरण है ।
विविध नयो की भक्ति-भूख को शीघ्र जगाता चूरण है ॥८॥

- दोहा -

नीर-निधी-से धीर हो वीर बने गभीर ।
पूर्ण तैर कर पा लिया भवसागर का तीर ॥१॥

अधीर हूँ मुझ धीर दो सहन करूँ सब पीर ।
चीर-चीर कर चिर लखूँ अन्तर की तस्वीर ॥२॥

भूल्य क्षम्य हो !

लेखक कवि मै हूँ नही, मुझ मे कुछ नहि ज्ञान।
त्रुटियां होवे यदि यहां, शोध पढे धीमान् ॥

मंगलकामना

विना-भीति विचरूँ सदा वन मे ज्यो मृगराज।
ध्यान धरूँ परमात्म का निश्चल हो गिरिराज ॥१॥

सागर सम गभीर मै बनूँ चन्द्र-सम शान्त।
गगन-तुल्य स्वाश्रित रहूँ हरूँ दीप-सम ध्वान्त ॥२॥

रवि सम पर-उपकार मै करूँ समझ कर्त्तव्य।
रखूँ न मन मे मान-मद सुन्दर हो भवितव्य ॥३॥

चिर सचित सब कर्म को राख करूँ बन आग।
तप्त आत्म को शान्त भी करूँ बनूँ गतराग ॥४॥

सदा सग बिन पवन सम विचरूँ मै निस्सग।
मत्र जपूँ निज तन्त्र का नष्ट शीघ्र हो अग ॥५॥

तन मन को तप से तपा स्वर्ण बनूँ छविमान।
भक्त बनूँ भगवान को, भजूँ बनूँ भगवान ॥६॥

द्रव्य हेय जड़मय तजूँ, ध्येय बना निज द्रव्य।
कीलित कर निज चित्त को पाऊँ शिव-सुख दिव्य ॥७॥

भद्र बनूँ बस भद्रता जीवन का शृंगार ।
द्रव्य दृष्टि मे निहित है सुख का वह सचार ॥८॥

तामस बस प्रति लोम हो मुझमे चिर बस जाय ।
है यह हार्दिक भावना मोह सभी नश जाय ॥९॥

गुरु-स्मृति

तरणि "ज्ञानसागर" गुरो !, तारो मुझे ऋषीश ।
करुणाकर ! करुणा करो, कर से दो आशीष ॥

स्थान एवं समय-परिचय

भव सागर से भीत है सागर के सागार ।
प्रथम बार पहुँचा यहाँ ससघ मे अनगार ॥१॥

द्रव्य-गगन-गति-गध की वीर जयन्ती आज ।
पूर्ण किया इस ग्रन्थ को ध्येय ! बनूँ जिनराज ॥२॥





गुणोदय

मूल आत्मानुशासन (सस्कृत)

रचनाकार आचार्य गुणभद्र

पद्यानुवाद . आचार्य विद्यासागर

मंगलाचरण

सन्मति को मम नमन हो मम मति सन्मति होय ।
सुर नर पशु गति सब मिटे गति पंचम गति होय ॥१॥

चन्दन चन्दर चान्दनी से जिन धुनि अति शीत ।
उसका सेवन मैं करूँ मन-वच-तन कर नीत ॥२॥

सुर, सुर-गुरु कर गुरु-चरण रज सरपर सुचढाय ।
यह मुनि-मन गुरु भजन में निशि दिन क्यों न लगाय ॥३॥

कुन्द-कुन्द को नित नमूँ हृदय कुन्द खिल जाय ।
परम सुगन्धित महक में जीवन मम घुल जाय ॥४॥

गुण गण निधि गुणभद्र-गुरु महके अगुरु सुगन्ध ।
अर्पित जिनपद में रहे गंधहीन मम छन्द ॥५॥

तरणि ज्ञानसागर गुरो ! तारो मुझे ऋषीश ।
करुणा-कर करुणा करो कर से दो आशीष ॥६॥

आतम अनुशासन का पद्यमयी अनुवाद ।
करूँ, प्रयोजन बस यही मोह मिटे परमाद ॥७॥

गुणोदय

सादर उर मे बिठा वीर को जिनके विधि सब विलय हुए ।
समवशरण की श्री शोभा से शोभित, गुणगण निलय हुए ॥
आतम दर्शक आतमशासन नामक आगम की रचना ।
भविक जनो को मोक्ष मिले बस करूँ प्रयोजन औ' कुछ ना ॥१॥

सुख की आशा करते-करते युग-युग अब तक बीत गये ।
भव-भव, भव-दुख सहते-सहते भव-दुख से अति भीत हुए ॥
मन वाछित फल मिले तुम्हे बस यही भावना भाकर मै ।
दुख का हारक सुख कारक पथ्य कहूँ जिन चाकर मै ॥२॥

इसका सेवन करते आता यदि कुछ-कुछ कटु स्वाद मनो ।
किन्तु अन्त मे मधुर-मधुरतम मुख बनता निर्बाध बनो ॥
स्वल्प मात्र भी इसीलिए मत इससे मन मे भय लाना ।
रोग मिटाने रागी चखता जिस विधि कटु औषध नाना ॥३॥

करुणा रस पूरित उर वाले जग हित मे नित निरत रहे ।
दुर्लभ जग मे सुलभ अदय जन वाचाली बस फिरत रहे ॥
ढुलमुल-ढुलमुल-नभ मे डोले बिन जल बादल बहुत बके ।
सजल जलद हैं जल वर्षाते कम मिलते मन मुदित भले ॥४॥

जन-मन हारक पर निदक नहि विविध प्रश्न भी सहन करे ।
उत्तर मुख मे रखते प्रतिभा, निधि गुणगण को ग्रहण करे ॥
शमी दमी व्यवहार चतुर है शास्त्र ज्ञान के सही धनी ।
नित मित मिश्री मिश्रित प्रकटित बोल बोलने सुधी गणी ॥५॥

शिवपथ पथिको को पथदर्शित करते रत बोधित रवि को।
दोष रहित श्रुत पूरण धरते धरते शुचि चारित छवि को॥
निरीह निर्मद लोक विज्ञ मृदु बुध जन से भी वंदित है।
यतिपति गुण थे जिनमे वह "गुरु" और गुणो से मंडित है॥६॥

मम हित किसमे निहित रहा यो चिंतित दुःखित प्रति श्वासा।
धर्म-श्रवण, निर्णय, धारण बल रखे भव्य, शिव-सुख आशा॥
प्रमाण नय से सिद्ध, दयामय धर्म श्रवण का अधिकारी।
दूर दुराग्रह से हो सुनकर धर्म धारता सुखकारी॥७॥

हिंसादिक उन पाप कर्म कर, प्राणी पल पल दुख पाता।
लोक मान्य यह सूक्ति रही है धर्म कर्म कर सुख पाता॥
सुर-सुख या शिव-सुख चाहो यदि पूर्ण पाप का त्याग करो।
चर्म-राग तज, धर्म भाव मे भाग्य मान अनुराग करो॥८॥

सभी चाहते शिव-सुख पाना मिले शीघ्र शिव करम नशे।
वह शुचि व्रत से, व्रत धी से, धी आगम से, श्रुति परम वशे॥
श्रुति जिन से जिन दोष रहित हो, दोष सहित जिन आप्त नही।
सही समझ शिव-सुखद आप्त को भजो तजो अघ व्याप्त मही॥९॥

द्विविध त्रिविध दशविध समदर्शन मदादि बिन भव काम हने।
संवेगादिक से वर्धित, त्रय वितथ बोध शुचि धाम बने॥
मोक्ष महल सोपान प्रथम जो शिव पथ के सब पथिको को।
तत्त्वो अर्थो का विषयक है सेव्य सदा बुधपतियो को॥१०॥

आज्ञा उद्भव मार्ग समुद्भव सदुपदेश-भव, यथा रहा।
सूत्र समुद्भव, बीज समुद्भव, समास उद्भव तथा रहा॥
विस्तृत उद्भव अर्थ समुद्भव इस विध दश विध दर्शन है।
आवगाढ, परमावगाढ है गाता यह जिन-दर्शन है॥११॥

मोह नाश से जिन की आज्ञा पालन आज्ञा दर्शन है ।
ग्रन्थ-श्रवण बिन शिव सुख पथ मे रुचि हो मारग दर्शन है ॥
परम पूत तम पुरुष तथा सुन परम दृष्टि जो पाना है ।
ग्रन्थ सृजक गणधर ने उसको सदुपदेश-भव माना है ॥१२॥

पदार्थ दल को अल्प जान रुचि हो समासभव वही भला ।
शास्त्र अर्थ जो अगम ज्ञात हो किसी बीज पद सही खुला ॥
मोह कर्म के वर उपशम से बीज समुद्भव दृष्टि खिली ॥
मुनि-व्रतविधि-सूचक सूतर सुन सूत्र दृष्टि वह दृष्टि मिली ॥१३॥

द्वादशाग सुन श्रद्धा करना वह है विस्तृत दृष्टि रही ।
अग बाह्य बिन सुन तदश मे रुचि हो सार्थक दृष्टि वही ॥
मथन अग का अग बाह्य का दृष्टि वही 'अवगाढ' रही ।
पूर्ण ज्ञान मे आगत मे रुचि दृष्टि "परम-अवगाढ" वही ॥१४॥

मन्द मन्दतम कषाय कर, धर बोध चरित खरतर तपना ।
वृथा भार पाषाण खण्ड सम समदर्शन बिन सब सपना ॥
समदर्शन से मडित यदि हो सहज सधे अघ-विधि खपना ।
मजु-मजुतम मणि-माणिक सम पूज्य बने, फिर 'शिव' अपना ॥१५॥

किसमे मम, हित अहित निहित है तुझको यह ना विदित रहा ।
हुआ हिताहित लाभ हानि ना मोह-रोग से व्यथित रहा ॥
क्लेश बिना शिशु को जननी ज्यो शिवपथ परिचित करा रहे ।
कोमल समकित सस्कारो से हम सस्कारित करा रहे ॥१६॥

विषम विषयमय अशन उडाया तुमने कितना पता नही ।
मोह महाज्वर तभी चढा है तृष्णा तुमको सता रही ॥
अणुव्रत लेना नि शकित तुमको समयोचित सार यही ।
प्राय पाचक पथ्य पेय से प्रारभिक उपचार सही ॥१७॥

सुखमय जीवन जीते हो या दुखमय जीवन बीत रहा ।
धर्म एक ही शरण जगत् में आगम का यह गीत रहा ॥
सुखमय जीवन यदि है मानो धर्म उसे औ पुष्ट करे ।
दुखमय जीवन बीत रहा यदि धर्म उसे झट नष्ट करे ॥१८॥

मन वाछित इन्द्रिय विषयो के भॉति भॉति के सुख सारे ।
धर्म रूप वर नन्दन वन के तरुओ के रस फल प्यारे ॥
कुछ भी कर तू वृष तरुओ का किसी तरह रक्षण करना ।
प्राप्त फलो को सचय कर कर सुचिर काल भक्षण करना ॥१९॥

भव्य भद्र सुन धर्म एक ही अनुपम सुख का साधक है ।
साधक जो हो, स्वीय कार्य का नहीं विराधक बाधक है ॥
मन मे भय हो, यदि हो सकता इस सुख का अवसान कही ।
किन्तु स्वप्न मे भी नहि होना धर्म विमुख धर ध्यान सही ॥२०॥

धर्म पालते फलत मिलता अतुल विभव भरपूर सही ।
भोग-भोगते उनका भोगो किन्तु धर्म को भूल नही ॥
प्रथम बीज बोकर कृषि करता कृषक विपुल फल पाता है ।
किन्तु पृथक् रख बीज सुरक्षित पुन शेष फल खाता है ॥२१॥

कल्पवृक्ष से यथायोग्य ही कल्पित फल भर मिलता है ।
चितामणि से मन मे चितित मिलता पर मन खिलता है ॥
किन्तु कल्पना चिता के बिन अनुपम अव्यय फल देता ।
सत्य धर्म है क्यो ना मन तू तदनुसार रे, चल लेता ॥२२॥

पाप-पुण्य का केवल कारण अपना ही परिणाम रहा ।
विज्ञ बताते इस विध आगम गाता यह अभिराम रहा ॥
अत. पाप का प्रलय कराना प्रथम आपका कार्य रहा ।
पल-पल अणु-अणु परम पुण्य का सचय अब अनिवार्य रहा ॥२३॥

धर्म त्याग कर पागल पामर पापाश्रित है गिरे हुए ।
विषय सुखो का सेवन करते मोह भाव से घिरे हुए ॥
सरस फलो से लदा हुआ है मूल सहित द्रुम छेद रहे ।
फल खाने मे निरत हुएहै नही अनागत वेद रहे ॥२४॥

कृत भी हो, पर से कारित भी अनुमत भी अनिवार्य रहा ।
मन से वच से औ तन से भी पूर्ण शक्य जो कार्य रहा ॥
उसी धर्म का धारण पालन किस विध फिर नही हो सकता ।
उज्ज्वल जल है पीलो धोलो पल भर मे मल धो सकता ॥२५॥

जब तक जिसके जीवन मे वह जीवित जागृत धर्म रहा ।
मारक को भी नही मारते तब तक ना अघ कर्म रहा ॥
चूकि धर्म च्युत पिता पुत्र भी कट-पिट आपस मे मिटते ।
अत धर्म ही सबका रक्षक जिससे सब सुख है मिलते ॥२६॥

पाप बन्ध वह हो नहि सकता सुख के सेवन करने से ।
किन्तु पाप हो धर्म विघातक हिसादिक अघ करने से ॥
मिष्ट अन्न के अशन मात्र से अपच रोग नहि वह आता ।
अशन रसन का किन्तु दास अति अधिक अशन खा दुख पाता ॥२७॥

सप्त व्यसन तो स्पष्ट दु ख है पर भव मे भी दुखकारी ।
पाप ताप है किन्तु उन्हे तुम मान रहे अति सुखकारी ॥
इन्द्रिय सुख मे अनासक्त ज्यो बुधजन जिसको अपनाते ।
उभय लोक मे सुखद धर्म को क्यो न मानते अपनाते ॥२८॥

दोष रहित है, त्राण रहित है रहती है भयभीत यही ।
देह गेह ही धन है जिनका जिनकी जीवन रीत यही ॥
दत पक्ति मे मिले मृदुल तृण भोजन करती मृगी व्यथा ।
व्याध उन्हे भी मार मिटाते पर की अब क्या रही कथा ॥२९॥

पर निन्दन तज देना इससे सभी सर्वथा दूर रहो ।
मृषा वचन मत बोलो मुख से करो न चोरी भूल अहो ॥
चूंकि धर्म-धन यश-धन धी-धन इष्ट तुम्हे है सुखकर है ।
इस भव हित भी पर भव हित भी अर्जित कर लो अवसर है ॥३०॥

पुण्य करो निज पुण्य पुरुष का कुछ नहि करती आपद है ।
आपद ही वर बन जाती है सुखद सपदा आस्पद है ॥
निखिल जगत को निजी ताप से तपन तपाता यद्यपि वह ।
सकल कली सह कमल कली को खुला खिलाता तदपि अहा ॥३१॥

सुर गुरु मन्त्री सुर सैनिक थे जिसके शिर पर 'हरिकर' था ।
स्वर्ण दुर्ग था वज्र शस्त्र था ऐरावत वर कुंजर था ।
वही इन्द्र भी इस विध रण मे रावण दानव से हारा ॥
अत. शरण वस दैव, वृथा है पौरुष को वह धिक्कारा ॥३२॥

धरणीपतिसम अचल कुलाचल मोह भाव से रहित हुए ।
जलनिधि धन राग रहित हो गुण मणि निधि से सहित हुए ॥
पर आश्रित ना नभ सम स्वाश्रित जग हित मे निर निरत हुए ।
सन्त आज भी लगे पुराने मुनिसम कतिपय विरत हुए ॥३३॥

नृप-पद जैसे सुख लव पाने मोह मय, पी भ्रमित हुए ।
पिता पुत्र को पुत्र पिता को ठगते धन से भ्रमित हुए ॥
अहो ! मूढ जग जनन मरण के दीर्घ दाढ मे पडा हुवा ।
नहि लखता, रत, तन हरने मे निकट काल को खडा हुवा ॥३४॥

मोही जड जन अन्ध बने है विषयो मे जो झूल रहे ।
महा अन्ध है अन्धो से भी सत्यपथ को भूल रहे ॥
नेत्रो से जो अन्ध बने है मात्र रूप को नहि लखते ।
किन्तु मूढ विषयान्ध बने कुछ भी न लखे सुध नहि रखते ॥३५॥

प्रति प्राणी मे आसारूपी गर्त पडा है महा बडा ।
जिसमे सब ससार समाकर लगता अणुसम रहा पडा ॥
किसको कितना उसका भाजित भाग मिले फिर बता सही ।
विषय वासना इसीलिये बस विषय-रसिक की वृथा रही ॥३६॥

उचित आयु धन तन सुख मिलते पास पुण्यमय रतन रहा ।
यदि वह नहि तो धनादि भी नहि भले करो अब यतन महा ॥
यही सोच इस भव सुख पाने रुचि लेते ये आर्य नही ।
परभव सुख के निशिदिन करते कार्य सुधी अनिवार्य सही ॥३७॥

कटु कटुतम विषसम विषयो मे कौन स्वाद तू लुभित सुधी ।
जिसे ढूँढने निजी अमृत का मूल्य मलिन कर अमित दुखी ॥
मन के अनुचर विषय रसिक इन इन्द्रिय गण से विकृत हुवा ।
पित्त ज्वराकुल नर मुख सम तव स्वाद, खेद यह विदित हुवा ॥३८॥

विरत भाव से विरत रहा तू विषय राग रसिकेश रहा ।
खाता खाता भोग्य जगत को तेरे मुख से शेष रहा ॥
चूकि शक्ति नहि तुझमे उतनी भोग सके जो पूर्ण इसे ।
राहु केतु के मुख से जिस विध शेष रहे शशि सूर्य लसे ॥३९॥

किसी तरह भी विश्वसारमय सार्वभौम पद प्राप्त किया ।
किन्तु अन्त मे तजा उसे तब चक्री शिव पद प्राप्त किया ॥
त्याज्य परिग्रह ग्रहण पूर्व तज नहि तो तव उपहास हुवा ।
पतित धूल मे मोदक ले ऋषि का जिस विध यश नाश हुवा ॥४०॥

सुबुध-चरित को भी वह करता पूर्ण पापमय कभी कभी ।
कभी कभी तो पूर्ण धर्ममय, पाप धर्ममय कभी कभी ॥
अध रज्जु सपादन सम गज स्नान सदृश गृह धर्म रहा ।
या पागल चेष्टा सम इससे हित न सर्वथा शर्म रहा ॥४१॥

खेद बोध बिन नृप सेवक बन सुखार्थ धन से प्यार किया।
कृषि करता बन वनिक वनिकता करता वन नद पार किया॥
विष मे जीवन तेल रेत मे ढूढ रहा दिन रात अहा।
मोह भूत के निग्रह बिन सुख नही, तुझे ज्ञात हुआ॥४२॥

दुख से बचने तू सुख पाने चलता उलटी राह रहा।
दुख के कारण आशावर्धक भोग सपदा चाह रहा॥
तपन ताप से तपा हुवा नर शाति खोजता दुखी बडा।
बाँस जल रही उसकी छाया मे जाकर बस वही खडा॥४३॥

प्यास लगी जल निकट जानकर भू खोदत, पाषाण मिला।
अब क्या करता कार्य चल रहा खोदत ही पाताल चला॥
बिल-बिल करते कृमि-कुल जिसमे जहाँ मिला जल क्षार भरा।
प्यास बुझी ना, कण्ठ सूखता हाय भाग्य से हार मरा॥४४॥

नीति न्याय से धन अर्जन कर जीवन अपना बिता रहे।
उनका वह धन बढ नहि सकता साधु सन्त यो बता रहे॥
पूर्ण सत्य है नदियाँ बहती जग मे जल से भरी-भरी।
मलिन सलिल से सदा भरी वे विमल सलिल से कभी नहीं॥४५॥

अधर्म जिसमे पलता नहि है धर्म वही पर पलता है।
गन्ध दु:ख की आती नहि है उसमे ही सुख फलता है॥
वही ज्ञान है वही ज्ञान है जहाँ नही अज्ञान रहा।
वही सही गति चहुँ गतियो का जब होता अवसान रहा॥४६॥

धन-कन-कचन सचय करने असि मषि कृषि मे बन श्रमधी
बार-बार कटु पीर पा रहा विषय लपटी बन भ्रमधी॥
शम यम दम नियमादिक धरता यदि जाने शिवधाम सही
जनन मरण औ जरण जनित दुख-जीवन का फिर नाम नहीं॥४७॥

बाह्य-वस्तु को मान रहा यह अनिष्ट यह है इष्ट रहा ।
तत्त्व बोध बिन वृथा समय खो बार-बार पा कष्ट रहा ।।
निर्दय यम के ज्वाला मुख मे जब तक नहि जल मरता ।
तब तक पीले निजी शातिमय अविकल अविरल जल झरता ।।४८।।

परवश आशा सरिता मे तुम बह-बह कर अति दूर गये ।
इसे तैरने सक्षम तुम ही, क्या न पता, क्या भूल गये ? ।।
निजाधीन हो निज अनुभव कर शीघ्र तैरकर तीर गहो ।
नहि तो पातक मरण मगर मुख, मे पड भव दधि पीर सहो ।।४९।।

रस ले लेकर नीरस कह कर विषयी जन सब विषय तजे ।
उन्हे मूढ तुम अपूर्व समझे करे उन्ही की विनय भले ।।
आशा रूपी पाप खानमय रिपु सेना की रही ध्वजा ।
मिटे न तब तक विषय कीट ! रे शाति नही ना निजी मजा ।।५०।।

विषम नाग सम भोग भोगते खुद मर सुर सुख नहि पाते ।
निर्भय निर्दय बन, पर को मर, -वाते तातै दुख पाते ।।
साधु जनो ने जिनको त्यागा चाह उन्ही की नित करते ।
काम क्रोध के वशीभूत जन क्या-क्या अनर्थ नहि करते ।।५१।।

जिसको भावी कल है वह ही उसे विगत का कल बनता ।
ध्रुव कुछ नहि लग काल अनिल से बदल रहा बादल घनता ।।
भ्रान्त ! भ्रान्ति तज कुछ तो देखो ऑख खोलकर सही सही ।
बार बार हो भ्रमित रम रहा विषयो मे ही वही-वही ।।५२।।

नरको में दुख सहन किये है करनी की थी पाप भरी ।
दूर रहे वे बीत गये है जिनकी स्मृति भी ताप करी ।।
मदन बाण सम स्त्रीजन कटाक्ष से निर्धन तू जला मरा ।
हिम से मृदुतरु जलता जिस विध उसे याद कर भला जरा ।।५३।।

खेद बोध बिन नृप सेवक बन सुखार्थ धन से प्यार किया।
कृषि करता बन वनिक वनिकता करता बन नद पार किया॥
विष मे जीवन तेल रेत मे ढूढ रहा दिन रात अहा।
मोह भूत के निग्रह बिन सुख नहीं, तुझे ज्ञात हुआ॥४२॥

दुख से बचने त सुख पाने चलता उलटी राह रहा।
दुख के कारण आशावर्धक भोग सपदा चाह रहा॥
तपन ताप से तपा हुवा नर शान्ति खोजता दुखी बडा।
वास जल रही उसकी छाया मे जाकर बस वही खडा॥४३॥

प्यास लगी जल निकट जानकर भू खोदन, पाषाण मिला।
अब क्या करता कार्य चल रहा खोदत ही पाताल चला॥
बिल-बिल करते कृमि-कुल जिसमे जहाँ मिला जल क्षार भरा।
प्यास बुझी ना, कण्ठ सूखता हाय भाग्य से हार मरा॥४४॥

नीति न्याय से धन अर्जन कर जीवन अपना बिता रहे।
उनका वह धन बढ नहि सकता साधु सन्त यो बता रहे॥
पूर्ण सत्य है नदियाँ बहती जग मे जल से भरी-भरी।
मलिन सलिल से सदा भरी वे विमल सलिल से कभी नहीं॥४५॥

अधर्म जिसमे पलता नहि है धर्म वही पर पलता है।
गन्ध दु.ख की आती नहि है उसमे ही सुख फलता है॥
वही ज्ञान है वही ज्ञान है जहाँ नहीं अज्ञान रहा।
वही सही गति चहुं गतियो का जब होता अवसान रहा॥४६॥

धन-कन-कचन सचय करने असि मषि कृषि मे बन श्रमधी
बार-बार कटु पीर पा रहा विषय लपटी बन भ्रमधी॥
शम यम दम नियमादिक धरता यदि जाने शिवधाम सही
जनन मरण औ जरण जनित दुख-जीवन का फिर नाम नहीं॥४७॥

बाह्य-वस्तु को मान रहा यह अनिष्ट यह है इष्ट रहा ।
तत्त्व बोध बिन वृथा समय खो बार-बार पा कष्ट रहा ।।
निर्दय यम के ज्वाला मुख मे जब तक नहि जल मरता ।
तब तक पीले निजी शातिमय अविकल अविरल जल झरता ।।४८।।

परवश आशा सरिता मे तुम बह-बह कर अति दूर गये ।
इसे तैरने सक्षम तुम ही, क्या न पता, क्या भूल गये ? ।।
निजाधीन हो निज अनुभव कर शीघ्र तैरकर तीर गहो ।
नहि तो पातक मरण मगर मुख, मे पड भव दधि पीर सहो ।।४९।।

रस ले लेकर नीरस कह कर विषयी जन सब विषय तजे ।
उन्हे मूढ तुम अपूर्व समझे करे उन्ही की विनय भले ।।
आशा रूपी पाप खानमय रिपु सेना की रही ध्वजा ।
मिटे न तब तक विषय कीट ! रे शाति नही ना निजी मजा ।।५०।।

विषम नाग सम भोग भोगते खुद मर सुर सुख नहि पाते ।
निर्भय निर्दय बन, पर को मर, -वाते तातै दुख पाते ।।
साधु जनो ने जिनको त्यागा चाह उन्ही की नित करते ।
काम क्रोध के वशीभूत जन क्या-क्या अनर्थ नहि करते ।।५१।।

जिसको भावी कल है वह ही उसे विगत का कल बनता ।
ध्रुव कुछ नहि लग काल अनिल से बदल रहा बादल घनता ।।
भ्रान्त ! भ्रान्ति तज कुछ तो देखो ऑख खोलकर सही सही ।
बार बार हो भ्रमित रम रहा विषयो मे ही वही-वही ।।५२।।

नरको में दुख सहन किये है करनी की थी पाप भरी ।
दूर रहे वे बीत गये है जिनकी स्मृति भी ताप करी ।।
मदन बाण सम स्त्रीजन कटाक्ष से निर्धन तू जला मरा ।
हिम से मृदुतरु जलता जिस विध उसे याद कर भला जरा ।।५३।।

आत्म प्रवञ्चक चरित रहित व आधि व्याधि से सहित रहा।
सप्त धातुमय तन धारक है क्रोधी तन से उदित अहा॥
जीर्ण जरा का कवल बनेगा काल गाल में पतित हुवा।
हे! जन्मी क्यो? अहित विधायक विषयों में तू मुदित हुवा॥५४॥

तरुण अरुण की खरतर अरुणिम किरणों से नर तप्त यथा।
इन्द्रियमय अति ज्वाला से अति तृषित जगत सतप्त तथा॥
कुधी विषय सुख मिलते नहि तब अवकर दुखविध दुख पाता।
नीर निकट-तम कीच बीच फस बल-क्षीण बल दुख पाता॥५५॥

उचित रहा यह अगनी जलती, समयोचित इन्धन पाती।
इन्धन जब उसको ना मिलता, जली ना झट बुझ जाती॥
मोह अग्नि तो किन्तु निरन्तर, धू-धू करती ही जलती।
भोग मिले तो भले जले पर नहीं मिले तब भी जलती॥५६॥

दुखमय ज्वाला लपटो से क्या कभी काय तव जला नहीं।
मधु मक्खी सम प्रखर पाप से क्या तव जीवन छिला नहीं॥
गर्जन करते काल बाद्य के भयद शब्द क्या सुना नहीं।
क्यों न तजी फिर निद्य मोह की नींद, भाव यह गुना नहीं॥५७॥

तन मे घुलमिल रहना अघविधि फल चखना तव काम रहा।
पुनि पुनि पल पल विधि बधन मे पडना भी अविराम रहा॥
मृति ध्रुव फिर भी मृति भय रखता, निद्रा ही विश्राम रहा।
फिर भी जन्मी! भव मे रमता, विस्मय का यह धाम रहा॥५८॥

स्थूल हाडमय काष्ट रचित है सिरा नसो से बधा हुवा।
विधि-रिपु रुधिर पिशित से लिप्त चर्म से ढका हुवा॥
लगा जहाँ पर आयु रूप गुरु-साकल है तव तन घर है।
मूढ उसे तू जेल समझ मत वृथा राग कर अघकर है॥५९॥

विधि बधन के मूल बधुजन शरण काय नहि अशरण है ।
आपद गृह के महाद्वार है चिर परिचित प्रमदा जन है ।।
स्वार्थ परायण सुत, रिपु है, यदि तुमको है शिव चाह रही ।
तजो इन्हे बस भजो धर्म शुचि यही रही शिव राह सही ।।६०।।

जिनसे तृष्णा अनल दीप्त हो इधन सम क्या उस धन से ? ।
पाप जनक सबध रहा है जिनका क्या उन परिजन से ? ।
मोह नाग का विशाल बिल सम गेह रहा क्या, क्या तन से ? ।
भज समता देही ? सुख-वाछक प्रमाद तज तू तन मन से ? ।।६१।।

सेनापति औ बली जनो के सर्वप्रथम आश्रित रहती ।
सैनिक रक्षित, असिधर रक्षक, -दल से फिर आवृत रहती ।।
चमर अनिल से दीप शिखा सम, झट नरपति श्री भी मिटती ।
भला बता फिर साधारण जन की लक्ष्मी की क्या गिनती ।।६२।।

जनन मरण से व्याप्त रहा है जड मय तेरा यह तन है ।
खेद, खेद का अनुभव करता तन मे स्थित हो निशिदिन है ।।
अग्नि लगी एरण्ड काष्ट मे दोनो मुख जिसके जलते ।
जैसे उसमे स्थित कीडे हा ! दुख पाते मरते जलते ।।६३।।

दुराचार कर अघ करता क्यो दुखित हुवा सम नौकर के ।
इन्द्रिय पति मन से प्रेरित हो सुख पाने सुध खोकर के ।।
विषय त्याग, बन इन्द्रिय विजयी इन्द्रिय तेरे दास बने ।
अकलुष निज लख शिव सुख पा पाल चरित विधि नाश घने ।।६४।।

धन का अभिलाषी नहि धन पा, दुखी रहे निर्धनी सदा ।
धन पाकर भी तृप्त नहीं हो दुखी रहे नित धनी मुधा ।।
धनिक दुखी है दुखी निर्धनी खेद यहाँ सब देख दुखी ।
अतरग बहिरग सग तज निसग मुनि बस एक सुखी ।।६५।।

सुखाभास है केवल दुख है सुख जो परके आश्रित है ।
यथार्थ सुख तो शाश्वत सुख यह निज के आश्रित है ॥
ऐसा भी सुख मिल सकता क्या यदि मन शकित इस विध है ।
द्वादश विध तप तपते तापस सुखी सदा फिर किस विध है ॥६६॥

निजाधीन हो विचरण करते बिना याचना अशन करे ।
बुध जन सगति करते श्रुत का मनन करे मन शमन करे ॥
बाह्य-द्रव्य मे मन की गति कम, किस वर तप का सुफल रहा ।
यह सब सोचा सुचिर काल पर, जान सका ना विफल रहा ॥६७॥

विरति विषय से कर श्रुत चितन उर मे करुणा अति बहती ।
जिनकी मति एकान्त-तिमिर को हरने मे नित रत रहती ॥
अशन अन्त मे तज तन तजना पर आगम बल पर चलना ।
महामना उन मुनियो का यह लघु तप विधि का प्रतिफल ना ! ॥६८॥

कोटि-कोटि खुद उपाय कर लो तन लक्षण नहि सभव है ।
पर से करवाते करवा लो यह तो सदा असभव है ॥
पल-पल गलना चलता तन का मिटना रहता क्षण-क्षण है ।
तन रक्षण का हट छोडो तुम समझो यह "तन लक्षण" है ॥६९॥

निसर्ग नश्वर स्वभाव वाले आयु काय आदिक सारे ।
ज्ञात हुआ यह निश्चित तुमको तरग जीवन यह प्यारे ॥
इसके मिटने से यदि मिलता शाश्वत शुचितम शिव पद है ।
बिना कष्ट बस मिला समझ लो स्वय आ गई सपद है ॥७०॥

उच्छ्वासो का नि श्वासो का करता है अभ्यास सदा ।
जीव चाहता तन से निकलूँ बाहर, शिव मे वास कदा ॥
किन्तु मनुज कुछ श्वास रोक लो, आयु बढेगी कहते है
अजर अमर आतम बनता है फलत जड जन बहते है ॥७१॥

अरहट घट दल के जल सम यह आयु घटे बस पल-पल है ।
तथा आयु का सहचर होकर चलता अविरल तन खल है ।।
काय आयु के आश्रित जीवन फिर पर से क्या अर्थ रहा ।
किन्तु नाव-थित नर सम निज को भ्रान्त लखे स्थिर व्यर्थ अहा ।।७२।।

बिना खेद उच्छ्वास जनम ना लेता वह दुख कूप रहा ।
टिका हुआ है जिस पर नियमित जीवन का यह स्तूप रहा ।।
जब वह लेता विराम निश्चित जीवन का अवसान तभी ।
आप बता दो किस विध सुख का पान करे फिर प्राण सभी ।।७३।।

जनन ताड के पादप से तो प्राणी फल दल पतित हुए ।
अधोमुखी है निराधार है पथ मे हैं वे पथिक हुए ।।
भले अभी तक मरण रूप इस धरती तल तक नहि आये ।
कब तक फिर वे अन्तराल मे अधर गगन मे रह पाये ।।७४।।

नीचे नारक असुरो ऊपर देवो को बस ! बसा दिये ।
मध्य मानवो को रख अमितो द्वीप सागरो घिरा दिये ।।
तीन वातवलयो से वेष्टित कर विधि ने नभ को ताना ।
पर नर पति ना बचा बचाता अटल काल का सो बाना ।।७५।।

विदित निलय जिसका ना तन भी दुष्ट राहु तापस पापी ।
पूर्ण निगलता खेद ! भानु को भासुरतम जो परतापी ।।
दश शत प्रखर किरण कर बल से निखिल प्रकाशित कर पाता ।
उचित समय यदि कर्म उदय हो कौन बली फिर बच पाता ।।७६।।

ठग सम निर्दय कर्म ब्रह्म खुद मोह महामद पिला पिला ।
सकल जगत् को समोहित कर सही पथ से भुला भुला ।।
सघन भयानक भव कानन मे हन्ता बन कर विचर रहा ।
उसे मारता कौन बली वह कहाँ रहा है किधर रहा ।।७७।।

आता है कब किस विध आता कहां से आता है ।
महादुष्ट है काल विषय मे कुछ भी कहा न जाता है ॥
वह तो निश्चित आता ही पे तुम क्यो बैठे मन माने ।
विज्ञ ! करो नित यतन निजोचित निज सुख पाने शिव जाने ॥७८॥

किसी तरह संबंध नही हो दुष्ट काल से बस जिसका ।
कुछ भी कर लो किसी तरह भी शोध लगाओ तुम उसका ॥
देश काल विधि हेतु वही उस जड़ा मोह का नाम नही ।
शरण उसी की ले बिन चिंता रहो रहा शिवधाम वही ॥७९॥

बार-बार उपकार किया पर बार बार अपकार मिला ।
इस विधि द्वारा तन है नारक दुख का भारी द्वार खुला ॥
परम पुण्य को जला-जलाकर भस्म बनाती यह ज्वाला ।
किस विध इसमे मुग्ध हुवा तू जिसे कहे जड सुख प्याला ॥८०॥

विपद पर्वमय मूल भोग्य, ना रस बिन जिस का चूल रहा ।
तथा बहुत से रोगो से भी ग्रसित रहा दुख शूल रहा ॥
घुण-भक्षित उस इक्षु दण्ड सम ऊपर केवल मनहर है ।
परभव सुख का बीज रहा बस मानव जीवन अघहर है ॥८१॥

निशि मे बिता शयन मृतक सम चेष्टा विहीन हो जाता ।
जागृत हो जीवन साधन मे दिन भर विलीन हो पाता ॥
इस विध प्रतिदिन नियमित जीवन इस प्राणी का बीत रहा ।
किन्तु काय मे कब तक टिक कर गा पायेगा गीत अहा ॥८२॥

अरे ! हितैषी इस जीवन मे बन्धु जनो से क्या पाया ।
सत्य-सत्य बस हमे बता दे क्या ! हित अनुभव कर पाया ? ॥
केवल इतना करते मरता जब तू तज कचन तन को ।
जला-जला वे राख बनाते अहित दुरित घर तव तन को ॥८३॥

राग रगमय भवबर्धक है विवाह आदिक कार्य रहे ।
उनको करने मे ही परिजन निरत सदा अनिवार्य रहे ॥
अत वस्तुत परम शत्रु है परिजन इस विधि जान अरे ! ।
अन्य शत्रु तो एक बार पर बार-बार ये प्राण हरे ॥८४॥

जिसके जीवन मे वह जलता आशारूपी अनल महा ।
जिसमे डाले धन इधन को ढेर ढेर झट विकल अहा ॥
प्रतिफल मे वह प्रतिपल जलती जलती दीपित हो जाती ।
भ्रान्त समझता शान्त उसे पै बुद्धि भ्रान्ति वश खो जाती ॥८५॥

धवल धवल तम बालो से तव मस्तक शशि सम धवलित है ।
इसी बहाने तव मति शुचिता बाहर निकली मम मत है ॥
जरा दशा मे जरा सोचना भी किस विध फिर बन सकता ।
पर हित का अत स्मरण भी किस विध यह मन कर सकता ॥८६॥

तृप्ति जनक, ना, इष्ट अर्थमय भव सुख खारा उदक रहा ।
बहुविध मानस दुख वडनानल जिसके भीतर धधक रहा ॥
जनन जरा मृति तरग उठती मोह मगर मुख खोले है ।
भव दधि मे गिरने से कुछ ही बच पाते दृग खोले है ॥८७॥

अविरल सुख परिकर से लालित यौवन मद से स्पर्शित था ।
ललित युवति दल नयन कमल ले तुझे निरख कर हर्षित था ॥
फिर भी तप कर काय सुखाया धन्य हुवा यदि सुधी रखे ।
जली कमलिनी का भ्रम कर तुझ दग्ध बनी मे मृगी लखे ॥८८॥

निर्बल तन मन बालक जब थे नही हिताहित विदित हुये ।
युवा हुए कामान्ध युवति तरु वन मे निशिदिन भ्रमित हुए ॥
प्रौढ हुए धन तृषा बढी फिर कृषि आदिक कर विकल बने ।
वृद्ध हुए फिर अर्धमृतक कब जनम धरम कर सफल बने ॥८९॥

बाल्य काल में जो कुछ बीता उसकी स्मृति अब उचित नहीं
धन संचय करना तब विधि ने किया तभी क्या दूषित नहीं ॥
अन्त समय तो तात तोड़कर उत्तम तब उपहास किया ।
फिर भी तू दुर्गति विधिवश हो विधि पर ही विश्वास किया ॥१०॥

घृणित दशा तब देख सके ना तभी नेत्र तब अन्ध हुये ।
तव निन्दा पर से सुन सुनकर बधिर कान अब बन्द हुये ॥
निकट काल को लख भय वश तब पूर्ण कांपना बदन तथा ।
फिर भी रहता अचाप जर्जर तन में जलता भवन यथा ॥११॥

परिचय जिनका अधिक हुआ हो वही अनादर तनता है ।
सूक्ति रही यह नवीनतम जो प्रीति तथा उड्डर बनता है ॥
दोष कोष में निरत हुआ क्यों गुण-गण से अति विरत हुआ ।
उचित उक्ति को वृथा मृषा क्यों करना यह ना उचित हुआ ॥१२॥

हंस कभी ना खाते जिसको दिन में खिलता जलज रहा ।
जल में रहकर जल ना छूता कठोर कर्कश सहज रहा ॥
जलज धर्म ना ज्ञात भ्रमर को भ्रमित वृथा फस मर जाता ।
स्वहित विषय में विषय रसिक कब समुचित विचार कर पाता ॥१३॥

तीन लोक में प्रज्ञा दुर्लभ स्वपर बोध का हेतु रही ।
शुभ गति दात्री और दुर्लभा भव दधि में शुभ सेतु सही ॥
उस विध प्रज्ञा पाकर भी यदि पद पद प्रमाद पाले हैं ।
उनका जीवन चिन्त्य रहा है बोल रहे मति वाले हैं ॥१४॥

जगदधिपति धरतीपति सुरपति हुये विगत में अगणित हैं ।
सुकृत सुफल वह बाह्य-वाक्य से यद्यपि सब जन परिचित हैं ॥
किन्तु खेद है वीर धीर और बुध जन तक भी किन्नर हैं ।
इन्हीं सुराधिप भूप जनों के जिन पर हँसते शंकर हैं ॥१५॥

श्रेष्ठ धर्म के बल पर नरपति महावंश में जनन धरें ।
सुधी धनी हो जिन्हें निर्धनी धनार्थ सविनय नमन करें ॥
यह पथ श्रम मय जिस पर चलना विपर्यी का वह कार्य नहीं ।
धर्म कथ्य नहीं महाजनो को जिसे लखे जिन आर्य सही ॥९६॥

अशुचि धाम तन दुखद रहा है उसमे चिर से निवस रहा ।
निरीह उससे हुवा नहीं तू राग बढ़ा प्रति दिवस रहा ॥
घटे राग तब, सदुपदेश मे अत: निरत नित यति जन थे ।
महाजनो की परहित की रति देख जरा, तज रति मन से ! ॥९७॥

'इस विध' 'उस विध' तन है उस विध करने से कुछ अर्थ नहीं ।
पुनि पुनि तन धर तजकर तूने व्यथा सही क्या व्यर्थ नहीं ॥
फिर भी यह संकेत मात्र है सदुपदेश सुन स्पष्ट है ।
भव भ्रमितो का यह जड तन सब विपदाओ का आस्पद है ॥९८॥

मल घर माँ का उदर जहाँ चिर क्षुधित तृपित मुख खोल पडा ।
पडा अन्नमल मिश्रित खाया विधिवश ले दुख मोल सडा ॥
निश्चल था तब कृमि कुल सहचर तभी मरण से भीत हुवा ।
चूंकि जनन का मरण जनक है यही मुझे परतीत हुवा ॥९९॥

अजा कृपाणक समान तुमने चिर से अब तक कार्य किया ।
नहीं हिताहित हुवा विदित है आर्य दुरित अनिवार्य किया ॥
अन्धक वर्त्तन न्याय मात्र से प्राप्त किया सुख क्षणिक रहा ।
वह भी आत्मिक सुख ना इन्द्रिय दुख मिश्रित सुख तनिक रहा ॥१००॥

हा ! आकस्मिक, वनितादिक की काम कामना करवाता ।
निज को पडित माने उनके पडितपन को भरमाता ॥
फिर भी पडित धीर धार कर इसको सहते यह विस्मय ।
सुतप अनल से क्रूर काम को यही जलाते बन निर्दय ॥१०१॥

सहज विषय को तृण सम कोई याचक को निज धन देता ।
तृष्णा वर्धक अघमय गिन इक बिना किये धन तज देता ॥
किन्तु प्रथम ही दुस्सह जान धन नहिं लेता वह बड़भागी ।
एक एक से क्रमशः बढ़कर, सर्वोत्तम हैं ये त्यागी ॥१०२॥

विलासिनी के पास सपदि सत साधु थे यदि तजते ।
विस्मय क्या है उस घटना में विरागता को जब भजते ॥
उचित रहा यह जिसके प्रति है घृणा सदा, नर यदि करता ।
रसमय भोजन भला किया हो तुरत वमन क्या नहिं करता ॥१०३॥

श्रम से अर्जित लक्ष्मी तजना रोता तब जड़ मति-वाला ।
तथा सपदि तजना यद्यपि मद करता विस्मित-वाला ।
ना मद करता ना रोता है किन्तु सपदि तजता है ।
वही विज्ञ है वीतराग है तत्त्व ज्ञान नित भजता है ॥१०४॥

जड़मय तन जननादिक से ले मृति तक सोचो भला जरा ।
क्लेश अरुचि भय निंदन आदिक से पूरा बस भरा परा ।
त्याज्य, तजो तन रति जब मिलती मुक्ति भली फिर कौन कुधी
दुर्जन सम तन राग तजे ना उत्तर दो तुम मान सुधी ॥१०५॥

मिथ्या मतिवश राग रोष कर दुराचार में लीन हुवा ।
बार-बार तन धार धार मर दुखी हुवा अति दीन हुवा ॥
राग हटाकर विराग बन कर एक बार यदि निज ध्याता ।
अक्षय बनकर अक्षय फल पा निश्चित बनता शिव धाता ॥१०६॥

जीव दया मय इन्द्रिय दम मय संग त्यागमय पथ चलना ।
मन से तन से और वचन से पूर्ण यत्न से तज छलना ॥
जिस पर चलने से निश्चित ही मिले मुक्ति की मंजिल है ॥
निर्विकल्प है अकथनीय है अनुपम शिवसुख प्रांजल है ॥१०७॥

ज्ञान भाव से प्रथम हुवा हो मोह भाव का शमन महा ।
किया गया पुनि पाप-मूल उस सकल संग का वमन अहा ॥
अजर अमर पद का कारण वह मुक्तिरमा खुद वरती है ।
रही "कुटी परवेश क्रिया" ज्यों विशुद्ध तन को करती है ॥१०८॥

योग्य भोग उपभोग योग पा भोग भाव नहिं मन लाते ।
किन्तु विश्व को उपभोजित कर स्वयं भोग सब तज पाते ॥
मार मार कोमार्य काल मे बाल ब्रह्मचारी प्यारे ।
चकित हुए हम इस घटना से उन चरणों को उर धारे ॥१०९॥

सदा अकिंचन मे चेतन हूँ इस विध चिंतन करना है ।
तीन लोक का ईश शीघ्र बन मुक्ति रमा को वरना है ॥
योग धार कर योगी जिसको विषय बनाते अपना है ।
परमातम का गूढरूप यह प्राप्त ! और सब सपना है ॥११०॥

अल्प काल ही मानव गति है काल आय कब ज्ञात नहीं ।
दुर्लभ तम है अशुचि धाम है जिसकी दुखमय गात रही ॥
इस गति मे ही तप बन सकता तप से ही शिव मिलता है ॥
अत करे तप तापस बनकर तप से ही विधि हिलता है ॥१११॥

ध्यान समय मे जगन्नाथ, प्रभु ध्येय बने बुध सम्मति है ।
जिन पद स्मृति ही क्लेशमात्र क्षति यदि है तो विधि क्षति है ॥
साधन मन है साध्य सिद्धि सुख काल लगेगा पल भर ही ।
सब विध बुधजन निशिदिन चिंतन करे कष्ट ना तिल भर भी ॥११२॥

धन की आशा जिसे जलाती कभी सुखी क्या बन सकता ?
तप के सम्मुख काम व्याध आ मनमाना क्या तन सकता ?
छू सकती अपमान धूल क्या तप तपते उन चरणन को ?
बता कौन वह तप बिन वांछित सुख देता भवि जन-जन को ? ॥११३॥

यहीं सहज कौपालिक पर भी पाता तापस विजय अहा ।
प्राणों से जो अधिक मूल्य है पाता गुण-गण निलय महा ।
पर भव में फिर परम सिद्धि भी स्वयं शीघ्र वश वरण करे ।
ताप पाप हर कर फिर नर क्यों ना नित आचरण करे ॥११४॥

अपक्व फल में लगा फल ज्यों यथा समय पर गलता है ।
त्यों मुनि तन भी सुतप बेल लिपटा शुभ फल फलता है ॥
दुग्ध सुरभित स्वच्छ जल सम सर्व समाधि अगनी से जिसकी ।
आयु सरकती वृष रोशन कर धन्य ! यहीं जय हो उसकी ॥११५॥

राग रंग बहिरंग संग तज विराग पथ पर चलते हैं ।
किन्तु उपेक्षित नहिं है समुचित पालन तन का करते हैं ॥
जीवन भर चिर तापस बनकर खरतर तपते अचल महा ।
भात ज्ञान हो निश्चित ही यह आत्म ज्ञान का सुफल रहा ॥११६॥

आत्म ज्ञान वह चूंकि हुआ हो तन का परिचय स्पष्ट रहा ।
पल भर भी पलमय तन का फिर पालन किसको इष्ट रहा ॥
तन का पालन करने में बस तदपि प्रयोजन एक रहा ।
ध्यान सिद्धि वर ज्ञान सिद्धि हो आत्मसिद्धि अतिरेक रहा ॥११७॥

जीरण तृण सम सकल सपदा तजी वृषभ ने तपधारा ।
क्षुधित दीन सम बिन मद, पर घर जाते पाने आहारा ॥
बहुत दिवस तक मिली नहीं विधि भिक्षार्थी वन भ्रमण किया ।
सुखार्थ हम क्या नहीं सहे जब जिनने परिषह सहन किया ॥११८॥

जिनका सुत नवनिधियों का पति कुलकर मनु वृषभेश महा ।
गर्भ पूर्व ही विनीत सेवक जिनका था अमरेश रहा ॥
भूतल पर प्रभु भटके भूखे पुरुषोत्तम छह मास यहाँ ।
कौन टालता विधान विधि का बल वह किसके पास कहाँ ॥११९॥

प्रथम सयमी स्वपर तत्त्व का अवभासक हो चलता है ।
जिस विध सबको दीपक करता आलोकित है जलता है ॥
तदुपरान्त वह सुतप ध्यान से और सुशोभित हो जाता ।
प्रखर प्रभा आलोक ताप से जिस विध नभ मे रवि भाता ॥१२०॥

ज्ञान विभा से चरित चमक से भासुर धी-निधि यमी दमी ।
दीप बने है उन्हे नमूँ मम-अघ-तम की हो कमी कमी ॥
समीचीन आलोक धाम से करा स्वपर को उजल रहे ।
कर्म रूप अलि काला कज्जल फलत· पल-पल उगल रहे ॥१२१॥

सही सही आगम का भवि जब चितन मथन करता है ।
अशुभ असयम तज शुभ सयम प्रथम यथाविधि धरता है ॥
फिर बनता वह विशुद्धतम है सकल कर्म मल धुलता है ।
उचित रहा रवि प्रभात से जब मिलता फिर तम टलता है ॥१२२॥

विषय राग को मिटा रहा है तप श्रुति मे अनुराग हुवा ।
भविक जनो का भाग्य खुला है सुख का ही अनुभाग हुवा ॥
प्रभात मे जब बाल भानु की कोमल हलकी सी लाली ।
अणु-अणु कण-कण खुलते खिलते, खिलती जग जीवन डाली ॥१२३॥

तत्त्वज्ञान आलोक त्याग यदि विषय राग मे रमन करो ।
रवरव नारक निगोद आदिक गातियो मे गिर भ्रमण करो ॥
सध्या की लाली को छूता सघन निशा सम्मुख करके ।
प्रखर प्रभा तज, जाय रसातल दिनकर नीचे मुख करके ॥१२४॥

चरित पालकी पडाव समुचित स्वर्ग रहा गुण रक्षक है ।
तप संबल है सहचर लक्ष्मा ज्ञान रहा पथ-दर्शक है ॥
सरल पथ, शम जल से सिंचित दया भाव ही छाँव रही ।
बाधा बिन यह यात्रा मुनि को पहुँचाती शिव गाँव सही ॥१२५॥

नाग दृष्टि विष ना, पर नारी की दृष्टि विष दूषित मही ।
जिसके पल भर ही लखने से हो ध ध जगत सभी ।
विलोम उनका नग हो जिससे काल भटकती विवश सभी ।
री के मिस विष वे उनके वश हो न वशी नर निमिष कभी ॥१२६॥

कभी कृद्ध हो नाग काट कर प्राण हरे पर सदा नहीं ।
तो औषध भी वह मिलती अह विष हरती है सुधामयी ॥
किन्तु कृद्ध या प्रसन्न रह भी "स्त्री रूप" सबको मारे ।
जिस पर औषध नहि सी नागिन से योगी भी भय धारे ॥१२७॥

यदि चाहो यह मुक्ति रमा है कुलीन जन को मिलती है ।
परम नायिका जन-जन प्रिय है गुण-वगिया मे खिलती है ॥
उसे सजा गुण गण से उसमे रम जाओ पर मत बोलो ।
अन्य स्त्रियो से लगभग महिला ईर्षा करती, दृग खोलो ॥१२८॥

बाहर केवल कोमल कोमल वदन कमल से विलस रही ।
तरल लहर मुख से यो मरकर वचन सलिल से विहँस रही ॥
बालक सम हा ! अज्ञ तृषित हो जिसके तट पर बस जाते ।
विषय विषम कर्दम से फिर वे नही निकलते फँस जाते ॥१२९॥

भयद क्रुद्ध पापिन इन्द्रिय सब राग आग अति जला जला ।
अस्त व्यस्त कर त्रस्त किया है पूर्ण रूप से धरातला ॥
स्त्री मिष निर्मित घात थान का श्रय लेते हा ! मरण जहाँ ।
मदन व्याधपति से पीडित जन-मृग ढूंढत सुख शरण यहाँ ॥१३०॥

हे ! निर्लज्जित सुतप अनल से अधजल शवसम तव तन है ।
बना घृणा का भय आस्पद ज्ञात नही क्या जडघन है ॥
तव तन को लख महिला डरती चूंकि सहज कातर रहती ।
क्या न डराता उन्हे वृथा तव रति उनमे क्यो कर रहती ॥१३१॥

उन्नत दो दो स्तन पर्वतमय दुर्ग परस्पर मिले वहीं ।
रोमावलिमय कुपथ अद्भुत हे भ्रमित करे पथ दिखे नहीं ॥
दुखद त्रिवलियाँ सरिताये हे जिसे घिरी, नहि पार कहीं ।
स्त्री-योनी पा विषय-मूढ ! क्या खिन्न हुवा बहु बार नहीं ? ॥१३२॥

मदन शस्त्र का नाडी व्रण हे जहाँ पटकता मल कार्मी ।
काम सर्प को निवास करने बनी हुई हे वह बाँबी ॥
उन्नत तम शिव मुक्ति शेल का ढका गर्त हे बुध गाते ।
रम्य-दान्त-वाली स्त्री जन का योनिथान तू तज ताते ॥१३३॥

कृत्रिम गड्ढे मे जिस विध गज ! तप धारक भी गिरते ह ।
स्त्रीजन के उस योनिथान मे विषयो से जब घिरते ह ॥
प्रथम जन्म थल अत मात वह रागथान ! पर जड कहते ।
उन दुष्टो के दुष्ट वचन से ठगा जगत हे हम कहते ॥१३४॥

कराल काला काल कूट वह महादेव के गला पडा ।
पर उस विषधर का विष उस पर नही चढा क्या भला चढा ॥
तथापि वह तो स्त्री सगति से अति जलता दिन रात रहे ।
निश्चित ही बस विषम विषमतम विष है स्त्री जन, ज्ञात रहे ॥१३५॥

सकल दोष के कोष यदपि स्त्री-काया की परिणति होती ।
शशि आदिक समसुदर दिखती जिससे यदि तव रति होती ॥
शुचितर शुभतम पदार्थ भर मे करो भली फिर प्रीति यहाँ ।
किन्तु काम रत मदान्ध जन मे कहाँ बोध शुभ रीति कहाँ ॥१३६॥

यदा प्रिया को अनुभवता मन केवल कातर बने दुखी ।
किन्तु प्रिया को विषयी-इन्द्रिय अनुभवती तब बने सुखी ॥
मात्र शब्द से नही नपुसक रहा अर्थ से भी मन ओ ।
शब्द अर्थ से पुरुष बने फिर मन के साथी बुधजन हो ? ॥१३७॥

न्याय युक्त ही राज्य पूज्य है ज्ञान-युत सुतप महा ।
राज्य त्याग तप करे महा लघु करे राज्य तज सुतप अहा ॥
राज्य कार्य से सुतप पूज्य है उस विध बुधजन समझ सभी ।
पाप भीत वे आर्य करे बस भव भय हर तप सहज अभी ॥१३८॥

पूर्ण खिले हो पूर्ण सुगंधित फूल महकते जब तक है ।
देव सुबुध तक मस्तक पर भी धारण करते तब तक है ॥
छूते परो से तक पुनि, ना गंध फूल मे नहि उरता ।
अहो जगत मे नाश गुणो का क्या क्या अनर्थ ह नहि करता ॥१३९॥

अरे चन्द्र तू तुझे हुया क्या बना समल क्यो बना कुधी ।
बनना तुझ को समल इष्ट था पूर्ण समल क्यो बना नही ॥
तव मल को प्रकाटाती ज्योत्स्ना व्यर्थ रही बदनाम रही ।
मलिन राहु सम यदि बनता तो अदृश्य होता शाम कही ॥१४०॥

दोष छिपा कुछ शिष्य जनो के स्वय मनो गुरु क्या चले चला ।
दोष सहित यदि शिष्य मरे तो फिर वह गुरु क्या करे भला
इसीलिये वह किसी तरह भी हितकारी गुरु नही रहा ।
स्वल्प दोष भी बढा चढा खल भले कहे गुरु वही महा ॥१४१॥

गुरु के वचनो मे यद्यपि वह कठोरता भी रहती है ।
भविक जनो के मन की कलियां तथापि खुलती खिलती है ॥
प्रखर प्रखरतर दिनकर की वे किरणे अगनी बरसाती ।
कोमल कोमलतम कमलो को किन्तु खुल खिला विहँसाती ॥१४२॥

उभय लोक के हित की बाते कई सुनाते सुनते थे ।
विगत काल मे भी दुर्लभ थे सुनते सुनते गुणते थे ॥
धर्म सुनाता कौन सुने अब ये भी दुर्लभ विरल मिले ।
हित पथ चलने वाले तो "ईद चन्द्र" सम विरल खिले ॥१४३॥

दोष गुणन का ज्ञान जिन्हे है जबकि दिखाते दूषण हे ।
बुधजन को वह सदुपदेश सम प्रिय लगता है भूषण है ॥
बुधजन की जो करे प्रशसा बिन आगम का ज्ञान अहा ।
विज्ञ तुष्ट नहि होते उससे खेद कष्ट अज्ञान रहा ॥१४४॥

सद्गति सुख के साधक गुण गण जिन्हे अपेक्षित प्यारे है ।
दुर्गति दुख केकारण सारे हुए उपेक्षित खारे है ॥
फलत साधक को भजते है अहित विधायक को तजते ।
सुबुध जनो मे श्रेष्ठ रहे वे जन जन हे उनको भजते ॥१४५॥

अविनश्वर शिव सुख प्रद पथ तज अहित पथ पर चलता है ।
कुधी बना है दु ख दाह से फलत. पल पल जलता है ॥
कुटिल चाह तज सरल चाल से शिव पथगामी यदि बनता ।
सुधी नियम से बन अनुभवता तू शाश्वत शिव सुख-धनता ॥१४६॥

मिथ्यात्वादिक दोष रहे है मोहादिक से उदित हुए ।
सम्यक्त्वादिक गुण लसते है मोहादिक जब शमित हुए
समझ त्याज्य तज अहित हेतु को हित साधन को गह पाता ।
सुख निधि यश निधी वही, वही बुध, वही सुचारित कहलाता ॥१४७॥

बढन किसी के घटन किसी के आयु धनादिक है चलते ।
पूर्व उपार्जित पुण्य पाप फल साधारण सब मे मिलते ॥
किन्तु दृगादिक बढे, घटे अघ जिनके वे ही विज्ञ रहे ।
इससे उल्टा जीवन जिनका सुबुध कहे वे अज्ञ रहे ॥१४८॥

दण्ड नीति ही चलती केवल नरपतियो से कलियुग मे ।
धनार्थ नरपति इसे चलाते किन्तु नही धन मुनिपद मे ॥
इधर ख्याति रत गुरु शिष्यो को नहि शिवपथ दिखला सकता ।
मूल्य मणी सम महामना मुनि महि मे है विरला दिखता ॥१४९॥

निज को मुनि माने अति आकुल महिला जन के लखने से।
भ्रमते व्याकुल बाण लगे उन घायल मृग के गण जेसे ॥
विषय वनी मे जिन्हे कभी भी बना असभव स्थिर रहना।
तूफानी बादल सम चचल उनकी सगति मत करना ॥१५०॥

गेह गुफा हो गगन दिशाये तेरे हो बस वसन सदा।
द्वादशविध तप विकास मधुरिम इष्ट उड़ा ले अशन सुधा ॥
परमागम का अर्थ प्राप्त तुझ गुणा-वली तव वनिता है।
वृथा याचना मत कर अब तू मुनियो की यह कविता है ॥१५१॥

सकल विश्व मे और दूसरा नभ सम गुरुतम नही रहा।
उसी तरह बस यह भी निश्चित अणु सम लघुतम नही रहा ॥
मात्र इसी पर ध्यान दे रहे सूक्ति यहा जो प्रचलित है।
स्वाभिमान मडित जन औ क्या नही दीन से परिचित है ॥१५२॥

याचक बनकर दीन याचनादीन भाव से करता है।
मै मानू तब उसका गौरव दाता मे जा भरता है ॥
मेरा निर्णय मानो यदि यह प्रमाण पन नहि रखता है।
दान समय मे दाता गुरु और याचक लघु क्यो दिखता है ॥१५३॥

ग्रहण भाव को रखने वाले नीचे जाते दिखते है।
ग्रहण भाव को नहि रखते वे ऊपर जाते दिखते है।
इसी बात को स्पष्ट रूप से तुला हमे बतलाती है।
भरी पालडी नीचे जाती खाली ऊपर जाती है ॥१५४॥

धनी जनो से धन की इच्छा सभी निर्धनी करते है।
धनी बनाकर किन्तु तृप्त भी उन्हे धनी कब करते है।
याचक की ना प्याय बुझाता धनिकपना क्या काम रहा।
धनिकपना से निर्धनपन मय मुनिपन वर अभिराम रहा ॥१५५॥

अतल अगम पाताल छू रही आशा की जो खाई है ।
तीन लोक की सब निधियाँ भी जिसे नही भर पाई है ॥
किन्तु उसे बस पूर्ण रूप से स्वाभिमान धन भरता है ।
इसीलिये तू मान ! मानधन ही धन भव दुख हरता है ॥१५६॥

तीन लोक को नीचे जिसने किया थाह किसने पाई ।
थाह नही है अथाह आशा खाई दुखदाई भाई ॥
किन्तु यही आश्चर्य रहा किया इसे भी समतल है ।
तज तज विषयो को भविको ने धार तोष धन सबल है ॥१५७॥

भाव भक्ति से शुद्ध अशन यदि यथा समय श्रावक देते ।
तन की स्थिति, तप की उन्नति हो तभी स्वल्प कुछ मुनि लेते ॥
महामना मुनियो को वह भी लज्जा का ही कारण है ।
अन्य परिग्रह को फिर किस विध कर सकते वे धारण है ॥१५८॥

देह अशन-धन गृही व्रती है दाता इस विध शास्त्र कहे ।
निज पर हित हो अशन गहे मुनि निरीह तन से पात्र रहे ॥
पात्र दान दे पात्र दान से रागद्वेष यदि वे करते ।
कलियुग की यह महिमा कहते बुध जिस पर लज्जा करते ॥१५९॥

त्रिभुवन आलोकित जिससे हो तव वर केवलज्ञान सही ।
सहज आत्म सुख इन्हे मिटाया विधि ने विधि पहिचान यही ॥
विधि निर्मित इन्द्रिय पा इन्द्रिय सुख तू चखता लाज नही ।
दीन क्षुधित कुछ खा पीकर ज्यो सुखित बने दुख भाजन ही ॥१६०॥

व्रत तप पालो सहो परीषह स्वर्गो मे तुम जावोगे ।
विषयो की यदि रुचि है मन मे विषयो को बस पाओगे ॥
भोजन पाने यदपि प्रतीक्षित क्षुधित क्षुधा की व्यथा सहो ।
किन्तु पेय पी नष्ट कर रहे भोजन को क्यो वृथा अहो ॥१६१॥

बाहर भीतर सग रहितपन मुनिपन ही धन बना हुवा ।
मृत्यु महोत्सव सदा मनाना जिनका जीवन बना हुवा ॥
साधु जनो को एक मात्र बस विषद सुलोचन ज्ञान सही ।
फिर विधि उनको क्या कर सकता विचलित या भयवान कभी ॥१६२॥

जीवन जीने की अभिलाषा आशा धन की जिन्हे रही ।
कर्म उन्हे पीडित कर सकता भीति कर्म से उन्हे रही ॥
जिनकी आशा निराशता मे किन्तु ढली फिर कर्म भला ।
उन्हे दुखी क्या कर सकता है सुखमय आतम धर्म भुला ॥१६३॥

चक्री पद को पाकर भी तज तापस बन तप तपते है ।
परम पूज्य वे बनते, जन जन नाम उन्ही के जपते है ॥
पुरुष बने है किन्तु तपो को तज विषयन मे झूल रहे ।
पद पद पर उनकी निंदा हो हित का साधन भूल रहे ॥१६४॥

चक्री, चक्रीपन तज तपता विस्मय करना विफल रहा ।
अनुपम अव्यय आत्मिक सुख यह चूँकि सुतप का सुफल रहा ॥
समझ विषम विष विषयो को तज तपधर, पुनि तज तप मोही ।
सुधी उन्ही का सेवन करते रहा महा विस्मय सो ही ॥१६५॥

उन्नत शैया तल से नीचे भू तल पर आ शिशु गिरता ।
संभावित पीडा लखकर तब कँपता भय से है घिरता ॥
त्रिभुवन से भी उन्नत तप गिरि से गिरते मतिवर यति है ।
किन्तु भीति नहि होती उनको होते विस्मित हम अति है ॥१६६॥

अतीचार से अनाचार से हुवा महाव्रत दूषित हो ।
योग सुतप का उसे मिले शुचिपन से झट भूषित हो ॥
विमल विमलतम उस तप को भी मलिन मलिनतम करता है ।
सदाचार से दूर दुष्ट जो दुराचार भर धरता है ॥१६७॥

जहाँ कहीं भी मिलते सौ सौ कौतुक विस्मयकारी है ।
उन सब मे भी इन दो पर ही होता विस्मय भारी है ।।
परमामृत का प्रथम पान कर पुन उसे जो वमन करे ।
सुकृत रहित वे व्रतधर व्रत तज फिर विषयन मे रमण करे ।।१६८।।

बाह्य शत्रु आरभादिक को पूर्ण रूप से त्याग दिया ।
निज बल सग्रह करने वाला तब थोडा बस जाग जिया ।।
अशन शयन गमनादिक मे हो जागृत निज रक्षण करना ।
रागादिक का क्षय करना हो व्रत पालन हर क्षण करना ।।१६९।।

कतिपय नयमय शाखाओ मे वचन पत्र से सजा हुवा ।
अमित धर्म के निलय अर्थमय फूल फलो से लदा हुवा ।।
उन्नत "श्रुत-तरु" समकित मतिमय जड जिसकी अति दृढतर भी
बुधजन अपने मन मर्कट नित रमण करावे उसे पर ही ।।१७०।।

अव्यय व्ययमय एक नैक भी विलसित होती निज सत्ता ।
वही द्रव्य पर्यय वश लसती गौण मुख्य हो मतिमत्ता ।।
आदि रहित है मध्य रहित है अन्त रहित भी जगत रही ।
इस विध चितन बुधजन कर लो रहो जगत मे जगत सही ।।१७१।।

एक द्रव्य ही एक समय मे ध्रौव्य रूप भी लसता है ।
नाश रूप भी वही दिखाता जन्म धार कर हँसता है ।।
यदि इस विधि ना स्वीकृत करते फिर यह निश्चित थोथा है ।
नित्यपने का अनित्यपन का ज्ञान हमे जो होता है ।।१७२।।

बोध धाम ही क्षणिक नित्य ही अभावमय ही तत्त्व रहा ।
चूकि उचित ना इस विध कहना उस विध दिखता तत्त्व कहाँ ।।
भेदाभेदात्मक हो लसता किन्तु, तत्त्व वह प्रतिपल है ।
इसी भाँति सब आदि अन्त बिन समझो मिलता शिवफल है ।।१७३।।

रवि सम भाता आतम का है स्वभाव केवल ज्ञान रहा ।
उसका मिलना ही मिलना बस शिवसुख है अभिराम रहा ॥
इसीलिए तुम सुचिर काल से शिव सुख की यदि चाह करो ।
ज्ञान भावना के सरवर मे सग त्याग अवगाह करो ॥१७४॥

ज्ञान भावना का फल भी वह ज्ञान मात्र बस भास्वर है ।
श्लाघनीय है अर्चनीय है नश्वर नहि अविनश्वर है ॥
किन्तु ज्ञान की सतत भावना अज्ञ करे भव सुख पाने ।
अहो ! मोह की महिमा न्यारी सुख दुख क्या है ना जाने ॥१७५॥

शास्त्र अग्नि मे भविजन निज को जला-जला शुचि हो लसते ।
मणिसम बनकर मनहर सुखकर लोक शिखर पर जा बसते ॥
उसी अग्नि मे मलिन मुर्खा हो राख-राख बनकर नशते ।
किन्तु दुष्ट वे विपयी निज को विषय पाश मे है कसते ॥१७६॥

बार बार बस ज्ञान नेत्र को फैला-फैला लखना है ।
पदार्थ दल जिस विध है इस विध उसको केवल चखना है ॥
आतम-ज्ञाता मुनि वे केवल ध्यान सुधा का पान करे ।
किन्तु भूल भी राग रोग के कभी नही गुणगान करे ॥१७७॥

कर्म निर्जरा सहित किन्तु वह जब तक विधि बधन पलता ।
तब तक भवदधि मे आतम का भ्रमण नियम से है चलता ॥
एक छोर से रस्सी बॅधती एक ओर से खुलती है ।
तब तक निश्चित मथनी की वह भ्रमण क्रिया बस चलती है ॥१७८॥

एक ओर से भले छोड दो रस्सी, मथनी नहि रुकती ।
और छोर से नियम रूप से बधती भ्रमती है रहती ॥
उसी भॉति कुछ कर्म छोडते बध भ्रमण पर नहि मिटते ।
पूर्ण निर्जरा यदि करते हो बध भ्रमण तब सब मिटते ॥१७९॥

भले पालते समिति गुप्तियाँ तुम बहुविध तप हो धरते ।
बहुविध विधि का बँधन बँधता राग द्वेष यदि हो करते ॥
तत्त्वज्ञान को किन्तु धारते राग रोष यदि नहि करते ।
उन्ही समितियाँ गुप्ति पालकर मक्ति रमा को झट बरते ॥१८०॥

हित पथ के अरुचि भाव औ अहित पथ का राग वही ।
पाप कर्म का बध करारा अत उसे तू त्याग यही ।
इससे जो विपरीत भाव है पाप मिटाता पुण्य मिले ।
दोनो मिटते शिव मिलता पर प्रथम पाप पुनि पुण्य मिटे ॥१८१॥

मूल और अकुर जिस विध वे सदा बीज से उदित रहे ।
मोह बीज से राग द्वेष भी उदित हुए है विदित रहे ॥
तत्त्वज्ञान के तेज अनल से उन्हे जला कर शान्त करो ।
तप्त क्लान्त निज जीवन को तुम सुधा पिलाकर शान्त करो ॥१८२॥

नस पर गहरा घाव पुराना पल-पल पीडाप्रद होता ।
सदुपचार घृत-आदिक का हो मिटता सीधा पद होता ॥
मोह घाव भी सग ग्रहण से सुचिर काल से सता रहा ।
सग त्याग से वह भी मिटता शिव मिलता गुरु बता रहा ॥१८३॥

मित्र मानते तुम उनको यदि सुखित तुम्हे जो मिलते है ।
तथा शत्रु यदि उन्हे मानते दुखित तुम्हे जो करते हैं ॥
किन्तु मित्र जब मरते तब तुम विरह दु ख अति सहते हो ।
अत मित्र भी शत्रु हुए फिर शोक वृथा क्यो करते हो ॥१८४॥

मरण टले ना टाले, मरते अपने परिजन पुरजन है ।
विलाप कर-कर रोते खुद भी मरण समय् मे जड जन है ।
उन्हे सुगति यश किस विध मिलते वीर-मरण के सुफल रहे ।
सुधी करे ना शोक मरण मे फलत शिव सुख विमल गहें ॥१८५॥

इष्ट वस्तु जब मिटती तब हो शोक, शोक से दुख होता ।
इष्ट वस्तु जब मिलती तब हो राग, राग से सुख होता ॥
अतः सुधीजन इष्ट हानि मे शोक किये बिन मुदित रहे ।
सदा सर्वदा सुखी सर्वथा उन पद मे हम नमित रहे ॥१८६॥

इस भव मे जो सुखी हुआ हो वही सुखी पर भव मे हो ।
दुखी रहा है इस जीवन मे वही दुखी पर भव मे हो ॥
उचित रहा है सुख का कारण सकल संग का त्याग रहा ।
उससे उलटा दुख का कारण ग्रहण संग का राग रहा ॥१८७॥

मरण प्राप्त कर पुनः मरण को जग प्राणी जो पाते है ।
उनका वह ही जनम रहा है साधु सन्त यो गाते है ॥
किन्तु जन्म मे जन्म दिवस मे होते मोही प्रमुदित है ।
मना रहे वे भावी मृतिका उत्सव यह मम अभिमत है ॥१८८॥

सकल श्रुतामृत पी डाला है चिर से खरतर तप धारा ।
उनका फल यदि नाम यशादिक चाह रहा गत-मतिवाला ॥
तप तरु मे जो लगा फल है उसे तोडता वृथा रहा ।
सरस पक्व फल किस विध फिर तू खा पायेगा व्यथा रहा ॥१८९॥

सदा सर्वदा लोकेषण बिन श्रुत का आलोडन कर लो ।
उचित तपो से तन शोषण कर निज का अवलोकन कर लो ॥
इन्द्रिय विषयो कषाय रिपुओ जीत विजेता तभी बनो ।
तप श्रुत का फल शम है मुनिजन गीत सुनाते सभी सुनो ॥१९०॥

विषय रसिक को लखकर क्यो कर विषय भाव मन मे लाते ।
भले अल्प हो विषय भाव अति अनर्थ जीवन मे लाते ॥
उचित रहा यह तैलादिक तो अपथ्य रोगी को जैसे ।
निषिद्ध मानो निषिद्ध ना है सशक्त भोगी को वैसे ॥१९१॥

अहित विधायक विषयो मे रत विषयीजन भी त्याग करे ।
निज प्रमदा यदि पर पुरुषन मे एक बार भी राग करे ॥
भव भव मे वे जिनने परखे विषय विषम विष से सारे ।
निज हित मे रत बुध किस विध फिर विषयो मे रत हो प्यारे ॥१९२॥

दुराचार कर दूषित निज को कर चिर बहिरातम रुलता ।
अब तुम मुनि बन निज चारित जल से अतर आतम धुलता ॥
मिले आत्म से परमातम पद मिलता केवलज्ञान महा ।
आतम से आतम मे आत्मिक सुख का कर अनुपान अहा ॥१९३॥

दास बनाकर तन से अब तक कष्ट दिया अति कटुतर है ।
अनशनादि तप से इसको अब कृश कृशतर कर अवसर है ॥
जब तक तन की स्थिति है जब तक लेलो तुम इससे बदला ।
स्वयं शत्रु आ मिला मिटा ले भीतर का बाहर बल ला ॥१९४॥

प्रथम जनन हो तन का तन मे भाँति-भाँति इन्द्रिय उगती ।
इन्द्रिय निज निज विषय चाहती विषय वासना अति जगती ॥
फलत होती मान हानि हो श्रम भय अघ हो दुर्गति हो ।
अनर्थ जड है तन यह तेरा, तप तपता यदि शिवगति हो ॥१९५॥

मोह भाव से मडित जन ही तन को पोषण करते है ।
विषयो का सेवन करते है आतम शोषण करते है ।
सर्व कुछ उनको सुलभ रहे है कोई दुष्कर कार्य नही ।
विष पीकर भी जीवन जीना चाह रहे वे आर्य नही ॥१९६॥

इधर-उधर दिन भर मृगगण वे दुखित हुए वन मे भ्रमते ।
किन्तु रात मे ग्रामादिक के निकट थान मे आ जमते ॥
इसी भाँति कलियुग मे मुनिगण दिन मे रहते है वन मे ।
किन्तु खेद ! यह निशा बिताते नगर निकट के उपवन मे ॥१९७॥

समग-७/४०,४

यद्यपि आज तुम तप धरते हो बचकर सभी बनने से ।
यदि तुझको वरवस रपका कल भोजन के तजने से ॥
जनन मरण तो नहीं मिटाना किन्तु बढाना उस तप से ।
श्रेष्ठ रहा वह गृहस्थपन ही आगे कह रहा तम सबसे ॥१९८॥

स्वाभिमान आ लज्जा तजकर जीवन जीता स्वार्थ बिना ।
स्त्री के वश अपमानित शत शत बार हुआ अति आर्त बना ॥
ठगा हुआ है स्त्री तन से तू किन्तु साथ वे नहीं चलते ।
रहा सुखी यदि अत. राग तज तन का जिससे विधि फलते ॥१९९॥

एक गुणी से एक गुणी का हो सकता समवाय नहीं ।
किन्तु काय से ऐक्य रहा तव काष्ट खेद बस न्याय यही ॥
तव तन नहि है तन मे रचता अभेद जिसको मान रहा ।
छिदता भिदता भव वन मे तू बहुत दुखी भयवान रहा ॥२००॥

जनन रहा जो मात वही तव मरण रहा ओ तात रहे ।
विविध आधियाँ दुखद व्याधियाँ तथा सगे तव भ्रात रहे ॥
अन्त समय मे साथ दे रहा परम मित्र है जरा वही ।
फिर भी तन मे आशा अटकी भलासोच तू जग सही ॥२०१॥

स्वभाव से ही विषय बनाता त्रिभुवन को तव ज्ञान महा ।
अमूर्त शुचि हो अशुचि मूर्त तू तन वश तज निज भान अहा ॥
मूर्त रहा तन रहा अचेतन अशुचि धाम मल झरता है ।
किस किस को ना दूषित करता धिक धिक सबको करता है ॥२०२॥

नर सुर पशु नारक गतियो मे सुचिर काल से दुखित हुवा ।
उसका कारण तन धारण तन-पालन मे तू निरत हुवा ॥
विदित हुवा है तुझे अचेतन अशुचि निकेतन तव तन है ।
अब यह साहस ! तन तजना तन-राग मिटा, तब शिवधन है ॥२०३॥

जिनके तन मे असहनीय हो कर्म योग से रोग रहे ।
विचलित यति ना होते फिर भी उनका शुचि उपयोग रहे ॥
उचित रहा यह भले बढ रहा नीर नदी मे बडी नदी ।
छिद्र रहित नौका मे बैठा यात्री डरता कभी नही ॥२०४॥

साधक तन मे रोग हुवा हो उचित रूप उपचार करे ।
यदि नहि मिटना तन तज निज पर समता धर उपकार करे ॥
आग लगी हो घर मे यदि तो जल से उसका शमन करे ।
नही बुझे तो वही रहे क्या ? और कही झट गमन करे ॥२०५॥

सर पर भारी भार स्वय ले पथिक चल रहा पथ पर हो ।
किसी तरह कधे पर उसको उतार कर चलता फिर वो ॥
यदपि भार तन पर से उतरा नही तदपि वह अज्ञानी ।
सुख का अनुभव करता इस पर निश्चित हँसते सब ज्ञानी ॥२०६॥

सदुपचार से रोगो का यदि प्रतीकार वह हो सकता ।
तब तक उनका प्रतीकार भी यथा योग्य बस कर सकता ॥
प्रतीकार करने से भी वे यदि ना होते प्रशमित है ।
क्लेश क्षोभ बिन रहना ही फिर प्रतीकार है, समुचित है ॥२०७॥

तन रति रखता फिर-फिर तन धर यह भव मे भ्रमता है ।
निरीह तन से बन तन तजता मुक्ति भवन मे रमता है ॥
इसीलिए बस इस जीवन मे त्याज्य रहा तन रति तन है ।
अर्थहीन शत अन्य विकल्पो से तो केवल बधन है ॥२०८॥

रहा अपावन स्वभाव से ही काय रहा यह जडमय है ।
पूज्य बनाता उसे चरित से आत्म का यह अतिशय है ॥
किन्तु काय तो आतम को भी निन्द्य बनाता नीच अहा ।
इसीलिये धिक्कार उसे हो कीच रहा भव बीच रहा ॥२०९॥

रस रुधिरादिक सम धातुमय जिसका आदिम भाग रहा ।
ज्ञानावरणादिक कार्मिक वह जड़मय मध्यम भाग रहा ॥
ज्ञानादिक गुण-गण त्व चिर से भाग तीसरा वह भाता ।
रहा त्रयात्मक इसविध प्राणी भव-भव भ्रमता दुख पाता ॥२१०॥

रहा त्रयात्मक भाग सहित यह आतम जीवन जीता है ।
नित्य रहा है वसु विधि के कलुषित पीवन पीता है ॥
सही जानकर दो भागो से पृथक् जीव को कर सकता ।
तत्त्व ज्ञान का अवधारक वह शीघ्र भवोदधि तिर सकता ॥२११॥

घोर घोरतर विविध तपो को मतकर यदि नहि कर सकता ।
क्योकि दीर्घ सहनन नही है क्लेश सहन नहि कर सकता ॥
मन निग्रह कर कषाय रिपु पर विजय प्राप्त यदि नहि करता ।
विज्ञ कहे तब यही अज्ञता मैं समझूँ यह कायरता ॥२१२॥

अगाध यद्यपि हृदय सरसि शुचि चेतन जल से भरित रहा ।
कषायमय हिसक जलचर से किन्तु पूर्ण यदि क्षुभित रहा ॥
क्षमादि उत्तम दशलक्षण गुण, निश्चित तब तक नहि मिलते ।
यम दम शम सम क्रमश पालो फलत पल मे ये मिटते ॥२१३॥

शात मनस की करे प्रशसा यदपि मोक्ष सुख इष्ट रहा ।
किन्तु सग तज समता धरना बुधजन को भी कष्ट रहा ॥
बिल्ली चूहा सम उनकी यह दशा यही कलियुग फल है ।
जिससे इहभव परभव सुख से वचित जीवन निष्फल है ॥२१४॥

सागर जल सम यद्यपि तुम मे बोध, शास्त्र का मनन किया ।
कठिन तपस्या मे भी रत हो कषाय का भी हनन किया ॥
फिर भी ईर्षा साधर्मी से तुममे उसको शीघ्र तजे ।
जिस विधि सर सूखे ऊपर, नहि दिखता नीचे नीर बचे ॥२१५॥

अबोध वश शिव ने मन मे स्थित मनोज को ही भुला दिया ।
अन्य वस्तु को 'काम' समझकर क्रोधित हो कर जला दिया ॥
उसी क्रोध कृत घोर भयानक बुरी दशा को भुगत रहा ।
क्रोधोदय से कार्य हानि भी किसकी न हो ? उचित रहा ॥२१६॥

बाहुबली के निजी दाहिनी चारु बाहु पर चक्र लसा ।
उसे तजा मुनि हुवा वनी मे निसग वन निर्वस्त्र बसा ।
उसी समय, पर मुक्त हुवा ना सुचिर काल तक क्लेश सहा ।
स्वल्प 'मान' भी महा हानि का दायक है वृषभेश कहा ॥२१७॥

दान पुण्य मे धन जिनके मन मे आगम करुणा उर मे ।
शौर्य बाहु मे सत्य वचन मे लक्ष्मी परम पराक्रम मे ॥
शिवपथ चलते तदपि मान बिन गुणी पूर्व मे बहु मिलते ।
अब यह विस्मय गुण बिन जीते किन्तु गर्व से है चलते ॥२१८॥

भू पर सब रहते भू रहती वात वलय के आश्रय ले ।
वात वलय त्रय आश्रित चिरसे रहते नभ के आश्रय ले ॥
ज्ञेय बना नभ पूर्ण ज्ञान के एक कोन मे जब दिखता ।
निज से गुरु है उनसे लघु फिर किस विध वह मद कर सकता ? ॥२१९॥

मरीचिका यश सुवरण मृग की माया से ही मलिन हुवा ।
तुच्छ युधिष्ठिर हुवा कहा जब अश्वथाम का मरण हुवा ॥
कपट बटुक का वेषधार कर सुना ! शाम घनशाम बने ।
अल्प छद्म भी महा कष्ट दे जहर मिला पय प्राण हने ॥२२०॥

माया का जो गर्त रहा अतल आगम अति बडा रहा ।
सघन सघनतम मिथ्यातम से ठसा ठसा बस भरा रहा ॥
जिसमे अलिसम काली काली कराल कषाय नागिन है ।
झुक-झुक कर यदि तुम देखो तो नही दीखती अनगिन हैं ॥२२१॥

भीतर के मम गुप्त पाप वह किसी सुधी से विदित नहीं ।
शुचि गुण की वह महा हानि भी मत समझो यो उचित नहीं ॥
धवल धवलतम निजकिरणो से ताप मिटाता शात अहो ।
उस शशि को जब निगल रहा हो गुप्त राहु क्या ज्ञात न हो ॥२२२॥

वनचर भय से चमरी भागी विधिवश उलझी पूछ कही ।
लता कुज मे बाल लोलुपी अचल खडी सुध भूल वही ॥
फलत जीवन से धो लेती हाथ यही बस खेद रहा ।
विपदाओ से घिरे रहे अति लोभी जन 'यह वेद' रहा ॥२२३॥

तत्त्व मनन यम दम शम पालन तप तपना मन वश करना ।
कषाय निग्रह सग त्याग औ विषयो मे ना फँस मरना ।
दया, भक्ति जिन की करना ये भविक जनो मे प्रकट रहे ।
भाग्य खुला बस समझो उनका भवदधि तट जब निकट रहे ॥२२४॥

सब जीवो पर करुणा रखते ध्यानन मे नित निरत रहे ।
अशन यथाविधि स्वल्प करे मुनि जित निद्रक है विरत रहे ॥
दृढतर सयम नियम पालते बाहर भीतर शात रहे ।
समूल दुख को नष्ट करे वे सार आत्म का ज्ञात रहे ॥२२५॥

निज हित मे ही दत्त चित्त है सकल पाप से दूर रहे ।
स्वपर भेद विज्ञान सहित है इन्द्रिय विजयी शूर रहे ॥
निज पर हित हो बोल बोलते मन मे कुछ सकल्प नही ।
शिव सुख भाजन क्यो ना हो मुनि अनल्प सुख हो अल्प नही ॥२२६॥

दास बना है विषयो का जो जीवन जिसका परवशता ।
दोष गुणन का बोध जिसे ना काफिर का फिर क्या नशता ? ।
तीन रत्न त्रिभुवन को द्योतित करती हरती सब तम को ।
तुमसे इन्द्रिय चोर घिरे है डरना जगना है तुमको ॥२२७॥

रम्य वस्तुये वनितादिक को वीत-मोह बन त्याग दिया ।
सयम साधक उपकरणो मे वृथा भला क्यो राग किया ।।
मुझे बतादे रोग भीति से यदपि अशन ना खाता है ।
औषध पी पी अजीर्णता को कौन सुधी वह पाता है ।।२२८।।

•

चोरादिक से रक्षा करता कृषक समय पर कृषि करता ।
फसल काट कर लाता तब वह धन्य मानता खुशि धरता ।
तप श्रुत का साधन कर उस विध जब निज मे अति थिति पाता ।
इन्द्रिय तस्कर बाधा से बच कृतार्थ निज को यति पाता ।।२२९।।

नाच नचाता आशा रिपु है उसे मिटाओ व्रत असि से ।
तत्त्व ज्ञात है ज्ञान गर्व से रहो उपेक्षित मत उससे ।।
अपार सागर जल, बाडव को देख ! देखकर हिलता है ।
शत्रु रहे यदि निकट उसे कब जीवन मे सुख मिलता है ।।२३०।।

रागादिक कणिका से भी यदि जिसका मानस दूषित है ।
स्तुत्य नही वह चरित बोध से यद्यपि जीवन भूषित है ।।
पाप कर्मका बंधन जिससे चूकि निरन्तर चलता है ।
दीप उगलता कज्जल काला तेल जला कर जलता है ।।२३१।।

राग रग से जब तू हटता शेष नियम से करता है ।
रोष भाष को तजता फिर से राग रग मे ढलता है
किन्तु कभी ना शेष तोष तज लाता मन मे समता है ।
खेद यही बस अज्ञ दुखी हो भव कानन मे भ्रमता है ।।२३२।।

तपा लोह का गोला जल कण से नहि शात बने ।
पूर्ण रूप से उसे डूबा दो गहरे जल मे शान्त बने ।।
दु:ख अनल मे तप्त जीव की क्षणिक सौख्य से क्लांति नही ।
मिटती, मिलती मोक्ष सिधु मे डूबे तो चिर शान्ति सही ।।२३३।।

यद्यपि तुमने दिया बयाना समदर्शन का उचित हुवा ।
मोक्ष सौख्य पर अमिट रूप से नाम आपका लिखित हुवा ॥
निर्मल चारित विमल ज्ञान का सकल मूल्य अब देना है ।
तुम्हे शीघ्र शाश्वत शिव सुख को निजाधीन कर लेना है ॥२३४॥

यथार्थ मे यह सकल विश्व ही एक रूप है योग्य रहा ।
निवृत्ति वश तो अभोग्यमय है प्रवृत्ति वश है भोग्य रहा ॥
भोग्य रहा हो अभोग्य या हो इस विध विकल्प तजना है ।
मोक्ष सौख्य की प्यास तुम्हे यदि निर्विकल्प पन भजना है ॥२३५॥

त्याज्य वस्तुये जब तक तुम नहि तजते तब तक बुधजन से ।
त्याग भावना अविरल भावो मन से वच से औ तन से ॥
तदुपरान्त ना प्रवृत्ति रहती निवृत्ति भी वह ना रहती ।
अक्षय अव्यय वही निरापद-पद है जिनवाणी कहती ॥२३६॥

राग द्वेष यदि मन मे उठते प्रवृत्ति वह कहलाती है ।
उनका निग्रह करना ही वह निवृत्ति यति को भाती है ॥
बाह्य द्रव्य के बिना किन्तु वे रागादिक ना हो पाते ।
सर्वप्रथम तुम बाह्य द्रव्य सब तजो भजो निज को ताते ॥२३७॥

महा भयानक भव भँवरो में भ्रमित पड़ा मै दुख पाता ।
जिन भावो को भा न सका अब उन भावों को बस भाता ॥
विषय भावना भा-भाकर ही बार-बार भव बढा दिया ।
उन्हे तजूँ निज भाव भजूँ है भवनाशक गुरु पढा दिया ॥२३८॥

सुनो शुभाशुभ पुण्य पाप औ सुख दुख छह त्रय युगल रहे ।
प्रति युगलो मे आदिम त्रय है हित कारण है विमल रहे ॥
उनको तुम अपने जीवन मे धारण कर लो सुख वर लो ।
अशुभ पाप दुख शेष अहित है अहित हेतुवो को हर लो ॥२३९॥

हित कारक मे भी आदिम सुख का तजना अनिवार्य रहा।
पुण्य और सुख स्वय छूट ही जाते है सुन आर्य ! महा ॥
इस विध शुभ को छोड शुद्ध मे श्वास श्वास पर बस रमना।
अन्त समय मे अनत पद पा अनन्त भव मे ना भ्रमना ॥२४०॥

जीव रहा चिर बधन बधित बधन तनादि आस्रव से।
आस्रव कषाय वश वे कषाय प्रमाद के उस आश्रय से ॥
वह मिथ्या अविरति वश अविरत कालादिक कारण पाते।
दृग व्रत प्रमाद बिन शम धारे योग रोध कर शिव जाते ॥२४१॥

यह तन मेरा रहा, मै इसका इसविध प्रीति रही।
तब तक-फल शिवसुख, आशा वृथा रही यह नीति सही ॥
कृषक कृषी है करता पूरण खेत भरी है फसल खडी।
ईति भीति आदिक से यदि है घिरी, फलाशा विफल रही ॥२४२॥

तन ही मै हूँ मै ही तन है इसविध चिर से भ्रान्त रहा।
भवसागर मे फलत अब तक दुखित रहा है क्लान्त रहा ॥
अन्य रहा हूँ तन से तन भी मुझसे निश्चित अन्य रहा।
तन तो तन है मै हूँ शिवसुख दे चैतन्य महा ॥२४३॥

बाहर कारण बाह्य वस्तु भी विगत काल मे अन्ध हुवा।
पर पदार्थ में रत तू था तव दृढतम विधि बध हुवा ॥
वही वस्तु वैराग्य ज्ञान वश विधि के क्षय मे कारण है।
सुधी जनो की सहज कुशलता अगम अहो ! अघमारण है ॥२४४॥

किसी जीव को अधिक अधिकतम विधि बधन वह होता है।
किसी जीव को न्यून न्यूनतम कर्म बध ही होता है ॥
किन्तु निर्जरा किसी किसी को केवल होती ज्ञात रहे।
बध मोक्ष का यही रहा क्रम यही बात जिननाथ कहे ॥२४५॥

गत जीवन मे जिसने बाँधा पुण्य रहा औ पाप रहा ।
बिना दिये फल वह यदि गलता तप का वह फल आप रहा ॥
वह शुचि उपयोगी है योगी उसे शीघ्र शिवधाम मिले ॥
पुन कर्म का आस्रव नहि हो ज्ञान ज्योति अभिराम जले ॥२४६॥

महा सुतप मय विशाल सरवर नयन मनोहर वह साता ।
उजल-उजल तम शान्त शान्त तम गुणमय जल से लहराता ॥
नियम रूप जो बाँध बँधी है किन्तु कभी वह ना फूटे ।
रहा उपेक्षित मत उससे तुम नहि तो जीवन ही लूटे ॥२४७॥

मुनि का मुनिपद घर है जिसके सुदृढ गुप्तित्रय द्वार रहे ।
मतिमय जिसकी नीव रही है धैर्य रूप दीवार रहे ॥
किन्तु कही भी दोष छिद्र यदि उसमे हो तो घुसते है ।
राग रोष मय कुटिल सर्प वे भय से मुनिगुण नशते है ॥२४८॥

कठिन कठिनतर विविध तपो को तपता तापस बनकर है ।
पूर्ण मिटाने निज दोषो को पूर्ण रूप से तत्पर है ॥
पर दोषो को अपना भोजन बना अज्ञ यदि जीता है ।
निज दोषो को और पुष्ट कर रहता सुख से रीता है ॥२४९॥

विधिवश शशि सम कलक गुणगण-धारक को यदि लगता ।
मूढ अन्ध भी सहज रूप से उसको बस लखने लगता ॥
दोष देखकर भी वह उसकी महानता को कब पाता ? ।
स्वय प्रकट शशि कलक लख भी विश्व कभी शशि बन पाता ? ॥२५०॥

विगत काल मे जो कुछ हमने किया कराया मरण किया ।
बिना ज्ञान अज्ञान भाव से प्रेरित हो आचरण किया ॥
क्रम-क्रम से इस विध योगी को वस्तु तत्त्व प्रतिभासित हो ।
ज्ञान भानु का उदय हुवा हो अँधकार निष्कासित हो ॥२५१॥

जिनके मन की जड वह ममता-जल से भीगी जब तक है ।
महातपस्वी जन की आशा-बेल युवती ही तब तक है ॥
अनशन आदिक कठिनी चर्या अत करे वे बुधजन है ।
चिर परिचित उस निजी देह से निरीह रहते निशिदिन है ॥२५२॥

क्षीर नीर आपस मे मिलकर एक रूप ही दिखते है ।
यथार्थ मे तो भिन्न-भिन्न ही लक्षण अपने रखते है ।
उसी भाँति तन आतम भी है भिन्न भिन्न फिर सही बता ।
धन कण आदिक पूर्ण भिन्न है फिर इनकी क्या रही कथा ॥२५३॥

स्वभाव से जल यद्यपि शीतल अनल योग पा जलता है ।
तप्त हुवा हूँ देह योग से सता रही आकुलता है ॥
इस विध चितन बार-बार कर भव्य जनो ने तन त्यागा ।
शान्त हुए विश्रान्त हुए है जिनमे अनन्त बल जागा ॥२५४॥

समय समय पर समान बल ले वृद्धि पा रहा नही पता ।
कब से बैठा मन मे मदमय महामोह है यही व्यथा ॥
समीचीन निज परम योग से उसका जिनने वमन किया ।
भावी जीवन उनका उज्ज्वल उनको हमने नमन किया ॥२५५॥

भव सुख तजने को सुख गिनते विधि फल सुख को आपद है ।
तन क्षय को मनवाछित मिलना निसगपन को सपद है ॥
दुख भी सुख भी सब कुछ सुख है जिन्हे साधु वे सही सुधी ।
सब कुछ लूटे किन्तु मनावे मृत्यु महोत्सव तभी सुखी ॥२५६॥

सुबुध उदय में असमय मे ला तप से विधि को खपा रहे ।
स्वय उदय मे विधि यदि आता खेद नही विधि कृपा रहें ॥
विजय भाव से रिपु से भिढने लडने भट यदि उद्यत हो ।
खुद रिपु चढ आता तब फिर क्या हानि लाभ ही प्रत्युत् हो ॥२५

सोहे परीषह सकल सग तज एकाकी निर्भ्रान्त दमी ।
तन भी शिव का कारण उस विध सोच लाज वश क्लान्तयमी ॥
निर्जी कार्यरत अकाय बनने आसन दृढकर ध्यान करे ।
गिरि कन्दर मे अभय सिह सम मोह रहित निज ज्ञान धरे ॥२५८॥

स्थान शिलातल जिनका भूषण निज तन पर जो धूल लगी ।
रहे सिह वह गुफा गृह है शय्या धरती शूलमयी ॥
यह मम गृह मैं विकल्प छोडे मोह ग्रन्थिया सब तोडे ।
शुद्ध करे मम मन को ज्ञानी निरीह शिव से मन जोडे ॥२५९॥

जिनमे अतिशय तप बल से वर ज्ञान ज्योति वह उदित हुई ।
किसी तरह भी निज को पाये तम चेतना मुदित हुई ॥
चपल सभय मृग अचल अभय हो वन मे जिनको लखते है ।
धन्य साधु चिरकाल बिताते अचिन्त्य चारित रखते है ॥२६०॥

आशा आतम मे जो अन्तर अज जनो को ज्ञात नही ।
उस अन्तर को ज्ञात किये बिन होते बुध विश्रान्त नही ॥
बाह्य विषय से हटा मनस को निज मे नियमित अचल रहे ।
शम धन धारे उन मुनि पद रज मम मन को अति विमल करे ॥२६१॥

पूर्व जन्म मे बँधा शुभाशुभ कर्म वही बस दैव रहा ।
वही उदय मे आता सुख दुख पाता तू स्वयमेव अहा ॥
स्तुत्य रहे शुभ करते केवल किन्तु वन्द्य वे मुनिजन है ।
शुभाशुभो को पूर्ण मिटाने तजे सग धन परिजन है ॥२६२॥

सुख होता या दुख होता जब किया कर्म का स्वफल रहा ।
हर्ष भाव क्यो खेद भाव क्यो करना, करना विफल रहा ॥
इस विध विचार, विराग यदि हो नया बंध ना फिर बनता ।
पूर्व कर्म सब झडे साधु तब मणि सम मजुलतर बनता ॥२६३॥

पूर्ण विमल निज बोध अनल वह देह गेह मे जनम लिया ।
यथा काष्ठ को अनल जलाता अदय बना तन भसम किया ॥
हुई राख तन तदुपरान्त भी उद्दीपित हो जलता है ।
विसमय-कारक साधु चरित है पता न बल का चलता है ॥२६४॥

गुणी रहा जो वही नियम से विविध गुणो का निलय रहा ।
विलय गुणो का होना ही बस हुवा गुणी का विलय रहा ॥
अत "मोक्ष" गुण गणी विलय ही अन्य मतो का अभिमत है ।
रागादिक की किन्तु हानि ही "मोक्ष" रहा यह "जिनमत" है ॥२६५॥

निज गुण कर्त्ता जिन सुख भोक्ता अमूर्त सुख से पूर रहे ।
केवलज्ञानी जनन दुख से तथा मरण से दूर रहे ॥
काय कर्म से मुक्त हुए प्रभु लोक शिखर पर अचल बसे ।
अतिम तन आकार जिन्होका असख्य देशी विमल लसे ॥२६६॥

कर्म निर्जरा लक्ष्य बनाकर तप मे अन्तर्धान रहे ।
तब कुछ दुख निश्चित हो तापस किन्तु उसे सुख मान रहे ॥
शुद्ध हुए फिर सिद्ध हुए है अविनश्वर सुखधाम हुए ।
वे किस विध फिर सुखी नहीं हो, जिन्हे स्मरे कृत काम हुए ॥२६७॥

इस विध कतिपय शुभ वचनो का माध्यम मैंने बना लिया ।
बुध मन रजक कृत्य रहा है विषयो से मन बचा लिया ॥
शिव सुख पाने करते मन मे इसका चितन अविकल है ।
मिटे आपदा मिले सपदा उन्हे शीघ्र सुख निर्मल है ॥२६८॥

परम पूत आचार्य दिगबर वीतराग जिनसेन रहें
जिनके पद की स्मृति मे जिसका मानस रत दिन रैन रहे ॥
वही रहा गुणभद्र सूरि, कृति आतम अनुशासन जिनकी ।
सुधा सिन्धु है पीते मिटती क्लान्ति सभी बस तन मन की ॥२६९॥

मंगल कामना

विषद पूर्ण मम ज्ञान हो विभाव मुझ से दूर ।
ध्यान विषय का तज स्मरूँ स्वभाव सुख से पूर ॥१॥

साधु बने समता धरो समयसार का सार ।
गति पंचम मिलती तभी मिटती है गति चार ॥२॥

रति पति भी अति भीत हो यति पति पद में लीन ।
विराग समकित का यही सुफल बनो रति हीन ॥३॥

रहूँ रमूँ निज में सदा भ्रमूँ न पर में भूल ।
चिदानन्द का लाभ लूँ पर तो सब कुछ धूल ॥४॥

तब तक जिन स्तुति में करूँ जब तक घट में प्राण ।
गुणनिधि बनना ध्येय हो अघ की पल में हान ॥५॥

नौबत दुख की अब नहीं आयेगी मतिमान ।
दया-धर्म उर धारता शिवपथ पर गतिमान ॥६॥

श्रम दम शम औ सम धरो क्रमश: कम श्रम होय ।
हे जिनवर का वर यही "मत" मन में मम होय ॥७॥

भूल क्षम्य हो

लेखक कवि मैं हूँ नहीं मुझ में नहि ज्ञान ।
त्रुटियां होवे यदि यहां शोध पढे धीमान ॥

गुरू स्मृति

तरणि ज्ञानसागर गुरो ! तारो मुझे ऋषीश ।
करुणाकर करुणा करो कर से दो आशीष ॥

समय एवं स्थान परिचय

संगमुक्त मुक्ता गिरी पर ससंघ इस वर्ष ।
धारा वर्षायोग है पाया आत्मिक हर्ष ॥१॥

काल गगन गति गंध की कार्तिक कृष्णा तीज ।
पूर्ण किया इस ग्रंथ को भुक्ति-मुक्ति का बीज ॥२॥

रयणमंजूषा

मूल रत्नकरण्डक श्रावकाचार

रचनाकार आचार्य समन्तभद्र स्वामी

पद्यानुवाद आचार्य विद्यासागर

रयण मंजूषा

सन्मति को मम नमन हो मम मति सन्मति होय।
सुर नर पशु गति सब मिटे गति पचम गति होय ॥१॥

चन्दन चन्दर चाँदनी से जिन धुनि अति शीत।
उसका सेवन मैं करूँ मन वच तन कर नीत ॥२॥

कुन्दकुन्द को नित नमूँ हृदय कुन्द खिल जाय।
परम सुगन्धित महक मे जीवन मम घुल जाय ॥३॥

महके अगुरू सुगन्ध है श्री गुरू समन्तभद्र।
श्रीपद मे अर्पित रहे गन्धहीन मम छन्द ॥४॥

तरणि ज्ञानसागर गुरो ! तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर करुणा करो कर से दो आशीष ॥५॥

रतनकरण्डक का करूँ पद्यमयी अनुवाद।
मात्र प्रयोजन मम रहा मोह मिटे परमाद ॥६॥

बाहर भीतर श्री से युत हो वर्धमान गतमान हुए,
विराग-जल से राग-मलिनता धुला स्वय छविमान हुए।
झलक रहा सब लोक सहित नभ जिनकी विद्या दर्पण मे,
मन वच तन से जिन चरणो मे करूँ नमन मुनि अर्पण मै ॥१॥

भव-सागर के दु ख गर्त से ऊपर भविजन को लाता,
उत्तम, उन्नत मोक्ष-महल मे स्थापित करता, सुख धाता।
धर्म रहा वह समीचीन है वसु विध विधि का नाशक है,
करूँ उसी का कथन मुझे अब बनना निज का शासक है ॥२॥

समदर्शन औ बोध चरितमय धर्म रहा यह ज्ञात रहे,
इस विध करुणा कर हम पर वे धर्म-नाथ जिननाथ कहे ।
किन्तु धर्म से, मिथ्या-दर्शन आदिक वे विपरीत रहे,
भव पद्धति है भव-दु ख के ही निशिदिन गाते गीत रहे ॥३॥

परमारथमय पूज्य आप्त मे परमागम अघहारक मे,
श्रद्धा करना भाव-भक्ति से तथा परम तपधारक मे ।
वसुविध अगो का पालन, त्रय मूढपना, वसु मद तजना,
वही रहा समदर्शन है नित रे 'मन समदर्शन भजना' ॥४॥

लोका-लोकालोकित करते पूर्ण ज्ञान से सहित रहे,
विरागता से भरित रहे है दोष अठारह रहित रहे ।
जगहित के उपदेशक ये ही नियम रूप से आप्त रहे,
यही आप्तता नही अन्यथा जिन-पद मे मम माथ रहे ॥५॥

क्षुधा नही है तृषा नही है जरा जनन नहि खेद नही,
रोक शोक नही राग रोष नहि तथा मरण नहि स्वेद नही ।
निद्रा, चिन्ता, विस्मय नहि है भीति अरति नहि गर्व रहा,
मोह न जिनमे आप्त रहे वे जिनपद मे जग सर्व रहा ॥६॥

परमेष्ठी है परम ज्योतिमय पूर्ण-ज्ञान के धारी है,
विमल हुए कृत-कृत्य हुए है वीतराग अविकारी है ।
आदि मध्य औ अन्त रहित है विश्व-विज्ञ जग-हितकारी,
वे ही शास्ता कहलाते है सदुपदेश के अधिकारी ॥७॥

भविक जनो का हित हो देते सदुपदेश स्वयमेव विभो,
प्रतिफल की वांछा न रखते वीतराग जिनदेव प्रभो ।
वाद्यकला मे पण्डित शिल्पी मुरज बजाता, बजता है,
मुरज[१] मॉगता नहीं कभी कुछ यही रही अचरजता है ॥८॥

१ मृदग

प्रत्यक्षादिक अनुमादिक प्रमाण से अविरोधित हो,
वीतराग सर्वज्ञ कथित हो नही किसी से बाधित हो ।
एकान्ती मत का निरसक हो सब जग का हितकारक हो,
अनेकान्तमय तत्त्व-प्रदर्शक शास्त्र वही अघहारक हो ॥९॥

विषयो से अति दूर हुए है कषायगण को चूर किया,
निरारम्भ है पूर्ण रूप से सकल सग को दूर किया ।
ज्ञान-ध्यान मय तप मे रत हो अपना जीवन बिता रहे,
महा-तपस्वी कहलाते वे हमे मनस्वी बता रहे ॥१०॥

तत्त्व रहा जो यही रहा है इसी तरह ही तथा रहा,
नही अन्य भी तथा रहा है नही अन्यथा यथा रहा ।
खड्ग धार पर थित जल-कण सम अचल सुपथ मे रुचि करना,
शका के बिन नि शक बनकर सम-दर्शन को शुचि करना ॥११॥

कर्मों पर जो निर्धारित है स्वभाव जिसका सान्त रहा,
सुख-सा दिखता किन्तु दु ख से भरा हुआ निर्भ्रान्त रहा ।
पाप बीज है इन्द्रिय-सुख यह इसमे अभिरुचि ना करना,
अनाकाक्षमय अग रहा है समदर्शन का सुख झरना ॥१२॥

स्वभाव से ही अशुचि धाम हो रहा अचेतन यह तन हो,
रतनत्रयी का योग प्राप्त कर पूज्य पूत पुनि पावन हो ।
ग्लानि नही हो मुनि-मुद्रा से गुण-गण के प्रति प्रीति रहे,
निर्विचिकित्सिक अग यही है समदर्शन की रीति रहे ॥१३॥

भटकाने वाले कुत्सित पथ दुखदायक जो बने हुए,
विषयो मे अति सने हुए है पथिक कुपथ के तने हुए ।
तन, मन, वच से इनकी सेवा अनुमति थुति भी नही करना,
यही दृष्टि है अमूढपन की प्राप्त करो शिव-सुख वरना ॥१४॥

स्वय रहा शुचितम शिव-पथ जिस पर चलते बिन होश कभी,
अज्ञ तथा निर्बल जन यदि वे करते है कुछ दोप कभी ।
उनके उन दोपो को ढकना कभी प्रकाशित नहि करना,
उपगूहन दृग अग रहा है अनग-सुख-प्रद उर धरना ॥१५॥

समदर्शन या पावन चारित यद्यपि पालन करते है,
खेद कभी यदि उनसे गिरते बाधक कारण घिरते है ।
धर्म-प्रेम से विज्ञ उन्हे बस पूर्व-स्थिति पर फिर लाते,
स्थितिकरण दृग अग वही है अपनाते निज घर जाते ॥१६॥

कुटिल भाव बिन जटिल भाव बिन साधर्मी से प्यार करो,
तरल भाव से सरल भाव से नित समुचित व्यवहार करो ।
यथायोग्य उनका विनायादिक करना भी कर्त्तव्य रहा,
रहा यही वात्सल्य अग है उज्ज्वल हो भवितव्य अहा ॥१७॥

अन्धकार अज्ञानमयी जब फैल रहा हो कभी कही,
उसे मिटाना यथायोग्य निज-शक्ति छुपाना कभी नही ।
जिन-शासन की महिमा की हो और प्रसारण सुखद कहाँ
प्रभावना दृग अग यही है पाप रहे फिर दुखद कहाँ ? ॥१८॥

प्रथम अग नि शकित में वह प्रसिद्ध अजन चोर महा,
नि काक्षित मे अनन्तमति यश फैल रहा चहुं ओर यहाँ ।
निर्विचिकित्सित मे उद्दायन ख्यात हुआ कृतकाम हुआ,
अडिग रेवती अमूढपन मे ख्यात उसी का नाम हुआ ॥१९॥

स्थितिकरण के पालन मे रत नामी जिनेन्द्र-भक्त रहे,
छठा अग उपगूहन मे वर वारिषेण अनुरक्त रहे ।
इसी भाँति वात्सल्य अंग मे विष्णु-मुनि विख्यात रहे,
ख्यात हुए है प्रभावना मे वज्र मुनीश्वर, ज्ञात रहे ॥२०॥

समदर्शन यदि निज अगो का अवधारक वह नही रहा,
जनन जरा भय भव्-सतति का हारक भी फिर नही रहा ।
न्यूनाधिक अक्षर वाला हो मन्त्र जहर को कब हरता ?
उचित रहा यह समुचित कारण निजी कार्य वह द्रुत करता ॥२१॥

ककर-पत्थर ढेर लगाना स्नान नदी सागर करना,
अग्नि-कुण्ड मे प्रवेश करना गिरि पर चढकर गिर मरना ।
लोक मूढता यही रही है मूढ इन्हे बस धर्म कहे,
अत मूढता बुधजन तजकर शाश्वत शुचि शिव-शर्म गहे ॥२२॥

राग-रोष से दोष-कोष से जिनका जीवन रजित है,
देव नही वे, कुदेव सारे देव-भाव से वचित है ।
धन सुत आदिक की वाछा से उनकी पूजा जड करते,
देव मूढता यही, इसी से विधि-बन्धन को दृढ करते ॥२३॥

सग सहित आरभ सहित है हिसादिक मे फँसे हुए,
सासारिक कार्यो मे उलझे मोह पाश से कसे हुए ।
कुगुरु रहे वे उनका आदर जो जड जन नित करते है,
गुरू-मूढता यही इसी से पुनि-पुनि तन-धर मरते है ॥२४॥

ज्ञानवान हूँ ऋषिमान हूँ उच्च-जाति कुलवान तथा,
पूज्य प्रतिष्ठित रूपवान हूँ तप-धारी बलवान तथा ।
मनमे आविर्मान, मान हो इन आठो के आश्रय ले,
वही रहा 'मद' निर्मद कहते जिनवर जिनका आश्रय ले ॥२५॥

व्यर्थ गर्व से तने हुए है मन मे जो मद-मान धरे
धार्मिक जीवन जीने वाले भविजन का अपमान करे
अत स्वय ही आत्म-धर्म का मिटा रहे वह भूल रहे
धर्मात्मा बिन चूकि धर्म नहि मिलता जो भव कूल रहे ॥२६॥

सवरमय समकित आदिक से जिनका कलुषित पाप धुला
जात-पात धन कुल से फिर क्या ? रहा प्रयोजन आप भला
किन्तु पाप-मय जीवन जिनका बना हुआ है सतत रहा
बाह्य सम्पदादिक फिर भी वह मूल्य-शून्य सब वितथ रहा ॥२७॥

निजी कर्म के उदय प्राप्त कर जन्म-जात चाण्डाल रहा
पर समदर्शन से है जिसका भासित जीवन भाल रहा
गणधर आदिक पूज्य साधुजन पूज्य उसे भी तदपि कहा
तेज अनल ज्यो अन्दर ऊपर राख ढकी हो यदपि अहा ! ॥२८॥

धर्म-भाव वश श्वान स्वर्ग मे देव बने वह सुखित बने,
पाप-भाववश देव श्वान हो पशुगति मे आ, दुखित घने ।
अत धर्म के बिन जग जन को अन्य कौन फिर सम्पद है ?
धर्म-शरण हो मम जीवन हो अक्षय सुख का आस्पद है ॥२९॥

आशा भय के स्नेह लोभ के वशीभूत्त सुख खोकर के,
कुगुरु-देव आगम ना पूजे नही विनय बुध हो करके ।
चूँकि विमल समदर्शन से वह जिनका जीवन पोषित है,
इस विध गुरु कहते जिनके तन-मन यम दम से शोभित है ॥३०॥

ज्ञात रहे यह बात सभी को समदर्शन ही श्रेष्ठ रहा,
ज्ञान तथा चारित में समपन लाता फलत जेष्ठ रहा ।
मोक्ष-मार्ग मे समदर्शन ही खेवटिया सम मौलिक है,
सन्त कह रहे, कर नहि सकते जिसका वर्णन मौखक है ॥३१॥

विद्या चारित के उद्भव औ रक्षण वर्धन सुफल रहा,
समदर्शन बिन सभव नहि है कुछ भी करलो विफल अहा ।
उचित बीज बिन भला बता तू फूल-फलों से लदा हुआ,
हरित भरित तरु कभी दिखा क्या समदर्शन बिन मुधा रहा ॥३२॥

शिव-पथ का वह पथिक रहा है गृही बना यदि निर्मोही,
मोक्ष-मार्ग से बहुत दूर है मुनि होकर यदि मुनि मोही ।
अत मोह से मण्डित मुनि से मोह रहित "वर" गृही रहा,
मात्र भेष नहि गुण से शिव हो यही रहा श्रुत, सही रहा ॥३३॥

तीन लोक मे तीन काल मे तनधारी को सुखकारी,
अन्य कौन यह द्रव्य रहा है समदर्शन बिन दुखहारी ।
इसी भाँति मिथ्यादर्शन सम और नही दुखकारक है,
हित चाहो हित कारण धारो गुरु गाते गुण धारक है ॥३४॥

विरत यदपि है जिनका जीवन अविरत है,
किन्तु विमल तम समदर्शन के आराधन मे नित रत है ।
प्रथम नरक बिन नही नपुंसक पर भव पशु स्त्री ना हो,
अल्प आयुषी अपाग ना हो दरिद्र ना दुष्कुलिना हो ॥३५॥

बने यशस्वी बने मनस्वी ओज तेज से सहित बने,
नीर निधी सम धीर धनी भी शत्रु-विजेता मुदित घने ।
महाकुली हो शिवपथ साधक मनुज लोक के तिलक बने,
समदर्शन से विमल लसे है शीघ्र निरंजन अलख बने ॥३६॥

अणिमा महिमा गरिमादिक वसु गुण पूरण पा तुष्ट रहे,
अतिशय सुन्दर शोभा-से बस विलसित हो सपुष्ट रहे ।
सुर बनकर सुर वनिताओ से सुचिर स्वर्ग मे रमण करे,
दृग धारक जिनके आराधक फिर शिवपुर को गमन करे ॥३७॥

चक्री बनकर चक्र चलाते छह खण्डो के अधिपति है,
जिनके पद मे मुकुट चढाते सादर आ धरणीपति है ।
नव-निधियाँ शुभ चौदह मणियाँ सभी उन्ही को प्राप्त रहे,
जो है शुचितम दर्शनधारी इस विध हमको आप्त कहे ॥३८॥

सुरपति, नरपति, असुराधिप भी जिन चरणो मे माथ धरे,
गणधर आदिक पूज्य साधु तक जिन्हे सदा प्रणिपात करे ।
सत्य-दृष्टि से तत्त्व-बोध को पाये जग मे शरण रहे,
धर्म-चक्र के चालक वे ही तीर्थंकर सुख शरण रहे ॥३९॥

रोग नही है शोक नही है जहाँ जरा नहि मरण नही,
बाधा की भी गध नही है शका का अनुसरण नही ।
पूरण विद्या सुख शुचि सम्पद अनुपम अक्षय शिवपद है,
समदर्शन के धारक ही वे पा लेते अभिनव पद है ॥४०॥

यो सुरपुर मे अमित सम्पदा-युत सुरपति पद भोग वहाँ
पुन धरापतियो से पूजित नरपति पद का योग यहाँ
तीन लोक मे अनुपम अद्भुत तीर्थकर पद पाकर के,
प्रभु-पद-पकज-पूजक भविजन शिव हो निज घर जाकर के ॥४१॥

अहो ! न्यूनता-रहित रहा है सशय से भी रीता है,
तथा अधिक रहित रहा है नही रहा विपरीता है ।
सदा वस्तु जब जिस विध भाती उन्हे उसी विध जान रहा,
जिन कहते है समीचीन बस ! ज्ञान वही सुख खान रहा ॥४२॥

महापुरुष की कथा, शलाका पुरुषो की जीवन गाथा,
गाता जाता बोधि विधाता समाधि-निधि का है दाता ।
वही रहा प्रथमानुयोग है परम-पुण्य का कारक है,
समीचीन शुचि बोध कह रहा, रहा भवोदधि तारक है ॥४३॥

लोक कहाँ से रहा कहाँ तक अलोक कितना फैला है ?
कब किस विध परिवर्तन करता काल खेलता खेला है ।
दर्पण सम जो चहुँ गतियो को स्पष्ट रूप से दर्शाता,
वही रहा करणानुयोग शुचि-ज्ञान बताता हर्षाता ॥४४॥

सागारो का अनगारो का चरित सुखद है पावन है,
जिसके उद्भव रक्षण वर्धन मे बाहर जो साधन है ।
वही रहा 'चरणानुयोग' है पूर्ण-ज्ञान यो बता रहा,
उसका अवलोकन कर ले तू समय वृथा क्यो बिता रहा ॥४५॥

जीव-तत्त्व क्या कहाँ रहा, अजीव कितने रहे कहाँ
पाप रहा क्या पुण्य रहा क्या, बध मोक्ष क्या रहे कहाँ ?
इस सबको द्रव्यानुयोग-मय, दीप प्रकाशित करता है,
मूल-भूत जिन श्रुत विद्या का, प्रकाश लेकर जलता है ॥४६॥

सुचिर काल के मोह तिमिर को, पूर्ण रूपसे भगा दिया
समदर्शन का लाभ हुआ जो, सत्य-ज्ञान को जगा लिया ।
राग-रोष का मूल रूप मे, क्षय करना अब कार्य रहा,
तभी चरित को धारण करता, साधु रहा यह आर्य रहा ॥४७॥

हिसादिक सब पापो के जब, निराकरण के करने से,
राग रोष ये मिटते कारण, बाधक कारण मिटने से ।
जिसके मन मे अणु भर भी नहि, धन मणि यश की अभिलाषा,
किस विध कर सकता फिर सेवा, राजा की वह बन दासा ॥४८॥

हिसा से औ असत्य से भी, चोरी मैथुन-सेवन से,
पापास्रव के सभी कारणो, और परिग्रह मेलन से ।
सुदूर होना भाग्य मानकर, सयम-मय जीवन जीना,
सच्चे ज्ञानी पुरुषो का वह, चारित है निज आधीना ॥४९॥

सकल सग को त्याग चुके है, अनगारो का सकल रहा,
अल्प सग को त्याग चुके है, सागारो का विकल रहा ।
सकल नाम का विकल नाम का, इस विध चारित द्विविध रहा,
भविजन धरते फल मिलता है, सुर-सुख शिव-सुख विविध महा ॥५०॥

गृही जनों का विकल चरित भी, त्रिविध बताया जिनवर ने,
अणुव्रत गुणव्रत शिक्षाव्रत यों नाम पुकारा गणधर ने ।
रहा पाँचवाँ अणुव्रत भी वह, गुणव्रत भी वह त्रिविध रहा,
शिक्षाव्रत वह रहा चतुर्विध, रुचि से पालो सुबुध अहा ? ॥५१॥

प्राणनाशिनी हिंसा का औ, अनुचित असत्य भाषण का,
चोरी, मैथुन-सेवन का भी तथा संग के धारण का ।
पूर्ण नहीं पर स्थूल रूप से, पापों का जो त्याग रहा,
अणुव्रत माना जाता है वह, सुख का ही अनुभाग रहा ॥५२॥

कभी भूलकर काया से भी, और वचन से निजमति से,
कृत से भी औ कारित से भी, अन्य किसी की अनुमति से ।
संकल्पित हो त्रस जीवों का, प्राण-घात जो नहि करना,
'अहिंसाणुव्रत' वही रहा है, जिन कहते तू उर धरना ॥५३॥

निर्बल नौकर पशु पर भारी, भार लादना रोज व्यथा,
छेदन भेदन पीडन करना, देना कम ही भोज तथा ।
अहिंसाणुव्रत के पाँचों ये, अतीचार हैं त्याज्य रहे,
तजता वह, भजता सुर सुख औ, क्रमशः शिव-साम्राज्य गहे ॥५४॥

स्थूल झूठ ना स्वयं बोलता, तथा न पर से बुलवाता,
तथा सत्य से बच, बचवाता, पर-पर यदि संकट आता ।
स्थूल सत्यव्रत यही रहा है, श्रावक पाले मन हरषे,
पर उपकारों में रत गणधर, उस विध कहते सुख बरसे ॥५५॥

कभी धरोहर डकार जाना, अहित पथ को "हित" कहना,
नर-नारी के गुप्त प्रणय को, प्रकटाना चुगली करना ।
ईर्षावश, नहि किये कहे को, किये कहे यों लिख देना,
स्थूल-सत्यव्रत के ये दूषण, रस इनका न चख लेना ॥५६॥

रखी हुई या गिरी हुई या, कभी भूल से कही रही,
औरो की जो वस्तु रही हो, दी न गई हो निजी नही ।
उसे न लेना, अन्य किसी को तथा न देना भूल कभी,
'अचौर्य अणुव्रत' यही रहा है, रहा सौख्य का मूल यही ॥५७॥

चोरी करने प्रेरित करना, चौर्य द्रव्य पर से लेना,
काम मिलावट का करना औ, सत्ता का कर नहि देना ।
मापतौल मे बढन-घटन कर लेन-देन करते रहना,
अचौर्य अणुव्रत के ये पाँचो, दोष इन्हे हरते रहना ॥५८॥

पाप कर्म से डरते है जो, पर-वनिता का भोग नही,
स्वय तथा पर को प्रेरित नहि, करते है बुध लोग कभी ।
पर वनिता का त्याग रूप वह, ब्रह्मचर्य अणुव्रत भाता,
तथा उसी का अपर नाम है "स्वदार सन्तोषित" साता ॥५९॥

पर के विवाह करना, अनुचित अग-संग मैथुन करना,
गाली गलौच देना, इच्छा काम-भोग की अति करना ।
व्याभिचारिणी के घर जाना, आना वार्तादिक करना,
ब्रह्मचर्य अणुव्रत के पाँचो दूषण है इनसे डरना ॥६०॥

दशविध परिग्रह धान्यादिक का, समुचित सीमित कोष करे,
सग्रह उससे अधिक सग का, नही करे, मनतोष धरे ।
"परिमित परिग्रह" पचम अणुव्रत यही रहा सुन सही जरा,
"इच्छा परिमाणक" भी प्यारा नाम इसी का तभी परा ॥६१॥

बहुत भार को ढोना सग्रह, व्यर्थ सग का अति करना,
पर धन लख विस्मित होना अतिलोभी बहु वाहन रखना ।
परिमित परिग्रह पंचम अणुव्रत, के पाँचो ये दोष रहे,
इस विध कहते जिनवर हमको, वीतराग गत दोष रहे ॥६२॥

अतीचार से रहित रही है, सारी अणुव्रत की निधियाँ,
नियम रूप से शीघ्र दिखाती, स्वर्गो की स्वर्णिम गलियाँ ।
अणिमा महिमादिक आठो गुण अवधिज्ञान से सहित मिले,
भव्य-दिव्य मणिमय-सी काया छाया मे जो रहित मिले ॥६३॥

आदिम मे मातङ्ग रहा है, दूजे मे धनदेव रहे,
वारिषेण नीली जय क्रमश अन्य व्रतो मे, देव कहे ।
इस विध अणुव्रत पालन मे ये, दक्ष रहे निष्णात हुए,
पूजा अतिशय यश पाया है, भविक जनो मे ख्यात हुए ॥६४॥

सुनो ! सुनो ! हिसा मे कुशला रही धनश्री सेठानी,
असत्य मे तो सत्यघोष वह चोरी मे तापस नामी ।
काम पाप मे यमपालक था और स्मश्रु-नवनीत रहा,
पाँचो पापो मे यो पाँचो ख्यात यही अघ-गीत रहा ॥६५॥

मद्य-मांस-मधु मकार त्रय का प्रथम पूर्ण वारण करना,
अहिसादि अणुव्रत पाँचो का सादर परिपालन करना ।
गृही जनो के अष्टमूल-गुण श्रमणवरो ने बतलाया,
पाला जिसने पाया उसने पावन-पद शाश्वत काया ॥६६॥

गुणव्रत है त्रय दिगव्रत आदिम अनर्थदण्डक व्रत प्यारा,
भोगोपभोग परिमाण तथा रहा तीसरा व्रत सारा ।
विमल बनाते सबल बनाते सकल मूलगुण के गण को,
सार्थक इनका नाम इसी से आर्य बताते भविजन को ॥६७॥

मरण काल तक दशो दिशाओ की मर्यादा अपनाना,
उससे बाहर कभी न जाऊँ यो सङ्कल्पित हो जाना ।
चूँकि ध्येय है सूक्ष्म पाप से भी पूरण बचकर रहना,
है दिग्व्रत इस विध पूज्य गणधरो का कहना ॥६८॥

सागर सरिता सरवर भूधर पुर गोपुर औ नगर महा,
यथा प्रयोजन, योजन आदिक वन-उपवन गिरि शिखर महा।
दशो दिशाओ की मर्यादा गुणव्रत धरके की जाती,
इन्ही स्थलो को हेतु बनाते जिनवाणी यो बतलाती ॥६९॥

मर्यादा के बाहर जबसे सूक्ष्म पाप से रहित हुए,
पापभीत हो यथा प्रयोजन सभी दिग्व्रतो सहित हुए।
तभी महाव्रत पन को पाते सागारो के अणुव्रत हो,
पाप त्याग की महिमा न्यारी अकथनीय है अनुगत हो ॥७०॥

कषाय प्रत्याख्यानावरणा मन्द-मन्दतर हुए जभी,
चरित मोह परिणाम सभी वे मन्द-मन्दतर हुए तभी।
मोहादिक के भाव यदपि है सहज पकड मे नही आते,
तभी गृही उपचार मात्र से महाव्रती वे कहलाते ॥७१॥

हिसादिक पॉचो पापो को तन से वच से औ मति से,
पूर्ण त्यागना भूल राग को कृतकारित से अनुमति-से।
महामना मुनि महाराज का रहा महाव्रत सुधा वही,
सग सहित हो स्वय आपको मुनि माने जो मुधा वही ॥७२॥

ऊपर-नीचे आजू-बाजू सीमा उल्लघन करना,
किसी प्रलोभनवश निर्धारित, सीमा सवर्धन करना।
प्रमादवश कृत सीमा की स्मृति विस्मृत करना, मूढ रहे,
आगम कहता सुनो। पॉच ये दिग्व्रत के है शूल रहे ॥७३॥

दशो दिशाओ की मर्यादा के भीतर भी वच तन को,
बिना प्रयोजन पाप कार्य से रोक लगाना निज मन को।
अनर्थ दण्डक व्रत यह माना, व्रत धरके गुरु बतलाते,
जिसके जीवन मे यह उतरा तरा भवोदधि वह तातै ॥७४॥

रुचि से सुनना पाप कथाये और सुनाना औरो को,
प्रमाद करना, प्रदान करना हिसा के उपकरणो को ।
अनर्थ-दण्डक पाँच पाप ये दुश्चितन मे रत रहना,
इन दण्डो को नही धारते गणधर देवो का कहना ॥७५॥

पशुओ को पीडा हो जिनसे कृषि आदिक हिसाधिक हो,
जिन उपदेशो से यदि बढसे प्रचलित प्रवचनादिक हो ।
उन्ही कथाये बार-बार बस, सतत सुनाते जो रहना,
वही रहा पापोपदेश है अनर्थ जड है भव गहना ॥७६॥

हिसा के जो कारण माने फरसा भाला हाला को,
खड्ग कुदारी तथा शृखला जलती ज्वाला जाला को ।
प्रदान करना, अनर्थ दण्डक यह है हिसा दान रहा,
बुध कहते, दु ख प्रदान करता भव-भव मे दु ख खान रहा ॥७७॥

द्वेषभाव से कभी किसी के बधन छेदन का वध का,
रागभाव के वशीभूत हो परवनितादिक का धन का ।
मन से चितन करना हो तो दु ख हेतु दुर्ध्यान रहा,
जिन शासन के शासक कहते सौख्य हेतु शुभ ध्यान रहा ॥७८॥

कृषि आदिक का वशीकरण का, सग वृद्धि का वर्णन हो,
वीर रसो का मिश्रण जिनमे द्वेषभाव का चित्रण हो ।
कुमत मदन के पोषक है, उन शास्त्रों का श्रवण रहा,
मन कलुषित करता, 'दु श्रुति' यह इसका फल भवभ्रमण रहा ॥७९॥

अनल जलाना अनिल चलाना सलिल सिचना वृथा कभी
धरा खोदना, धूल उछालन लता तोडना तथा कभी
बिना प्रयोजन स्वय घूमना और घुमाना परजन को,
प्रमाद नामक अनर्थ दण्डक यह कारण भव-बधन को ॥८०॥

बहु बकना अति राग भाव से, असभ्य बाते भी करना,
भोग्य वस्तुये अधिक बढाना कुत्सित चेष्टाये करना
किसी कार्य का ऽऽरम्भ अधिक भी पूर्व भूमिका बिन करना,
अनर्थ दण्डक व्रत के पाचो दोष रहे ये, नहि करना ॥८१॥

विषय राग की लिप्सा को जब और क्षीणतम करना है,
विषयो की सीमा को उसके भीतर भी कम करना है
आवश्यक पचेन्द्रिय विपयो की सीमा सीमित करना,
भोगोपभोग परिमाण यही है गुणव्रत धरना हित करना, ॥८२॥

भोग वही जो भोग काम मे एकबार ही आता है,
किन्तु रहा उपभोग काम मे बार-बार जो आता है
अशन सुमन आसन वसनादिक पचेन्द्रिय के विषय रहे,
श्रावक इनमे रचे-पचे नहि निज व्रत मे नित अभय रहे ॥८३॥

जिसने जिनवर के जग तारण-तरण-चरण की शरण गही,
कहा जा रहा उसका, निश्चित बनता है आचरण सही
त्रसहिसा से जब बचता है मांस तथा मधु तजता है,
तथा साथ ही प्रमाद तजने मद्य-पान भी तजना है ॥८४॥

मूली, लहसुन, प्याज, गाजरा, आलू, अदरक आदिक को,
नीम कुसुम नवनीत केवडा गुलाब गुलन्दादिक को
साधु जनो ने त्याज्य बताया इसका कारण यह श्रोता !
जीव घात तो अधिक, अल्प फल इनके भक्षण से होता ॥८५॥

रोग जनक प्रतिकूल अन्न हो भक्ष्य भले ही त्याज्य रहे,
प्रासुक हो पर अनुपसेव्य भी व्रतीजनो को त्याज्य रहे
क्योकि ग्रहण के योग्य विषय को, इच्छापूर्वक तजना ही,
व्रत है इस विध आगम कहता, मोह राग को तज राही ॥८६॥

भोगोपभोग परिमाण द्विविध है कहता जिन आगम प्यारा,
नियम नाम का एक रहा है, रहा दूसरा 'यम' वाला
तथा काल की सीमा करना, वही नियम से नियम रहा,
आजीवन जो धारा जाता यम कहलाता परम रहा ॥८७॥

अशन पान का शयन स्नान का तथा काम के सेवन का,
श्रवण गान का सुमन माल का ललित काय के लेपन का
पचन पान का वसन मान का शोभन भूषण धारण का,
वाद्य गीत सगीत प्रीति हा हयगय अतिशय वाहन का ॥८८॥

घटिका मे या दिनभर मे या निशि मे निशिवासर मे या,
पक्ष मास ऋतु एक अयन मे पूरण संवत्सर मे या
यथा शक्ति इन्द्रिय विषयो का जो तजना है "नियम" रहा,
इसका पालन करने वाला सुख पाता अप्रतिम रहा ॥८९॥

विषम-विषमतम विष सम विषयो को अनपेक्षित नहि करना,
विगत काल मे भोगे-भोगो, की स्मृति भी पुनि-पुनि करना
भावी भोगो की अति तृष्णा, लोलुपता अति अपनाना,
भोगोपभोग परिमाण दोष ये, भोगो मे अति रम जाना ॥९०॥

प्रथम देश अवकाशिक प्यारा दूजा है सामयिक तथा,
रहा प्रोषधा उपवासा है, "वैयावृत्य, श्रमिक-कथा"
मुनिव्रत शिक्षा मिलती इनमें शिक्षा व्रत ये चार रहे
मुनि बनने की इच्छा रखते श्रावक इनको धार रहे ॥९१॥

बहुत क्षेत्र की दशो दिशाओ, मे सीमा आजीवन थी
उसे काल की मर्यादा से, कम-कम करना प्रतिदिन भी
यही देश अवकाशिक व्रत है, अणुव्रत पालक श्रावक का,
यही देशनामृत मृतिनाशक जिन शासन के शासक का ॥९२॥

ग्राम तथा आराम धाम निज पुर गोपुर औ भवन महा,
यथा प्रयोजन योजन-योजन नद नदिका वन गहन अहा
सुनो ! देश अवकाशिक व्रत मे, इनकी सीमा की जाती,
गणी कहे, भवतीर लगाती वीर भारती भी गाती ॥९३॥

एक स्थान पर रहूँ वर्ष या एक अयन ऋतु पक्ष कभी,
चार मास या मास बनाना नियम कभी नक्षत्र कभी
यही देश अवकाशिक व्रत की कालावधि मानी जाती,
ज्ञानी ध्यानी कहते है औ जिनवर की वाणी गाती ॥९४॥

देश काल की सीमाये जब, निर्धारित कर पाने से,
उनके बाहर स्थूल सूक्ष्म अघ पॉचो ही मिट जाने से
स्वय देश अवकाशिक व्रत भी अणुव्रत होकर महा बने,
व्रत की महिमा यही रही है दु ख बनता सुख सुधा बने ॥९५॥

कभी भेजना सीमा बाहर पर को अथवा बुलवाना,
ककर आदिक फेक सूचना करना ध्वनि देकर गाना
सीमा के अन्दर रहना पर रूप दिखाना बाहर को,
दोष, देश अवकाशिक व्रत के ये हैं, तज अघ-आकर को ॥९६॥

सीमा के भीतर बाहर पाचो पापों का त्याग करो,
तन से मन से और वचन से आतम मे अनुराग करो
यही रहा सामयिक नाम का शिक्षाव्रत अघहारक है,
ऐसे कहते गणधर आदिक अगाध आगम धारक है ॥९७॥

केशबन्ध का मुष्टिबन्ध का वस्त्र बन्ध का काल रहा,
तथा बैठने स्थित होने का जो आसन का काल रहा
वही रहा सामयिक समय है कहते आगम ज्ञाता है,
जो करता सामयिक नियम से बोधि समागम पाता है ॥९८॥

व्यभिचारी महिलाजन पशु से रहित रहे एकान्त रहे,
सभी तरह की बाधाओ से रहित रहे पै, शान्त रहे
निजी भवन मे वन उपवन मे चैत्य भवन या जगल मे,
व्रती सदा सामयिक करे वह प्रसन्न मन से मगल मे ॥९९॥

देहाहिक की दूषित चेष्टा प्रथम नियन्त्रित भी करके,
सकल्पो औ विकल्प जल्पो का निग्रह कर भीतर से ।
अनशन के दिन करना अथवा एकाशन के दिन मे भी करना,
व्रती पुरुष सामयिक यथा विधि अन्य दिनो मे भी करना ॥१००॥

यथाविधी एकाग्र चित्त से श्रावकजन नित प्रतिदिन भी,
अहोभाग्य सामयिक करे वे अनुत्साह आलस बिन ही ।
क्योकि अहिसादिक अणुव्रत हो पूर्ण इसी से सफल रहे,
गीत इसी के निशिदिन गाते मुनिगण नायक सकल रहे ॥१०१॥

सुनो ! व्रती सामयिक करेगा जब करता आरम्भ नही,
पास परिग्रह नहि रखता है पर का कुछ आलम्ब नही ।
तभी गृही वय यतिपन को है पाता दिखता है ऐसा,
हुआ कही उपसर्ग वस्त्र से वेष्ठित मुनि लगता जैसा ॥१०२॥

श्रावक जब सामयिक कार्य को करने सकल्पित होता,
बाँधी सीमा तक अपने मे पूर्णरूप अर्पित होता ।
मच्छर आदिक काट रहे हो शीत लहर हो अनल दहे,
सहे परीषह उपसर्गो को मौन योग मे अचल रहे ॥१०३॥

अशरण होकर अशुभ रहा है सार नही दु ख क्षार रहा,
पर है परकृत तथा रहा है क्षणभगुर ससार रहा ।
किन्तु शरण है शुभ है सुख है स्वय मोक्ष ध्रुव सार रहा,
यह चितन सामयिक काल मे करता वह भव पार रहा ॥१०४॥

मन वच तन के योग तीन ये पाप सहित जो बन जाना,
तथा अनादर होना-होना सहसा विस्मृत अनजाना ।
ये पाचो सामयिक नाम के शिक्षाव्रत के दोष रहे,
दोष रहित जिनदेव बताते गुण-गण के जो कोष रहे ॥१०५॥

सदा अष्टमी चतुदर्शी को भोजन का बस त्याग करे,
अशन पान को खाद्य लेह्य को, याद करे ना राग करे ।
यही "प्रोषधा उपवासा" है व्रतीजनो का ज्ञात रहे,
किन्तु मात्र व्रत पालन करना सत्य प्रयोजन साथ रहे ॥१०६॥

लोचन अजन नासा रजन दॉतन मजन स्नान नही,
नास तमाखु अलकार ना फूल-माल का मान नही ।
असि मशि कृषि आदिक षट्कर्मों पापो का परिहार करे,
निराहार उपवास दिनो मे निज का ही शृगार करे ॥१०७॥

पूर्ण चाव से निज श्रवण से धर्मामृत पा पान करे,
बने अन्य को पान करावे सहधर्मी का ध्यान करे ।
ज्ञानाराधन द्वादशभावन धर्म ध्यान मे लीन रहे,
किन्तु व्रती उपवास दिनो मे प्रमाद-भर से हीन रहे ॥१०८॥

अशन पान का खाद्य लेह्य का पूर्ण-त्याग उपवास रहा,
एक बार ही भोजन करना प्रोषध उसका नाम रहा ।
तथा पारणा के दिन भोजन एक बार ही जो गहना,
रहा "प्रोषधा उपवासा" वह बार-बार गुरु का कहना ॥१०९॥

देख-भाल बिन शोधे बिन ही पूजन द्रव्यो को लेना,
जहाँ कहीं भी दरी बिछाना मल-मूत्रो को तज देना ।
तथा अनादर होना, होना विस्मृति भी वह कभी-कभी,
दोष प्रोषधा उपवासा के है कहते है सुधी सभी ॥११०॥

तपोधनी हैं गुण के निधि हैं गृह-त्यागी संयम-धर हैं,
उनको अन्नादिक देना यह "वैयावृत्या" व्रतवर है ।
पर प्रतिफल की मन्त्र-तन्त्र की इच्छा बिन हो दान खरा,
यथाशक्ति से तथा यथाविधि धर्म-भाव पर ध्यान धरा ॥१११॥

संयमधर पर आया संकट उसे मिटाना कार्य रहा,
पर थके हों पीड़ा हो तो उन्हें दबाना आर्य महा ।
गुण के प्रति अनुराग जगा हो अन्य-अन्य उपकार सभी,
वैयावृत्या कहलाता है लाता है भवपार वही ॥११२॥

पाप कार्य सब चूल्ही चक्की आदिक मने त्याग दिये,
आर्य रहे अनिवार्य कार्यरत संयम मे अनुराग किये ।
उन्हें सप्त गुण युत शुचि श्रावक नवविध भक्ति हे करता,
प्रासुक अन्नादिक देता वह दान कहाता दु:ख हरता ॥११३॥

अगार तज अनगार बने हे अतिथि रहे नहि तिथि रखते,
उन पात्रो को दाता देते दान यथोचित मति रखते ।
गृह-कार्यो से अर्जित दृढतम अघ भी जिससे धुलता हे,
रुधिर नीर से जिस विध धुलता, आती अति उज्ज्वलता हे ॥११४॥

तपोधनो को नमन करो तो सुफल निराकुल सुकुल मिले,
उपासना से पूजा मिलती भोग दान से विपुल मिले ।
भक्त बनो गुरु-भक्ति करो तो सुभग-सुभगतम तन मिलता,
गुरु-गुण-गण की स्तुति करने से यश फैले जन मजुलता ॥११५॥

सही पात्र को भाव-भक्ति से समयोचित हो दान रहा,
अल्पदान भी अनल्प फल दे भविजन को वरदान रहा ।
उचित धरा पर वपन किया हो, हो अणु-सा वट बीज भले,
घनी छाँव फल देता तरु बन भाव भले, शुभ चीज मिले ॥११६॥

प्रथम रहा आहार दान है दूजा औषध दान रहा,
शास्त्रदिक उपकरणदान जो वही तीसरा दान रहा ।
चौथा है आवासदान यो भेद दान के चार रहे,
वैयावृत्या अत चतुर्विध सुधी कहे आचार्य कहे ॥११७॥

प्रजापाल श्रीषेण नाम का प्रथम दान मे ख्यात रहा,
हुई वृषभसेना वह औष्ध महादान मे ख्यात महा ।
तथा रहा उपकरण-दान मे नामी है कौण्डेश अहा,
सूकर वह आवास-दान मे यह गुरु का उपदेश रहा ॥११८॥

देवो से भी पूज्य देव "जिन" जिनके सुरपति दासक है,
प्रभु पद पकज कामधेनु है कामभाव का नाशक है ।
सविनय सादर जिनपद पूजन बुधजन प्रतिदिन करे अत ,
सब दुख मिटता मिलता निज सुख क्रमश शिव को वरे स्वत ॥११९॥

अरहन्तो के चरण कमल की पूजा की महिमा न्यारी,
शब्दो मे वह बध नहि सकती थकती रसनाये सारी ।
इस महिमा को राजगृही मे भविक जनो के सम्मुख रे,
प्रमुदित मेण्ढक दिखलाया है फूल-पॉखुडी ले मुख मे ॥१२०॥

अतिथिजनो को दाता देते भोजन जो यदि ढका हुआ,
कदली के पत्रो से अथवा कमल-पत्र पर रखा हुआ,
तथा भाव मात्सर्य अनादर विस्मृति होना दोष रहे,
वैयावृत्या व्रत के पॉचो कहते गुरु गतदोष रहे ॥१२१॥

जरा-दशा दुर्भिक्ष-काल या उपसर्गो का अवसर हो,
रोग भयकर तथा हुआ हो दुर्निवार हो दु खकर हो ।
धर्म-भावना रक्षण करने तन तजना तब कार्य रहा,
सल्लेखन वह है इस विध ये कहते गुरुवर आर्य महा ॥१२२॥

अन्त समय सन्यास सहारा लेना होता है प्राणी
सकल तपो का सुफल रहा वह विश्व-विज्ञ की यह वाणी
इसीलिए अब यथाशक्ति बस पाने समाधि मरण-अरे
सतत यतन करते रहना है तुम्हे मुक्ति तब वरण करे ॥१२३॥

प्रेम भाव को वैर भाव को तथा अग की ममता को,
सकल सङ्ग को तजकर, धरकर निर्मल मनमे समता को ।
विनय घुला हो प्रिय सम्वादो मिश्री वचनो से,
आप क्षमाकर क्षमा मॉगकर पुरजन परिजन स्वजनो से ॥१२४॥

सर्व पाप का आलोचन कर कृत से कारित अनुमति से,
सभी तरह का कपट भाव तज सरल सहज निश्छल मति से ।
पच पाप का त्याग करे वह जब तक घट मे प्राण रहे,
पच महाव्रत ग्रहण करे पर आत्म-तत्त्व का भान रहे ॥१२५॥

शोक छोडना भीति छोडना पूर्ण छोडना खेद तथा,
स्नेह छोडना द्वेष छोडना अरतिभाव मनभेद व्यथा ।
अहो । धैर्य भी तथा जगाना उत्साहित निज को करना,
सत्य श्रुतामृत पिला पिलाकर तृप्त शान्त मनको करना ॥१२६॥

दाल भात आदिक को क्रमश कम-कम करते त्याग करे,
दुग्धादिक का पान करे अब नही अन्न का राग करे ।
दुग्धादिक को भी क्रमशः फिर निज इच्छा से त्याग करे ।
नीरस काजी नीरादिक का केवल बस अनुपान करे ॥१२७॥

नीरस प्रासुक जलपानादिक भी क्रमश फिर तज देना,
तन कृश हो उपवास करे पर प्रथम निजी बल लख लेना ।
पूज्य पच नवकार मत्र को निशिदिन मन से जपना है,
पूर्ण यत्न से जागृत बनकर तजना तन को अपना है ॥१२८॥

जीवन की वाछा करना मै शीघ्र मरूँ मन मे लाना,
तथा मित्र की स्मृति हो आना भय से मन भी घिर जाना।
भोग मिले यो निदान करना पॉच दोष ये कहलाते,
सल्लेखन के जिनवर कहते दोष टाल बुध सुख पाते ॥१२९॥

सल्लेखन से कुछ धर्मात्मा भवसागर का तट पाते,
अन्तरहित शिव सुखसागर को तज नहि भव पनघट आते।
किन्तु भव्य कुछ परम्परा से शिवसुख भाजन हो जाते,
तन के मन के दु ख से रीता दीर्घकाल सुर सुख पाते ॥१३०॥

जनन नही है मरण नही है जरा नही है शोक नही,
दु ख नही है भीति नही है किसी तरह के रोग नही।
वही रहा निर्वाण धाम है नित्य रहा अभिराम रहा,
नि श्रेयस् है विशुद्धतम सुख ललाम आतम राम रहा ॥१३१॥

अनन्त विद्या अनन्त दर्शन अनन्त केवल शक्ति रही,
परम स्वास्थ्य आनन्द परम औ परम शुद्धि परितृप्ति सही।
जो कुछ उघडे घटे-बढे नहि अमित काल तक अमिट रहे,
नि श्रयेस् निर्वाण वही है सुख से पूरित विदित रहे ॥१३२॥

एक-एक कर कल्प-काल भी बीत जाय शत-शत भाई,
या विचलित त्रिभुवन हो ऐसा वज्रपात हो दुखदाई।
सिद्ध शुद्ध जीवो मे फिर भी विकार का वह नाम नही,
उनका सुखकर नाम इसी से लेता मै अविराम सही ॥१३३॥

नि श्रेयस् निर्वाण धाम मे सुचिर काल ये बसते है,
तीन लोक की शिखामणी की मजुल छवि ले लसते है।
कीट कालिमा रहित कनक की शोभा पाकर भासुर है,
सिद्ध हुए है शुद्ध हुए है जिन्हे पूजते आसुर है ॥१३४॥

आज्ञापालक सेवक मिलते मिलती पूजा पद-पद है,
सभी तरह की विलासताएं मिलती महती सम्पद है ।
परिजन मिलते योग्य भोग्य बल काम धाम आराम मिले,
जग-विस्मित हो अद्भुत सुख दे सत्य धर्म से शाम टले ॥१३५॥

प्रतिमाएं वे कहलाते है ग्यारह श्रावक पद भाते,
उत्तर पद गुण पूर्व पदो के गुणो सहित ही बढ पाते
उचित रहा यह करोडपति ज्यो लखपति पन से युक्त रहे,
ऐसा जिनवर का कहना है जनन मरण से मुक्त रहे ॥१३६॥

विषय भोग ससार देह से अनासक्त हो जीता है,
समीर्चीन दर्शन का नियमित मधुर सुधारस पीता है ।
पाँचो परमेष्ठी गुरुजन के चरणो मे जा शरण लिया,
दर्शन-प्रतिमा का धारक वह तत्त्वपथ को ग्रहण किया ॥१३७॥

पाचो अणुव्रत धारण करता अतीचार से रहित हुआ,
तीनो गुणव्रत चउशिक्षाव्रत इन शीलो से सहित हुआ ।
वही रहा व्रत प्रतिमाधारक किन्तु शल्य से रीता हो,
महाव्रती गणधर आदिक यो कहते है भवभीता हो ॥१३८॥

तीन-तीन कर चार-चार जो आवर्तो को करते है,
दिग्अम्बर हो स्थित हो प्रणाम, चार बार औ करते है ।
तीन सन्ध्याओ मे वन्दन बैठ नमन दो बार करे,
श्रावक वे सामयिक नाम पद पा ले भव को पार करे ॥१३९॥

चतुर्दशी दो तथा अष्टमी प्रतिमास मे आते है,
उन्ही दिनो मे यथाशक्ति सब काम-काज तज पाते है ।
प्रसन्न हो एकाग्र चित्त हो प्रोषध नियमो कर पाते,
प्रोषध उपवासा प्रतिमा के धारक श्रावक कहलाते ॥१४०॥

केच्चे जब तक रहते है वे कन्द रहो या मूल रहो,
करीर हो या शाक पात फल शाखा हो या फूल रहो ।
उनको तब तक खाते नहि है दयामूर्ति जो श्रावक है,
सचित्त-विरता प्रतिमा के वे पूर्णरूप से पालक है ॥१४१॥

अन्न पान औ खाद्य लेह्य यो रहा चतुर्विध भोजन है,
उसका सेवन निशि मे करते नही व्रतीजन भो ! जन है ।
जग मे सब जीवो के प्रति जो करुणा धारण करते है,
निशि भोजन के त्याग नाम की प्रतिमा पालन करते हैं ॥१४२॥

मल का कारण, बीज रहा है मल का मल झरवाता है,
अशुचि धाम दुर्गन्ध रहा है तथा घृणा करवाता है ।
ऐसे तन को लखकर श्रावक मैथुन सेवन तजता है,
वही ब्रह्मचारी कहलाता धर्म-भाव बस भजता है ॥१४३॥

असि मसि कृषि सेवा शिल्पादिक प्रमुख यही आरम्भ रहे,
प्राणघात के कारण, कारण पापो के सबंध रहे ।
इस आरभो को तजता है पाप-भीत करुणाधारी,
वही रहा आरम्भ त्यागमय प्रतिमाधारी आगारी ॥१४४॥

दाम धाम आदिक सब मिलकर बाह्य परिग्रह दशविध हो,
उसकी ममता तज जो श्रावक निरीह निर्मम बस बुध हो ।
तथा बना सतोष कोष हो निज कार्यो मे निरत सही,
स्वामीपन ले मन मे बैठे सकल सग से विरत वही ॥१४५॥

असि मसि कृसि आदिक आरभो मे तो ना अनुमति देता ।
किन्तु सग मे विवाह कार्यो मे भी न मति देता,
यद्यपि घर मे रहता फिर भी समता-धी से सहित रहा,
वही रहा दशवी प्रतिमा का पालक अनुमति-विरत रहा ॥१४६॥

श्रावक घर को तजता है फिर मुनियों के वन में जाता,
गुरुओं से सानिध्य प्राप्त कर करे ग्रहण सब व्रत माता।
भिक्षाचर्या से भोजन पा तप तपता सुखकारक है,
श्रावक वह उत्कृष्ट रहा है खण्ड वस्त्र का धारक है ॥१४७॥

पाप रहा जो वही शत्रु है धर्म-बन्धु है रहा सगा,
यदि आगम को जान रहा है ऐसा निश्चय रहा जगा
वही श्रेष्ठ है ज्ञानी अथवा अपने हित का है ज्ञाता,
जिसको हित की चिन्ता नहि है ज्ञानी कब वह कहलाता ? ॥१४८॥

मिथ्यादर्शन आदिक से जो निज को रीता कर पाया,
दोषरहित विद्या दर्शनव्रत रत्नकरण्डक कर पाया।
धर्म अर्थ की काम मोक्ष की सिद्धि उसी को वरण करे,
तीन लोक मे पति-इच्छा से स्वयं उसी मे रमण करे ॥१४९॥

सुखद कामिनी कामी का ज्यो सुखी मुझे कर दुरित हरे,
शीलवती माँ सुत की जिस विध मम रक्षा यह सतत करे।
कुल को कन्या सम गुणवाली यह मुझको शुचि शान्त करे,
दृग् लक्ष्मी मम जिन-पद पद्मो मे रहती सब ध्वान्त हरे ॥१५०॥

मंगल कामना

विहसित हो जीवन लता, विलसित गुण के फूल ।
ध्यानी मौनी सूँघता, महक उठी आमूल ॥१॥

सान्त करूँ सब पाप को, हरूँ ताप बन शान्त ।
गति आगति रति मति मिटे, मिले आय निज प्रान्त ॥२॥

रग-रग से करुणा झरे, दु खी जनो को देख ।
विश्व सौख्य मे अनुभवूँ, स्वार्थ सिद्धि की रेख ॥३॥

सर रूपादिक है नही, मुझ मे केवल ज्ञान ।
चिर से हूँ, चिर औ हूँ, हूँ निज के बल जान ॥४॥

तन मन से और वचन से, पर का कर उपकार
रवि सम जीवन बस बने, मिलता शिव उपहार ॥५॥

यम-दम-शम-सम तुम धरो, क्रमश कम श्रम होय
नर से नारायण बनो, अनुपम अधिगम होय ॥६॥

मगल जग जीवन बने, छा जावे सुख छाँव
जुडे परस्पर दिल सभी, टले अमगल भाव ॥७॥

शाश्वत निधि का धाम हो, क्यो बनता तू दीन
है उसको बस देख ले, निज मे होकर लीन ॥८॥

रचना काल एव समय परिचय

खुद पर्वत यो गा रहा, ले कुण्डल आकार ।
कुण्डलगिरि मे हूं खडा, कौन करे नाकार ? ॥१॥

सार्थक कुण्डलगिरि रहा, सुखकर कोनी क्षेत्र ।
एक झलक मे खुल गये, मन के मौनी नेत्र ॥२॥

व्यसन गगन गति गन्ध' की, चैत्र अमा का योग ।
पूर्ण हुआ यह ग्रन्थ ह, ध्येय मिटे भव रोग ॥३॥

(व्यसन-७, गगन-० गति-५, गध-२, ७०५२ 'अकाना वामतो गति·' के अनुसार वीरनिर्वाण सवत् २५०७, वि स २०३७, चैत कृष्ण अमावस्या ४ अप्रैल ८१ ई को श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, कुण्डलगिरि (कोनी जी) पाटन, जबलपुर (म प्र) मे रयण मृजषा का पद्यानुवाद पूर्ण हुआ।)

आप्त-मीमांसा

मूल आप्त मीमांसा (संस्कृत)

रचनाकार आचार्य समन्तभद्र स्वामी

पद्यानुवाद आचार्य विद्यासागर

आप्त-मीमांसा

मङ्गलाचरण

सन्मति को मम नमन हो, मम मति सन्मति होय ।
नर-सुर-पशु गति सब मिटे, पचम गति होय ॥१॥

चन्दन चन्दर-चान्दनी, से जिन-धुनी अतिशीत ।
उसका सेवन मै करूँ, मन वच तन कर नीत ॥२॥

सुर, सुर-गुरु तक गुरु चरण, रज सर पर सुचढाय
यह मुनि, मन-गुरु-भजन मे, निशिदिन क्यो न लगाय ॥३॥

कुन्दकुन्द को नित नमूँ, हृदय-कुन्द खिल जाय ।
परम सुगन्धित महक मे, जीवन मम धुल जाय ॥४॥

गुण-निधि समन्तभद्रगुरु, महके अगुरु सुगध ।
अर्पित जिनपद मे रहे, गन्ध-हीन मम छन्द ॥५॥

तरणि ज्ञानसागर गुरो, तारो मुझे ऋषीश ।
करुणाकर ! करुणा करो, कर से दो आशीष ॥६॥

देवागम का मै करूँ, पद्यमयी अनुवाद ।
मात्र प्रयोजन मम रहा, मोह मिटे परमाद ॥७॥

सर पर फिरते छतर चँबर वर स्वर्णासन पर अधर लसे ।
ऊपर से सुर उतर उतर कर तुम पद मे बन भ्रमर बसे ॥
इस कारण से पूज्य हमारे बने प्रभो यह बात नही ।
इस विध वैभव माया-जाली भी पाते क्या ? ज्ञात नही ॥१॥

जरा-रहित है रोग-रहित है उपमा से भी रहित रहा ।
तव तन अकालमरणादिक से रहित रहा द्युति सहित रहा ॥
इस कारण से भी तुम प्रभु तो पूज्य हमारे नही बने ।
देवो की भी दिव्य देह है देव सुखो मे तभी सने ॥२॥

आगम, आगमकर्ता अनगिन तीर्थकरो की कमी नही ।
किन्तु किसी की कभी किसी से बनती नहि है कमी यही ॥
कौन सही फिर कौन सही ! इसीलिए सब आप्त नही ।
किन्तु एक ही इन सब मे ही "गुरु चेता" यह बात रही ॥३॥

कही किसी मे मोहादिक की तरतमता वह विलस रही ।
अत ईश तुम, तुम मे जड से अघ की सत्ता विनस रही ॥
यथा कनक-पाषाण, कनक हो समुचित साधन जब मिलता ।
चरित बोध दृग आराधन से बाह्याभ्यन्तर मल मिटता ॥४॥

सूक्ष्म रहे कुछ, दूर रहे कुछ, बहुत पुराने तथा रहे ।
पदार्थ सब प्रत्यक्ष रहे है किसी पुरुष के, पता रहे ॥
अनलादिक अनुमान-विषय है, स्पष्ट किसी को यथा रहे ।
इसीलिए सर्वज्ञ-सिद्धि हो साधु-सन्त सब बता रहे ॥५॥

"सो" तुम ही "सर्वज्ञ" रहे प्रभु, दोष-कोष से मुक्त रहे ।
बोल, बोलते युक्ति-शास्त्र से युक्त रहे उपयुक्त रहे
विसवाद तव मत मे नहि है पक्षपात से दूर रहा ।
अन्य मतो से बाधित भी ना क्षमता से भरपूर रहा ॥६॥

अपने को सर्वज्ञ मानकर मान-दाह मे दग्ध हुये ।
सदा सर्वथा मतैकान्त के क्षार-स्वाद मे दग्ध हुये ॥
सुधा-सार है तव मत, जिसके सेवन से तो वचित है ।
बाधित हो प्रत्यक्ष-ज्ञान से उनका मत अघ रजित है ॥७॥

पोषक है एकान्त मतो के अनेकान्त से दूर रहे ।
निजके निज ही शत्रु रहे वे औरो के भी क्रूर रहे
उनके मत मे पुण्य, पुण्य-फल, नही पापफल, पाप नही ।
नाथ ! मोह नहि, मोक्ष नही हो, इह भव, परभव आप नही ॥८॥

पदार्थ सारे भावरूप ही होते यदि य मान रहे ।
सभी अभावो का फिर क्या हो निश्चित ही अवसान रहे ॥
सब के सब फिर विश्वरूप हो आदि नही फिर अन्त नही ।
आत्मरूप का विलय हुआ "यू" तुम मत मे भगवन्त नही ॥९॥

प्रागभाव का मन से भी यदि करो अनादर घोर कही ।
घट पट आदिक कार्यद्रव्य हो अनादि फिर तो छोर नही ॥
अभाव जो प्रध्वस रूप है उसका स्वागत नहि करते ।
कार्यद्रव्य ये नियम रूप से अनन्तता को है धरते ॥१०॥

रहा "परस्पर अभाव" घट पट आदिक मे जो एक खरा ।
उसे न माना, विशेष बिन, सब एक रूप हो, देख जरा ॥
अभाव जो अत्यन्त रूप है द्रव्य अचेतन चेतन मे ।
जिस बिन चेतन बने अचेतन चेतनता आती तन मे ॥११॥

अभाव को एकान्त रूप से मान रहे वे भूल रहे ।
भावपक्ष को पूर्ण रूप से उडा रहे प्रतिकूल रहे ॥
प्रमाणता को आगम, अधिगम कभी नहि फिर धर सकते ।
निजमत पोषण, परमत शोषण फिर किस विध है कर सकते ॥१२॥

स्याद्वाद मय न्यायमार्ग के महाविरोधक बने हुये ।
पदार्थ भावाभावात्मक हो ऐसा कहते तने हुये ।
अवाच्य मत मे अवाच्य कहना भी अनुचित, सब वृथा रही ।
दोष घने एकान्त पक्ष मे आते है श्रुति बता रही ॥१३॥

भाव रूप ही रहा कथंचित पदार्थ को जिनमत जानो ।
वही इष्ट फिर अभावमय हो रहा कथंचित पहिचानो ॥
उभय रूप भी, अवाच्य भी है, नहीं सर्वथा तथा रहा
विविध नयों का लिया सहारा छन्द यहां यह बता रहा ॥१४॥

अपने अपने चतुष्टयों से सत्त्व रूप ही सभी रहे ।
किन्तु सभी परचतुष्टयों से असत्त्व ही गुरु सभी कहे ॥
ऐसा यदि तुम नहीं मानते चलते पथ विपरीत कहीं ।
बिना अपेक्षा "सत्सत सब' यूं कहना यह बुध-रीत नहीं ॥१५॥

अस्तिरूप औ नास्ति रूप भी उभय रूप यों तत्त्व रहा ।
अवक्तव्य भी, तीन रूप भी शेष भंग, सब सत्त्व रहा ।
अनेकान्तमय वस्तुतत्त्व यह स्याद्वाद से अवगत हो ।
विसंवाद सब मिटते उससे सुधी जनों का अभिमत हो ॥१६॥

किसी एक जीवादि वस्तु मे बात तुम्हे यह ज्ञात रहे ।
अस्तिपना वह नियम रूप से नास्तिपना के साथ रहे ॥
कारण सुन लो, एक वस्तु मे कई विशेषण है रहते ।
'सो'' सहभावी ज्यो वैधर्मी सहधर्मी का, गुरु कहते ॥१७॥

किसी एक जीवादि वस्तु मे बात तुम्हे यह ज्ञात रहे ।
नास्तिपना वह नियम रूप से अस्तिपना के साथ रहे ।
कारण सुन लो, एक वस्तु मे कई विशेषण है रहते ।
"सो" सहभावी ज्यो वैधर्मी सहधर्मी का, गुरु कहते ॥१८॥

शब्दो का जो विषय बना है विशेष्य उसकी यह गाथा ।
विधि और निषेध वाला होता छन्द यहा है यह गाता
यथा अनल हो साध्यधर्म जब धूम्र हेतु हो वहां सही ।
किन्तु नीर जब साध्य-धर्म हो धूम्र-हेतु तब रहा नहीं ॥१९॥

इसी तरह ही शेष भग भी साधित हो गुरु समझाते ।
समुचित नय के प्रयोग द्वारा सब उलझन को सुलझाते ॥
कारण इसमे किसी तरह भी विरोध को कुछ जगह नही ।
हे मुनिनायक ! तव शासन मे मुनि यह रमता वजह यही ॥२०॥

इसविध निषेध-विधिवाली यह पद्धति स्वीकृत जब होती ।
बुधस्वीकृत वह वस्तुव्यवस्था कार्यकारिणी तब होती ॥
ऐसा यदि ना मान रहे तुम अर्थशून्य सब कार्य रहे ।
बाह्याभ्यन्तर साधन भी वे व्यर्थ रहे यू आर्य कहे ॥२१॥

अनन्त धर्मों का आकर ही प्रति पदार्थ का बाना हो ।
उन उन धर्मों मे पदार्थ का भिन्न भिन्न ही भाना हो ॥
एक धर्म जब मुख्य बना "सो" शेष धर्म सब गौण हुये ।
स्याद्वाद का स्वाद लिया जो विवाद सारे मौन हुये ॥२२॥

एक रहा है अनेक भी है, उभय रूप भी तत्त्व रहा ।
अवक्तव्य भी शेष भग मय विविध रूप यू सत्त्व रहा
सशय-मथनी सप्तभगिनी का प्रयोग यू सुधी करे ।
उचित नयो से, नय विधान मे कुशल रहे, सुख सभी वरे ॥२३॥

द्वैत नही, अद्वैत तत्त्व है मतैकान्त का यह कहना ।
अपने वचनो से बाधित है विरोध-वहाव मे बहना ॥
क्योकि कारको तथा क्रियाओ मे दिखता वह भेद रहा ।
और एक खुद, खुद का किस विध जनक रहा, यह खेद महा ॥२४॥

मानो तुम अद्वैत विश्व को पाप पुण्य दो कर्म नही ।
कर्म-पाक फिर सुख, दुख दो ना इह भव, परभव धर्म नही ।
ज्ञान तथा अज्ञान नही दो द्वैत-भाव का नाश हुआ ।
बन्ध मोक्ष फिर कहा रहे दो यह कहना निज हास हुआ ॥२५॥

यदि तुम मानो किसी हेतु से सिद्ध हुआ अद्वैत रहा ।
हेतु साध्य दो मिलने से फिर सिद्ध हुआ वह द्वैत रहा
अथवा यदि अद्वैत सिद्ध हो बिना हेतु यू मान रहे ।
बिना हेतु फिर द्वैत सिद्ध हो इसविध क्यो ना मान रहे ॥२६॥

बिना हेतु के अहेतु ना हो जैसा सब को अवगत है ।
बिना द्वैत अद्वैत नही हो वैसा ही यह बुधमत है ।
निषेध-वाचक वचन रहे जो विधि-वाचक के बिना नही
निषेध उसका ही होता जो निषेध्य, जिसके बिना नही ॥२७॥

पृथक् पृथक् ही पदार्थ सारे ऐसा यदि एकान्त रहा ।
गुणी तथा गुण अभिन्न होते पता नहीं ? क्या भ्रान्त रहा
पृथक् नाम का गुण यदि न्यारा गुणी तथा गुण से होता ।
बहु अर्थो मे "सो" है कहना विफल आपपन से होता ॥२८॥

द्रव्य रूप एकत्व भाव को नही मानते यदि बुध हो ।
जनन मरण आदिक किसके हो प्रेत्यलोक फिर किस विध हो ॥
और नही समुदाय गुणो का सजातीयता बने नही ।
तथा नही सतान शृंखला और दोष बहु घने यहीं ॥२९॥

ज्ञान ज्ञेय से भिन्न रहा यदि चिदात्म से भी भिन्न रहा
असत् ठहरते ज्ञान ज्ञेय दो सत्वत् फिर क्या ? प्रश्न रहा ॥
अभाव जब हो ज्ञान-भाव का ज्ञेय-भाव फिर कहाँ टिके ।
बाह्याभ्यन्तर ज्ञेय शून्य फिर हे जिन ! परमत कहाँ टिके ॥३०॥

समान जो सामान्य मात्र को विषय बनाते वचन सभी ।
विशेष वचनातीत वस्तु है बौद्धो का है कथन यही
अत नही सामान्य वस्तुत वचन सत्य से वचित हो ।
ऐसे वचनो से फिर कैसे कथन कथ्य श्रुति सगत हो ॥३१॥

पृथक्पना एकत्वपना मय पदार्थ कहते तने हुये ।
स्याद्वादमय न्यायमार्ग के महा विरोधक बने हुये ॥
अवाच्य मत मे अवाच्य कहना भी अनुचित सब वृथा रही ।
दोष सभी एकान्त पक्ष मे आते है श्रुति बता रही ॥३२॥

पृथक्पना- एकत्वपना यदि भ्रातृपना को छोड रहे ।
दोनो मिटते क्योकि परस्पर दोनो का वह जोड रहे ॥
लक्षण से तो भिन्न भिन्न हो किन्तु द्वयात्मक द्रव्यकथा ।
अन्वय आदिक भेद भले हो तन्मय साधन भव्य यथा ॥३३॥

सत् सबका सामान्य रूप है इसीलिए बस एक सभी ।
निज निज गुण लक्षण धर्मों से पृथक् परस्पर एक नही ॥
कभी विवक्षित भेद रहा हो अभेद किवा रहा कभी ।
बिना हेतु के नही सहेतुक बुध साधित है रहा सही ॥३४॥

यथार्थ है यह प्रति पदार्थ मे अमित गुणो का वास रहा ।
वर्णन उनका युगपत् ना हो वर्णों से विश्वास रहा ॥
इसीलिए वक्ता पर आश्रित मुख्य गौणता रहती है ।
मुख्य गौण भी सत् ही होता असत् नही श्रुति कहती है ॥३५॥

भेद तथा है अभेद दोनो नहि है ऐसा मत समझो ।
प्रमाण के ये विषय रहे है कुछ सोचो तुम मत उलझो
एक वस्तु में इनका रहना नही असगत, विदित रहे ।
मुख्य गौण की यही विवक्षा जिनमत मे ही निहित रहे ॥३६॥

नित्य रूप एकान्त पक्ष का यदि तुम करते पोषण हो ।
पदार्थ मे परिणमन नही हो क्रिया मात्रका शोषण हो ॥
कर्त्ता किसका पहले से ही कारक का वह नाम नही
प्रमाण फिर क्या ? रहा बताओ प्रमाण-फल का काम नही ॥३७॥

प्रमाण कारक से यदि मानो पदार्थ भासित होते हे ।
जैसे इन्द्रियगण से निज निज विषय प्रकाशित होते है
नित्य रहे हे वेसे वे भी विकार किस मे किस विध हो ।
जिन मत से जो विमुख रहे हो सुख तुम मत मे किस विध हो ॥३८॥

साख्य पुरुष सम सदा सर्वथा कार्य रहे सद्रूप रहे ।
यदि यूं कहते, किसी कार्य का उदय नही मुनि भूप कहे ।
फिर भी यदि तुम विकारता की करो कल्पना वृथा रही ।
नित्य रूप एकान्त पक्ष की वही बाधिका व्यथा रही ॥३९॥

पुण्य क्रिया नहि पाप क्रिया नहि औ सुख दुख फल नही रहे ।
जन्मान्तर फिर कैसा होगा मूल बिना फल नही रहे ।
कर्म-बन्ध की गध नही जब मोक्षतत्त्व की बात नही ।
ऐसे मत के नायक नहि जिन ! मुमुक्षुओ के नाथ सही ॥४०॥

क्षणिक रूप एकान्त पक्ष के आग्रह का यदि स्वागत हो ।
प्रेत्यभाव का अभाव होगा शिवसुख भी ना शाश्वत हो
स्मरणादिक ज्ञानो का निश्चित क्यो ना "सो" अवसान रहा ।
किसी कार्य का सूत्रपात नहि फल का फिर अनुमान कहां ? ॥४१॥

कार्य सर्वथा असत् ही हो ऐसा तव मत मूल रहा ।
कार्य सभी आकाशकुसुम सम कभी न जनमे भूल अहा ॥
उपादान कारण सम होता कार्य नियम यह नही रहा ।
किसी कार्य के होने मे फिर सयम भी वह नही रहा ॥४२॥

तथा कार्य-कारणभावादिक क्षणिक पथ मे रहे कदा ।
आपस मे ना अन्वय रखते अन्य अन्य ही रहे सदा ।
जिस विध है सन्तानान्तर से भिन्न रूप सन्तान रही ।
एकमेक सन्तान नही है सन्तानी से जान सही ॥४३॥

पृथक्-पृथक् सब यदपि रहा पर अनन्य सा टिमकार रहा ।
और वही उपचार कहो यू क्यो न झूठ उपचार रहा ॥
तथा मुख्य जो अर्थ रहा है कभी नही उपचार रहा ।
बिना मुख्य उपचार नही हो सन्तो का उद्गार रहा ॥४४॥

सदसत् उभयानुभयात्मक जो वस्तु धर्म का कथन रहा ।
सब धर्मों के साथ उचित ना सुगत पन्थ का वचन रहा
सन्तानी सन्तान भाव से अन्य रहा या अन्य नही
कह नहि सकते अवक्तव्य है इसीलिए बुध मान्य नही ॥४५॥

सन्तानी सन्तानन मे यदि सदादि चहुविध कथन नही ।
अवक्तव्य मय वस्तु धर्म मे सदादि किस विध वचन सही ॥
किसी तरह भी किसी धर्म का कथन नही फिर वस्तु नही ।
तुम्हे विशेषण विशेष्य रीता वस्तु इष्ट ही अस्तु कही ॥४६॥

अपने मन से होकर परमन से पदार्थ ओझल होता ।
जिस की सत्ता विद्यमान है निषेध उस ही का होता ॥
किन्तु यहाँ पर किसी भाँति भी यदि जिसका अस्तित्व नही ।
उसका विधान निषेध ना हो सुनो जरा वस्तुत्व यही ॥४७॥

सभी तरह के धर्मों से यदि पूर्ण रूप से रहित रहा ।
अवक्तव्य वह वस्तु नही हो मतैकान्त से सहित रहा ॥
आप पने से वस्तु वही पर अवस्तु पर पन से होती ।
अनेकान्त की पूजा फलत हम से तन मन से होती ॥४८॥

अवक्तव्य हो प्रति पदार्थ मे धर्म रहे कुछ औ न रहे ।
ऐसा यदि है बोल रहे क्यो बन्द रहे मुख मौन रहे ॥
यदि मानो हम बोल रहे "सो" मात्र रहा उपचार अहा ।
मृषा रहा उपचार सत्य से दूर रहा बिन सार रहा ॥४९॥

अवक्तव्य, क्यो अभाव है या उसका ही नहि बोध रहा ।
कथन शक्ति का या अभाव है जिस कारण अवरोध रहा ।।
जब कि सुगत अति विज्ञ बली हैं तुम सबकी दृग खोल रहा
मायावी बन बोल रहा क्या ? लगता यह सब पोल रहा ।।५०।।

हिसा का सकल्प किया वह कभी न हिसा करता है ।
भाव किये बिन हिसा करता चित्त दूसरा मरता है ।।
इन दोनो को छोड तीसरा चित्त बन्ध मे है फॅसता ।
फॅसता मुक्त नहि और मुक्त हो क्षणिक पंथ पर जग हॅसता ।।५१।।

कभी किसी का नाश हुआ "सो" रहा अहेतुक सुगत कहे ।
हिसक से हिसा होती है यह कहना फिर गलत रहे ।।
और चित्त की सन्तति का यदि नाश मोक्ष का मूल रहा ।
समतादिक वसु साधन से हो मोक्ष मानना भूल रहा ।।५२।।

कपाल आदिक उद्‌भव मे तो हेतु अपेक्षित रहता हो ।
घट आदिक के किन्तु नाश मे हेतु उपेक्षित रहना हो ।।
इन दोनो मे विशेषता कुछ रही नही कुछ भेद नही ।
कहने भर को भेद रहा है हेतु एक है खेद यही ।।५३।।

रूपादिक की नामादिक की विकल्प की जो सन्तति है ।
कार्य नही 'सो' औपचारिकी कहती सौगत की मति है ।।
विनाश विकास फिर किसके हो तथा सततता किसकी हो ।
भला बता ! आकाशकुसुम को ऑख देखती किसकी ओ ।।५४।।

स्याद्‌वादमय न्यायमार्ग के महा विरोधक बने हुये ।
पदार्थ नित्यानित्यात्मक ही ऐसा कहते तने हुये ।।
अवाच्य मत मे अवाच्य कहना भी अनुचित सब वृथा रही ।
दोष सभी एकान्वाद मे आते है श्रुति बता रही ।।५५।।

स्मृति पूर्वक प्रत्यक्ष ज्ञान वह बिना हेतु का नहि होता ।
अत प्रवाहित तत्त्व कथचित् नित्य रहा यह सुन श्रोता ॥
क्षणिक कथचित् क्योकि उसी की प्रतिपल मिटती पर्याये ।
कदागृही के यह ना बनता है जिन तव मत समझाये ॥५६॥

सभी दशाओ मे ज्यो-का-त्यो द्रव्य सदा यह लसता है ।
द्रव्य कभी समान्यरूप से नही जनमता नशता है ॥
पर्यायो से किन्तु जनमता क्रमश मिटता रहता है ।
एक द्रव्य मे जनन मरण स्थिति घटती, जिनमत कहता है ॥५७॥

नियम रहा यह कारण मिटता दिखा कार्य का मुख प्यारा ।
कारण, कारण लक्षण न्यारा तथा कार्य का भी न्यारा
किन्तु कार्य कारण दोनो की जाति एक ही है भाती ।
जाति क्षेत्र भी भिन्न रहे तो गगनकुसुम की स्थिति आती ॥५८॥

एक पुरुष तो कलश चाहता, एक मुकुट को, देख दशा ।
कलश मिटा जब मुकुट बनाया एक रुलाया एक हँसा ॥
निरख कनक की स्थिति कनकार्थी शोक किया ना नही हँसा ।
मिटना बनना स्थिर भी रहना रहा सहेतुक, नही मृषा ॥५९॥

केवल दधि का त्याग किया है दुग्ध-पान वह करता है ।
दुग्ध-पान का त्याग किया है दधि का सेवन करता है ॥
दोनो का सेवन ना करता जो है गोरस का त्यागी ।
तत्त्व त्रयात्मक रहा इसी से गुरु कहते यू बडभागी ॥६०॥

कार्य तथा कारण ये दोनो रहे परस्पर न्यारे है ।
तथा गुणी से गुण भी होते न्यारे न्यारे सारे है ॥
विशेष से सामान्य सर्वथा सदा भिन्न ही रहता है ।
ऐसा यदि एकान्त रूप से वैशेषिक मत कहता है ॥६१॥

एक कार्य के अनेक कारण होते यह फिर नहि रहता ।
क्योंकि एक में भाग नहीं है बहुरूपों मे वह बहता ॥
एक कार्य यदि बहु भागों मे भाजित हो फिर एक कहाँ ?
कार्य-विषय मे पर-मत मे यू दोषों का अतिरेक रहा ॥६२॥

कार्य तथा कारण ये न्यारे देश-काल वश भी न्यारे ।
घट पट मे ज्यों भेदात्मक व्यवहार रहा है सुन प्यारे ॥
तथा मर्त सब कार्य कारणों की स्थिति पूरी जुदी रही ।
उसमे फिर वह एक देशता कभी न बनती सही रही ॥६३॥

कार्य तथा कारण मे होता आश्रय-आश्रयि भाव रहा ।
समवायी-समवाय-बन्ध तब स्वतत्र ना यह भाव रहा ।
बन्ध-रहित सबध रहा यह तुम मे सब निर्बन्ध अरे ।
समवायी-समवाय निरे जब आपस मे कब बन्ध करे ॥६४॥

नित्य एक सामान्य रहा है उसी भाँति समवाय रहा ।
एक एक अवयव मे व्यापे यह जिन का व्यवहार रहा ॥
आश्रय के बिन रह नहि सकते फिर उनकी क्या कथा रही ।
मिटती बनती क्षणिकाओं मे कौन व्यवस्था बता सही ॥६५॥

भिन्न रहा समवाय सर्वथा तथा भिन्न सामान्य रहा ।
आपस मे फिर बन्धन इनका किस विध कब वह मान्य रहा ।
इनसे फिर गुण पर्ययवाले पदार्थ का भी बन्ध नही ।
फिर क्या कहना, गगनकुसुम सम तीनो की ही गन्ध नही ॥६६॥

अणु अणु मिलकर स्कन्ध बने ना चूंकि सभी वे निरे निरे
स्कन्ध बने तो अविभागी ना रह सकते अणु निरे परे ॥
अवनि अनल औ सलिल अनिल ये भूतचतुष्टय भ्रान्ति रही ।
अन्यपना या अनन्यपन मय मतैकान्त मे शान्ति नही ॥६७॥

कार्य-मात्र की भ्रान्ति रही तो अणु स्वीकृति भी भ्रान्ति रही ।
क्योकि कार्य का दर्शन ही तो कारण का अनुमान सही ॥
भूत चतुष्टय और अणु का जब अभाव निश्चित होता हो ।
उनके गुण-जात्यादिक का वह वर्णन क्यो ना ? थोथा हो ॥६८॥

एकमेक यदि कार्य करम हो एक मिटे इक शेष रहा ।
इनमे अविनाभाव रहा "सो" रहा शेष निश्शेष अहा ॥
दो की सख्या भी नहि टिकती यदि मानो वह कल्पित है ।
कल्पित सो मिथ्या मानी है मात्र साख्य-मत जल्पित है ॥६९॥

स्याद्वादमय न्यायमार्ग के महाविरोधक बने हुये ।
गुण, गुणधर आदिक उभयात्मक ऐसा कहते तने हुये ॥
अवाच्य मत मे अवाच्य कहना भी अनुचित सब वृथा रही ।
दोष सभी एकान्त पक्ष मे आते है श्रुति बता रही ॥७०॥

द्रव्य तथा पर्यायो मे वह रहा कथचित् ऐक्य सही ।
कारण ? दोनो का प्रदेश है एक रहा व्यतिरेक नही ॥
परिणामी परिणाम रहे है द्रव्य तथा ये पर्याये ।
शक्तिमान यदि द्रव्य रहा तो रही शक्तियाँ पर्याये ॥७१॥

इसी तरह इन दोनो का बस भिन्न-भिन्न ही नाम रहा ।
संख्या इनकी निरी निरी है न्यारे लक्षण काम रहा ॥
यथार्थ मे यह अनेकान्त से बनता सुन नानापन है ।
परन्तु हा ! एकान्त पक्ष मे तनता मनमानापन है ॥७२॥

गुणी गुणादिक सदा सर्वदा आपेक्षिक यदि साधित हो ।
दोनो कल्पित होने से वे सिद्ध नही हो बाधित हो ॥
अनपेक्षिक ही सिद्धि उन्ही की ऐसा यदि तुम मान रहे ।
विशेषता सामान्य पना ना सहचर का अवसान रहे ॥७३॥

स्याद्वाद मय न्यायमार्ग के महाविरोधक बने हुये ।
आपेक्षिक अनपेक्षिक द्वयमय "पदार्थ" कहत तने हुये ॥
अवाच्य मत मे अवाच्य कहना भी अनुचित सब वृथा रही
दोष सभी एकान्त पक्ष मे आते है श्रुति बता रही ॥७४॥

धर्म बिना धर्मी नहि धर्मी के बिन भी वह धर्म नही ।
रहा परस्पर अन्वय इनका आपेक्षित हे मर्म यही ॥
स्वरूप इनका किन्तु स्वत है ज्ञापक कारक अग यथा ।
ज्ञान स्वत तो ज्ञेय स्वत· है कर्म-करण निजरग कथा ॥७५॥

हेतु मात्र से तत्त्व ज्ञात हो सिद्ध हो रहे काम सभी ।
इन्द्रिय आगम आप्तादिक फिर व्यर्थ रहे कुछ काम नही ॥
या आगम से तत्त्व ज्ञात हो सबके आगम मौलिक हो ।
उनमे वर्णित पदार्थ-सारे लौकिक भी पर-लौकिक हो ॥७६॥

स्याद्वादमय न्यायमार्ग के महाविरोधक बने हुये ।
तत्त्व ज्ञात हो शास्त्र, हेतु से ऐसे कहते तने हुये ॥
अवाच्य मत मे अवाच्य कहना भी अनुचित सब वृथा रही ।
दोष सभी एकान्त पक्ष मे आते है श्रुति बता रही ॥७७॥

वक्ता यदि वह आप्त नही तो वस्तु तत्त्व का बोध न हो ।
मात्र हेतु से साधित जो है बोध नही वह बोझ अहो !
परन्तु वक्ता आप्त रहा तो वचन उन्ही के शास्त्र बने ।
उन शास्त्रों से तत्त्व ज्ञात कर भविक सभी सुख-पात्र बने ॥७८॥

भीतर के निज-ज्ञान मात्र से जाने जाते अर्थ रहे ।
ऐसा यदि एकान्त रहा तो मनस वचन सब व्यर्थ रहे ॥
उपदेशादिक प्रमाण नहि फिर सभी प्रमाणाभास रहे ।
एकान्ति आग्रह करने से अपना ही उपहास रहे ॥७९॥

साध्य तथा साधन का जब भी ज्ञान हमे जो होता है ।
मात्र रहा वह ज्ञान एक है और नहीं कुछ होता है ।
ऐसा यदि एकान्त रहा तो कहा साध्य फिर साधन हो ।
और, पक्ष मे साध्य-दर्शिका निजी-प्रतिज्ञा बाधक हो ॥८०॥

बाह्य अर्थ परमार्थ रहे है अतरग कुछ खास नहीं ।
ऐसा यदि एकान्त रहा तो रहा प्रमाणाभास नहीं ॥
वस्तु-तत्त्व का कथन यदपि जो यद्वा तद्वा करते है ।
उन सब के सब कार्य सिद्ध हो वितथ सत्यता वरते है ॥८१॥

स्याद्वादमय न्यायमार्ग के महाविरोधक बने हुये ।
बाह्याभ्यन्तर उभय रूप है 'पदार्थ' कहते तने हुये ॥
अवाच्य मत मे अवाच्य कहना भी अनुचित सब वृथा रही ।
दोष घने एकान्त पक्ष मे आते हैं श्रुति बता रही ॥८२॥

बना ज्ञान जब ज्ञेय स्वय का अन्तरग मे रहता हैं ।
रहा प्रमाणाभास लुप्त तब यहीं जिनागम कहता हैं ॥
किन्तु ज्ञान जब बाह्य अर्थ को ज्ञेय बनाता तनता है ।
बने प्रमाणाभास वही तब प्रमाण भी बस बनता है ॥८३॥

कहा, 'जीव' यूं शब्द रहा यह बाह्य अर्थ से सहित रहा ।
हेतु शब्द ज्यो नाम रहा है निजी अर्थ से विहित रहा ॥
अर्थ शून्य मायादिक का ही नामकरण हो नहि ऐसा ।
प्रणाम का भी नाम रहा हैं सार्थक मायादिक वैसा ॥८४॥

बुद्धि तथा वह शब्द, अर्थ ये सज्ञाये है गुरु कहते ।
बुद्धयादिक के वाच्यभूत जो वाचक बन करके रहते ॥
उन उन सम हो बुद्धयादिक ये बोधरूप भी तीन रहे ।
उनको भासित करते दर्पण मे पदार्थ आ लीन रहे ॥८५॥

वक्ता श्रोता ज्ञाता के जो बोध वचन है ज्ञान तथा ।
न्यारे न्यारे रहे कथचित क्रमश सुन तू मान तथा ॥
यदि मानो वे रही भ्रान्तियाँ प्रमाण भी फिर भ्रान्त रहा ।
बाह्याभ्यन्तर भ्रान्त रहे तो अन्धकार आक्रान्त रहा ॥८६॥

शब्दो मे भी तथा बुद्धि मे प्रमाणता तब आ जाती ।
बाह्य अर्थ के रहने पर ही, नही अन्यथा, श्रुति गाती ॥
तथा सत्य की असत्यता की रही व्यवस्था यही सही ।
अर्थ-लाभ मे अलाभ मे यो क्रमश , वरना ! कभी नही ॥८७॥

दैव दिलाता सभी सिद्धियाँ ऐसा कहता पता चला ।
पौरुष किसविध दैव-विधाता हो सकता तू बता भला ॥
दैव दैव को मनो बनाता मोक्ष कभी फिर मिले नही ।
व्यर्थ रहा पुरुषार्थ सभी का मोह कभी फिर हिले नहीं ॥८८॥

पौरुष से ही सभी सिद्धियाँ मिलती कहता तू ऐसा ।
भला बात दैवानुकूल ही पौरुष चलता यह कैसा ॥
पौरुष से ही सदा सर्वथा पौरुष आगे यदि चलता ।
सभी जीव पुरुषार्थशील है सबका पौरुष कब फलता ॥८९॥

स्यादवाद मय न्यायमार्ग के महाविरोधक बने हुये ।
दैव तथा पौरुष दोनो का आग्रह करते तने हुये ॥
अवाच्यमत मे अवाच्य कहना भी अनुचित, सब वृथा रही ।
दोष घने एकान्त पक्ष मे आते है श्रुति बता रही ॥९०॥

अबुद्धि पूर्वक जीवात्मा का पौरुष जब वह चलता है ।
सुख दुख का जो भी मिलना है वही दैव का फलना है ॥
किन्तु बुद्धिपूर्वक जीवात्मा पौरुष जब वह करता है ।
तब जो सुख दु ख मिलता, समझो, पौरुष से वह झरता है ॥९१॥

पर को दु ख देने भर से यदि पापकर्म ही बँधता है ।
पर को सुख पहुँचाने से यदि पुण्य कर्म ही बँधता है ।।
कई अचेतन विष आदिक औ कषाय विरहित मुनि त्यागी ।
निमित्त दु ख सुख मे होने से पाप पुण्य के हो भागी ।।९२।।

जिससे निज को सुख होता सो पाप-बन्ध का कारण है ।
जिससे निज को दु ख होता सो पुण्य-बन्ध का कारण है ।।
ऐसा यदि एकान्त रहा तो विराग मुनि औ बुध जन भी ।
क्यो ना होगे दोनो क्रमश पुण्य-पाप के भाजन ही ।।९३।।

उभय रूप एकान्त मान्यता स्वय बना कर तने हुये ।
स्याद्वाद मय न्यायमार्ग के महाविरोधक बने हुये ।।
अवाच्य मत मे अवाच्य कहना भी अनुचित सब वृथा रही ।
दोष घने एकान्त पक्ष मे आते है श्रुति बता रही ।।९४।।

यदा कदा अपने मे या पर मे जो सुख दु ख हो जाते ।
क्रमश विशुद्धि सक्लेशो के सुनो अग वे कहलाते ।।
यही एक कारण पा आस्रव पुण्य पाप का हो जाता ।
वरना आस्रव तत्त्व कहाँ हो अरहन्तो का "मत" गाता ।।९५।।

कर्मबन्ध अज्ञानमात्र से होता यू यदि मान रहा ।
ज्ञेय रहे "सो अनन्त" फिर क्यो होगा केवलज्ञान महा ।।
अल्प ज्ञान से मोक्ष मिले यदि ऐसा कहता "अन्ध" अहा ।
बहुत रहा अज्ञान, इसी से मोक्ष नही, विधि-बन्ध रहा ।।९६।।

उभयरूप एकान्त मान्यता स्वय बना कर तने हुये ।
स्याद्वाद मय न्यायमार्ग के महाविरोधक बने हुये ।।
अवाच्यमत मे अवाच्य कहना भी अनुचित सब वृथा रही ।
दोष घने एकान्त पक्ष मे आते है श्रुति बता रही ।।९७।।

मोह-लीन अज्ञान भाव से कर्मबन्ध वह होता है ।
मोह-हीन अज्ञान भाव से कर्मबन्ध वह खोता है ॥
अल्पज्ञान भी मोहरहित जो मोक्ष-महल मे ले जाता ।
वरना, विधि-बन्धन ही भाई मोह-गहल मे क्यो जाता ॥९८॥

कामादिक ये जहाँ उपजते सुनो वहीं ससार रहा ।
जिसका सचालन होता है कर्म-बन्ध अनुसार रहा ॥
कर्मों का कारण जीवो का अपना-अपना भाव रहा ।
जीव भाव्य ये अभव्य भी है चिर से बस भटकाव रहा ॥९९॥

भव्यपना औ अभव्यपन ये जीवो के बस ! आप रहे ।
मूग मोट कुछ पकते, कुछ नहि, भले अनल का ताप सहे ॥
भव्यपने की व्यक्ति सादि हो अभव्यपन की अनादिनी ।
स्वभाव को कब तर्क छू सकी ? श्रुति गाती सुख-सुदायिनी ॥१००॥

लोकालोकालोकित करता युगपत् केवलज्ञान रहा ।
वही आपका तत्त्वज्ञान जिन ! प्रमाण है वरदान रहा ॥
तथा नयात्मक ज्ञान रहा जो स्याद्वाद से है भाता ।
विषय बनाता क्रमश सबको 'प्रमाण' फलत कहलाता ॥१०१॥

आदिम प्रमाण का फल सुन लो विरागपन है अमल रहा ।
त्याज्य-त्याग मे ग्राह्य-ग्रहण मे प्रीति इतर का सुफल रहा ।
या विनाश अज्ञानभाव का स्याद्वाद का फल माना ।
किसमे हित औ अहित निहित है आत्मबोध का बल पाना ॥१०२॥

सही अर्थ से बात कराता स्यान्पद शाश्वत सार रहा ।
अनेकान्त को साथ कराता दिखा वस्तु का पार अहा ॥
रहा ज्ञेय जो उसके प्रति ही सदा विशेषण धार रहा ।
सो श्रुतिधर के हे जिनवर ! तव वचनो का शृगार रहा ॥१०३॥

दूर रहा, एकान्तवाद से स्याद्वाद वह कहलाता ।
मूल रहा सापेक्षवाद का तभी कथचित विधि-दाता ।
सप्तभग-मय कथन-प्रणाली समयोचित ही अपनाता ।
त्याज्य ग्राह्य क्या ? तथा बताता, रखूं उसी से अब नाता ।।१०४।।

स्यादवाद मय ज्ञान रहा ओ पूरण केवल ज्ञान रहा ।
सकल-ज्ञेय को विषय बनाते दोनो सो परमाण अहा ।।
परोक्ष और प्रत्यक्ष रहे इनमे से यदि एक रहा ।
वस्तुतत्त्व का कथन नही हो बोध नहीं कुछ नेक रहा ।।१०५।।

साध्य-धर्म को विपक्ष से तो सदा बचाने दक्ष रहा ।
किन्तु साथ ही साध्य-सिद्धि मे लेता अपना पक्ष रहा ।।
स्यादवाद मय प्रमाण का जो सुनो अर्थ है विपय रहा ।
उसी अर्थ को विशेषना को विपय बनाता सुनय रहा ।।१०६।।

कई भेद उपभेद कई है, सुनो, नयो के, जता रहे ।
भिन्न भिन्न एकान्तरूप से विषय नयो के तथा रहे ।।
त्रैकालिक उन विषयो का ही एकतान यह द्रव्य रहा ।
और द्रव्य भी अनेक विध है उपादेय निज द्रव्य रहा ।।१०७।।

भिन्न भिन्न नय-विषयो का वह समूह मिथ्या नहि होता ।
क्योकि सुनो तो हठागृही ना जिनमत के नय हे ! श्रोता ।।
रहे परस्पर निरपेक्षित जो, मिथ्या नय है कहलाते ।
सापेक्षित नय समीचीन हो वस्तु, जनाते वह तातै ।।१०८।।

वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन जब, जब वचनो से होता है ।
विधान का या निषेध का तब आलम्बन होता है ।।
निजवश ही तो वस्तु रही है परवश सो वह रही नही ।
यही व्यवस्था रही अन्यथा सूनी सब कुछ रही नही ।।१०९।।

वस्तुतत्त्व यह तदतत् होता यह कहना तो समुचित है।
किन्तु वस्तु तो तत् ही है बस ! यह प्रलाप तो अनुचित है॥
असत्य वचनो से फिर भी यदि तत्त्वदेशना होती हो।
कैसी हित करने वाली "सो" दु ख लेश ना हरती हो॥११०॥

नियम रहा प्रत्येक वचन वह निजी अर्थ का पक्ष धरे।
अन्य वचन के किन्तु अर्थ का निषेध करने दक्ष अरे॥
सुगत कहे सामान्य स्वार्थ को इसी भाँति बस हम माने।
तो फिर सब को गगनपुष्प सम जाने माने पहिचाने॥१११॥

यदि मानो सामान्य वचन वह विशेष के प्रति मौन रहा।
मिथ्या सो एकान्त रहा है सत्य वचन फिर कौन रहा।
सुनो इष्ट के परिचय देने मे सक्षम "स्यात्कार" रहा।
सत्य अर्थ का चिह यही है, सो उसका सत्कार रहा॥११२॥

विधेय है प्रतिषेध्य वस्तु का अविरोधी सुन आर्य महा।
कारण, है वह इष्ट कार्य का अग रहा अनिवार्य अहा॥
आपस मे आदेयपना औ हेयपना का पूरक है।
स्याद्वाद बस यही रहा सब वादो का उन्मूलक है॥११३॥

विराग का उपदेश सही है सराग का उपदेश नही।
यही ज्ञान बस ध्येय रहा है और आस कुछ लेश नही॥
लिखी आप्तमीमासा फलत शास्त्रबोध अनुसार रहा।
आत्महितैषी बनो सुनो यह मात्र बोध निस्सार रहा॥११४॥

पद्यानुवादक-प्रशस्ति

लेखक कवि मै हूँ नही मुझमें कुछ नहि ज्ञान।
त्रुटियाँ होवे यदि यहाँ, शोध पढे धीमान॥१॥

निधि-नभ-नगपति-नयनका सुगन्ध-दशमी योग।
लिखा ईसरी मे पढो, बनता शुचि उपयोग॥२॥

मंङ्गल-कामना

विहसित हो जीवनलता विलसित गुण के फूल ।
ध्यानी मौनी सूघता महक उठी आ-मूल ॥१॥

सान्त करूँ सब पाप को हरूँ ताप बन शान्त ।
गति-अगति रति मिटे मिले आप निज प्रान्त ॥२॥

रग रग से करुणा झरे दुखी जनो को देख ।
विषय-सौख्य मे अनुभवू स्वार्थ-सिद्धि की रेख ॥३॥

रस-रूपादिक है नही मुझ मे केवल ज्ञान ।
चिर से हूँ चिर औ, हूँ जिनके बल जान ॥४॥

तन मन से औ वचनसे पर का कर उपकार ।
यह जीवन रवि सम बने मिलता शिव-उपहार ॥५॥

हम, यम दम शम सम धरे क्रमश कम श्रम होय ।
देवो मे भी देव हो अनुपम अधिगम होय ॥६॥

बात बहे मगल मयी छा जावे सुख छाँव ।
गति सब की सरला बने टले अमगल भाव ॥७॥

मना ध्रुव निधि का धाम हो क्यो ? बनता तू दीन ।
है उसको बस देख ले होकर निज मे लीन ॥८॥

इष्टोपदेश
एव
द्रव्य-संग्रह

इष्टोपदेश

मूल इष्टोपदेश (सस्कृत)

रचानाकार आचार्य पूज्यपाद

पद्यानुवाद आचार्य विद्यासागर

इष्टोपदेश (१)

(वसन्ततिलका छन्द)

दुष्टाष्ट कर्म दल को करके प्रनाश,
पाया स्वभाव जिनने, परित प्रकाश,
जो शुद्ध हे अमित, अक्षय बोधधाम,
मेरा उन्हे विनय से शतश प्रणाम ॥१॥

ज्यो ही यहाँ वर रसायण-योग होता,
पाषाण जो कनक-मिश्रित, हेम होता
त्यो द्रव्य क्षेत्र अरु काल सुयोग पाता,
ससारि-जीव परमात्मपना गहाता ॥२॥

चारित्र से अमर हो वह श्रेष्ठ ही है,
होना कुनारक असयम से बुरा है ।
तो भेद भी इन व्रताऽव्रत मे अहा ! है,
'छायासुधूप' इनमे जितना रहा है ॥३॥

जो आत्म भाव शिव सौख्य यदा दिलाता,
स्वर्गीय सौख्य वह क्या न तदा दिखाता ।
दो कोस भार सहसा जब जो निभाता,
क्यो अर्द्ध कोस तक ले उसको न जाता ? ॥४॥

है दीर्घ काल रहता, पल मे न जाता,
आतकहीन अरु जो महिमे न पाता ।
ओ नाकवासिसुख है मन-मोहनीय,
क्या क्या कहूँ अमर सौख्य अवर्णनीय ॥५॥

जो दु ख ? और सुख है तन धारियो का,
है व्याज मात्र तृण-बिन्दु, सुखेच्छुको का ।
जैसे भगदर, जलोदर, कुष्ट रोग,
वैसे नितान्त दुखदायक हाय ! भोग ॥६॥

विज्ञान जो अतितिरोहित मोह से है,
ना जानता वह निजीय स्वभाव को है ।
जैसा यही मदक, भग शराब को पी,
ना जानता मनुज भक्ष्य अभक्ष्य को भी ॥७॥

माता, पिता अहित और सुता व गेह ।
औ मित्र, पुत्र, सुकलत्र व अर्थ देह ।
य आत्म से सकल भिन्न सुसर्वथा है,
पै मूढ स्वीय कहता इनको वृथा है ॥८॥

पक्षी अहो ! दश-दिशागत जो यहाँ पे,
प्रत्येक वृक्ष पर वे बसते, जहाँ से ।
है स्वीय कार्य वश हो उडते उषा मे,
स्वच्छद होकर असीम दशो-दिशा मे ॥९॥

क्यो मूढ श्वान सम है करताति क्रोध,
हता जनो पर, अत उसमे न बोध ।
जो खोदता अवनिको जब फावडा से,
नीचे झुके वह तदैव निसर्गता से ॥१०॥

जो राग द्वेष करता, वसु कर्म ढोता,
ससारि-जीव भव को अति ही बढाता ।
अज्ञान से सुचिर है दुख ही उठाता,
है नित्य दौड भव-कानन मे लगाता ॥११॥

आपत्ति एक टलती जब लौ अहा ! है
दूजी अहो ! चमकती तब लौ वहाँ है ।
स्वामी ! यहाँ स्थिति सदा घटियत्र की सी
ससार सागर निमज्जित जीव की भी ॥१२॥

है नश्यमान व परिश्रम प्राप्त अर्थ,
रक्षार्थ नेक बनते इसके अनर्थ ।
सतुष्ट हाय ! इससे निज को मनुष्य
पी मानता घृत यथा ज्वरवान् अवश्य ॥१३॥

धिक्कार ! मूर्ख लखता न निजापदा को,
क्यो देखता वह सदा परकी व्यथा को ।
दावा सुव्याप्त वन मे मृगयूथ को जो,
रे देखता वह तरुस्थ मनुष्य है ज्यो ॥१४॥

है अर्थ को समझते निज से अमूल्य
सम्पत्ति हीन वह जीवन पर्ण तुल्य ।
श्रीमत मानव सदा इस भाति गाते,
आदर्श जीवन धनार्जन मे बिताते ॥१५॥

जो अर्थ हीन वह मानव सर्वदा ही,
दानार्थ अर्थ चुनता व सुखार्थ मोही ।
मै स्नान हूँ कर रहा इस भाति बोले,
ओ पक से स्वतन को निज हाथ धोले ॥१६॥

प्रारभ मे परम ताप अहो दिलाते,
तो प्राप्ति मे विषम आकुलता बढाते ।
है अत मे कठिन त्याज्य कुभोग ऐसे !!!
भोगे सकाम इनको बुध लोग कैसे ? ॥१७॥

सौगध्य पूर्ण वह चदन है पवित्र,
ज्यो देह सग करता, बनताऽपवित्र ।
काया घृणास्पद अतीव तथा विनाशी,
सेवा करे न इसकी ऋषि जो उदासी ॥१८॥

जो श्रेष्ठ मित्र उपकारक जीव का है,
होता वही अनुपकारक देहका है ।
होती नितात जिससे जड देह पुष्टि,
होती कभी न उससे पर जीव पुष्टि ॥१९॥

है एक हाथ खल-खड अहो दिखाता,
तो रत्न अन्य करमे वर सौख्य दाता ।
दोनो मिले स्वपरिणामतया यहाँ पे,
विद्वान का फिर समादर हो कहाँ पे ? ॥२०॥

है देह के वह बराबर सौख्यधाम,
आत्मा अमूर्त, नित नित्य उसे प्रणाम ।
औ देखता सकल लोक अलोक को है,
विज्ञान गम्य नहि इन्द्रिय गम्य जो है ॥२१॥

एकाग्र चित्त-बल से सब इद्रियो का,
व्यापार बन्द करके दुख दायको का ।
आत्मा स्वकीय घर मे रह आत्म को ही,
ध्यावे निजीय बल से तज मोह मोही ॥२२॥

सत्सग से परम बोध यहाँ कमाते
दुस्सग से अबुध हो, हम दु ख पाते ।
तो गध छोड वह चदन और क्या दे ?
जो पास हो उचित है वह ही सदा दे ॥२३॥

ना जानता परिषहादिक को विरागी,
होना न आस्रव जिसे वह मोक्ष मार्गी ।
अध्यात्म योग बल से फलत उसी की,
होती सही ! नियम से नित निर्जरा ही ॥२४॥

मैं हूँ यहाँ परम निर्मल वस्त्र कर्ता,
ऐसा पदार्थ युग मे विधि-बध भाता,
आत्मा हि ध्यान अरु ध्येय यदा व ध्याता,
तो कौनसा फिर तदा पर सग नाता ? ॥२५॥

जो जीव मोह करता, वसु कर्म ढोता,
निर्मोह भाव गहता, द्रुत मुक्त होता ।
शुद्धात्म को इसलिए दिनरैन ध्याओ,
ओ ! वीतराग मय भाव स्व-चित्त लाओ ॥२६॥

मै एक हूँ, परम शुद्ध प्रबुद्ध ज्ञानी,
वे ही मुझे निरखते, मुनि जो अमानी,
ये राग, रोष, ममकार, विकार भाव,
सयोग जन्य, जड है, मम ना स्वभाव ॥२७॥

सयोग पाकर तनादिकका यहाँ रे,
ससारि जीव दुख भाजन हो रहा है ।
तो कायसे वचन से मन से तजूँ मै,
समोह को, इसलिए निज को भजू मै ॥२८॥

मेरा नही मरण है, फिर भीति कैसी ?
रोगी नही, फिर व्यथा किसकी हितैषी ।
मै हूँ नही परम वृद्ध युवा न बाल,
ये है यहाँ सकल पुद्गल के बबाल ॥२९॥

भोगे गये निखिल पुद्गल बार बार,
ससार-मध्य मुझसे, दुख है अपार ।
भोगू उन्हे !! अब पुन यह निद्य कार्य !!
उच्छिष्ट सेवन करे जग मे अनार्य ॥३०॥

है कर्म, कर्म सखिको निज पास लाता
तो जीव आत्म हित को नित चाहता वा ।
हो जाय स्वीय पद पे बलवान कोई ।
इच्छा निजीय हितकी किसको न होई ? ॥३१॥

हे ! मित्र त्याग कर शीघ्र परोपकार,
हो स्वोपकार रत तू जग को विसार ।
होता विमूढ परके हितमे सुलीन,
मोही दुखी इसलिए मति हीन दीन ॥३२॥

सत् शास्त्र के मनन से गुरु भाषणो से,
विज्ञान रूप स्फुट नेत्र सहायता से ।
जो जानते स्वपर अन्तर को यहाँ है,
जाने सदैव शिवको सब वे अहा ! है ॥३३॥

विज्ञान रूप गुण से निजको जनाता,
औ आप मे रमण की अभिलाष लाता ।
धाता निजीय सुख का जग मे तथा है,
आत्मा वही 'गुरु' अत निज आत्म का है ॥३४॥

पाता अभिज्ञ न कभी इस अज्ञता को,
तो अज्ञ भी न गहता उस विज्ञता को ।
धर्मास्तिकाय जग ज्यो गति हेतु मात्र,
त्यो ही अभव्य जनको गुरु और शास्त्र ॥३५॥

विद्वेष, राग रति, मोह विकार रिक्त,
औ तत्व-बोध स्थित है जिसका सुचित्त ।
आलस्य हास्य तज औ निजगीत गावे,
एकात मे वह निजात्म स्वभाव ध्यावे ॥३६॥

ज्यो विश्वसार परमोत्तर आत्म तत्व,
विज्ञान मे उतरता, वह साध्य तत्व ।
अच्छे नही विषय त्यो लगते यहाँ पे,
जो प्राप्त है सहज यद्यपि रे ! धरापे ॥३७॥

ज्यो ज्यो नही विषय है निजको सुहाते,
जो जीवको भव सरोवर मे गिराते ।
त्यो त्यो अहो परम उत्तम साध्य तत्त्व
विज्ञान मे उतरता वह आत्म तत्व ॥३८॥

आत्मा यदा निजनिरजन रूप ध्याता,
है इन्द्रजाल सम विश्व उसे दिखाता ।
अन्यत्र है मन कभी यदि स्वल्प जाता,
तो क्या कहूँ वह तदा अति दु ख पाता ॥३९॥

प्यारा जिसे विपिन जो लगता यहाँ है,
एकान्त वास करता वह तो सदा है ।
आत्मीय कार्य वश हो यदि बोलता है,
तो शीघ्र ही तज उसे निज साधता है ॥४०॥

विद्वेष, राग, रति से अति दूर जो है,
वे बोलते यदि तथापि न बोलते है ।
ना देखते अपरको लखते हुए भी,
जाते नहीं गमन वे करते हुए भी ॥४१॥

कैसे कहाँ व किसका यह कौनसा है,
यो प्रश्न भी करता निज मे बसा है ।
है जानता न अपने तनको विरागी
जो योग लीन नित है पर वस्तु त्यागी ॥४२॥

जो जीव वास करता सहसा जहाँ है,
निर्भ्रान्त लीन रहता वह तो वहाँ है ।
जो भी जहाँ रमे मुद से सदैव,
अन्यत्र ना गमन हो उनका वृथैव ॥४३॥

ज्ञाता, अचेतन मयी तनका नहीं है,
जो देह का स्मरण भी करता नहीं है ।
ज्ञानी वही, विविध कर्म न बाधता है,
होता प्रमुक्त उनसे, शिव साधता है ॥४४॥

देहादि तो पर अत सब दु ख रूप,
आत्मा निजीय सुखधाम, सुधास्वरूप ।
सारे अत सतत सादर सन्त लोग,
आत्मार्थ ध्यान धरते, तज सर्व भोग ॥४५॥

जो आत्म सौख्य तज इन्द्रिय भोग लीन,
मूढात्म है जगत मे वह भाग्य हीन ।
पाता अत दुख सदा भव मे नितात,
यो बार बार तनधार अपार क्लात ॥४६॥

शुद्धात्म को हि वह केवल ध्येय मान
सारे विकल्प तजता, द्रुत हेय, जान ।
योगी सुयोग बल से अति श्लाघनीय,
पाता सुसौख्य जग जो बुध शोधनीय ॥४७॥

जो नित्य कर्ममय-इन्धन को जलाता,
है आत्म जन्य सुख तो शिव रूप भाता ।
योगी अत परिषहादिक से यहा पे,
है खेदता न गहते, नित तोष पाते ॥४८॥

अज्ञान रूप तम को झट जो नशाती,
है ज्ञान-ज्योति शिवमार्ग हमे दिखाती ।
आराधनीय वह है निज दर्शनीय,
स्वामी ! मुमुक्षु जनसे जग शोधनीय ॥४९॥

है अन्य जीव जड पुद्गल अन्य भाता,
है 'तत्व सार' यह यो जिन शास्त्र गाता ।
जो भी अहो कथन अन्य यहाँ दिखाता,
विस्तार मात्र इसका, इसमे समाता ॥५०॥

इष्टोपदेश पढ आदर से सुभव्य,
'मानापमान इनमे धर साम्य दिव्य ।
एकान्तवाद तज, ग्राम अरण्य मे वा,
धारे चरित्र, जिससे शिव-मिष्ट-मेवा ॥५१॥

थे भव्य-पकज-प्रभाकर पूज्य पाद,
था आपमे अति प्रभावित साम्यवाद ।
वन्दूँ उन्हे विनयसे मनसे त्रिसध्या,
'विद्या' मिले, सुख भले, पिघले अविद्या ॥५२॥

इष्टोपदेश (२)

(ज्ञानोदय छंद)

सुर-नर ऋषि-वर से सदा, जिनके पूजित-पाद ।
पूज्य-पाद को नित नमू, पाऊ परम-प्रसाद ॥मगलाचरण॥

जिस जीवन मे पूर्ण रूप से, सब कर्मों का विलय हुआ,
उसी समय पर सहज रूप से, स्वभाव रवि का उदय हुआ ।
जिसने पूरण पावन परिमल, ज्ञानरूप को वरण किया,
बार-बार बस उस परमातम, को इस मन ने नमन किया ॥१॥

स्वर्ण बने, पाषाण-स्वर्ण का, स्वर्ण-कार का हाथ रहा,
अनल-मिलन से जली मलिनता, समुचित-साधन साथ रहा ।
योग्य-द्रव्य हो योग्य-क्षेत्र हो, योग्य-भाव के योग मिले,
आतम-परमातम बनता है, भव-भव का सयोग टले ॥२॥

व्रत-पालन से सुरपुर मे जा, सुर-पद पाना इष्ट रहा,
पर व्रत बिन नरको मे गिरना, खेद ! किसे वह इष्ट रहा ।
घनी छॉव मे, घनी धूप मे, स्थित हो अन्तर पहिचानो,
अरे ! हितैषी व्रताव्रतो मे कितना अन्तर तुम मानो ॥३॥

जिन-भावो से नियम रूप से, मिलता है जब शिवपुर है,
उन भावो से भला ! बता दो, क्या ? ना मिलता सुर-पुर है ।
द्रुतगति से जो वाहन यात्रा, कई योजनो की करता,
अर्ध-क्रोश की यात्रा करने, मे भी क्या ? वह है डरता ॥४॥

पचेन्द्रिय-सुख हो कर भी जो, आतको से दूर रहा,
युग-युग तक अगणित वर्षो तक, लगातार भर-पूर रहा ।
सुर-सुख तो बस सुरसुख जिसको, अनुभवते सुर-पुर-वासी,
कहे कहा तक ? किस विध ? किसको ? आखिर हम तो वनवासी ॥५॥

[illegible] वासना का जाल है,
[illegible] मृग-मरीचिका का जाल है।
[illegible]
[illegible] ॥६॥

[illegible] जिसने [illegible] ध्यान किया,
[illegible] ज्ञान लिया।
[illegible] जिसका भी वह ज्ञान [illegible],
[illegible] फिर नहीं जानता, [illegible] ॥७॥

[illegible] ज्ञान बिना सुख-[illegible]
[illegible]
[illegible] -ज्ञान [illegible],
[illegible] ॥८॥

दिशा-दिशा में देश-देश में, उड़-उड़ पक्षी नित आवें,
डाल-डाल पर पात-पात पर, पादप पर निशि बस जावें।
अपने अपने काज साधने, प्रात काल में फिर उड़ते
दिशा-दिशा में देश-देश में, [illegible] फिर मुड़के ॥९॥

त्यागा यदि त्याग करना, तुम क्यों ? उस पर क्रोध करो,
त्यागोगे तो तुम भी हो फिर, कुछ तो मन में बोध धरो।
[illegible] को निज पैरों से जो, कोई मानव गिरा रहा
उसी समय पर उसी [illegible] से, स्वयं धरा पर गिरा आ ॥१०॥

दधि मन्थन के काल मथानी, मन्थन-भाजन में भ्रमती,
कभी उधर तो कभी इधर ज्यों, क्षण भर भी ना है थमती।
राग-द्वेष की लम्बी-लम्बी, डोरी से यह बँधा हुआ,
ज्ञान बिना त्यों भव में भ्रमता, क्रन्दन करे गल रुँधा हुआ ॥११॥

भरे रीतते कुछ भरते घट, तब तक यह क्रम चलता है,
घटी-यन्त्र का परिभ्रमण वह, जब तक रहता चलता है ।
इसी भाति भवसागर मे भी, एक आपदा टलती है,
कई आपदाये आ सन्मुख, मोही जन को छलती है ॥१२॥

जिनका अर्जन बहुत कठिन है, सरक्षण ना सम्भव है,
स्वभाव जिनका मिटना ही है, ये धन-कचन-वैभव हैं ।
फिर भी निज को स्वस्थ मानते, धनपति धन पाकर वैसे,
ज्वर से पीडित होकर जो जन, घृत-मय भोजन कर जैसे ॥१३॥

वन मे तरु पर बैठा जैसा, मन मे चितन करता है,
वन्य-जन्तु अब जले मरे सब, आग लगी वन जरता है ।
पर की चिन्ता जैसी करता, अपनी चिन्ता कब करता ?
मूढ बना तन पुनि-पुनि धरता, मरता है पुनि-पुनि डरता ॥१४॥

काल बीतता ज्यो-ज्यो त्यो-त्यो, आयु कर्म वह घटे बढे,
धन का वर्धन धनी चाहते, प्रति दिन हम तो बने बढे ।
कहे कहा तक धनी लोग तो, जीवन से भी जड धन को,
परम-इष्ट परमेश्वर कहते, धन्यवाद धन-जीवन को ॥१५॥

निर्धन धन अर्जित करता है, दान हेतु यदि वह नाना,
दान कर्म का ध्येय बनाया, कर्म खपाना शिव पाना ।
कार्य रहा यह ऐसा जैसा, अपने तन पर करता है-
लेप पक का कोई मानव, "स्नान करुगा कहता है" ॥१६॥

प्राप्त नही हो जब तक, तब तक, महा ताप कर काम-सभी,
किन्तु प्राप्त हो जाने पर तो, कभी तृप्ति का नाम नही ।
अन्त-अन्त मे तो क्या कहना ? जिनका तजना सरल नही,
सुधी रचे फिर काम-भोग मे ? जिन का मन हो तरल कही ॥१७॥

मलयाचल का चन्दन चरण, चमन चमेली चातुरता,
कुन्द पुष्प मकरन्द सुगन्धी, गन्ध-दार मन्दारलता ।
पदार्थ सब ये तन सगति से, गन्ध-पूर्ण भी गन्दे हो,
सदा अहित कर तन का यदि तुम, राग करो तो, अन्धे हो ॥१८॥

तन का जो उपकारक है वह, चेतन का अपकारक है,
चेतन का उपकारक है जो तन का वह अपकारक है ।
सब शास्त्रो का सार यही है, चेतन का उद्धार करो,
अपकारक से दूर रहो तुम, तन का कभी न प्यार करो ॥१९॥

एक ओर तो चिन्तामणि है, दिव्य रही, मन हरती है,
और दूसरी ओर काच की, मणिका जग को छलती है ।
ध्यान-साधना से ये दोनो, मानो भ्राता ! मिलती है,
आदर किसका बुधजन करते ? आखे किस पर टिकती हैं ॥२०॥

अपने-अपने सवेदन मे, अमूर्त हो आतम भाता,
रहा रहेगा त्रिकाल मे है, अत अनश्वर है भ्राता !
तात्कालिक तन प्रमाण होता, अनन्त सुख का निलय रहा,
लोकालोका-लोकित करता, सदा लोक का उदय रहा ॥२१॥

चपल-स्वभावी सभी इन्द्रियाँ, इनको सयत प्रथम करो,
मनो योग से मन माना मन, को भी मन्त्रित तुरत करो ।
अपने मे स्थित हो अपने को, अपनेपन से आप तथा,
ध्याओ अपने आप भला फिर, ताप मिटे सताप व्यथा ॥२२॥

अज्ञानी की शरण गहो तो, सुनो तुम्हे अज्ञान मिले,
ज्ञानी-जन की उपासना से, ज्ञान मिले वरदान फले ।
जिसका स्वामी जो होता है, प्रदान उसको करता है,
लोक नीति यह सुनी सभी ने, प्रमाण विरला करता है ॥२३॥

योगी जन अध्यात्म योग से, चेतन मे आबाध रहे,
मनो-योग को वचन-योग को, काय-योग को साध रहे ।
परीषहो को, उपसर्गों को, सहते विचलित कब होते ?
कर्म-निर्जरा आस्रव-रोधक, सवर प्रचलित सब होते ॥२४॥

यू हि परस्पर दो दो मे तो, होता है सम्बन्ध रहा,
कर्म रहा मम कट', कट का मै, कर्ता हू प्रतिबन्ध रहा ।
एकमेक जब ध्यान-ध्येय हो, आतम का ही आतम ओ !
फिर किस विध सम्बन्ध बन्ध हो, दोपन ही जब खातम हो ॥२५॥

इसीलिए तुम पूर्ण यत्न से, निर्ममता का मनन करो,
चिन्तन-मन्थन-आराधन भी, तथा उसी को नमन करो ।
जीव कर्म से बधता तब है, ममता से जब मण्डित हो,
बन्धन से भी मुक्त वही हो, निर्ममता मे पण्डित हो ॥२६॥

एक अकेला निर्मम हूँ मै, योगी को ही दिखता हू,
शुद्ध-शुभ्र हू ज्ञानी होता, ज्ञानामृत को चखता हू ।
माया, ममता, मोह, मान, मद, सयोगज ये भाव अरे !
भिन्न सर्वथा मुझसे है यू, इनमे हम समभाव धरे ॥२७॥

असहनीय दु खो का फल है, यह ससारी बना हुआ,
सयोगज भावो का फल है, रागादिक मे सना हुआ ।
इसी बात को जान मान कर, उपकृत हू गुरुवचनो से,
रागादिक को पूर्ण त्यागता, तन से, मन से, वचनो से ॥२८॥

मरण नही है मेरा मुझको, कहा भीति हो ? किससे हो ?
व्याधि नही है मुझमे, मुझको, वृथा व्यथा फिर किससे हो ?
बाल नही हू, युवा नही हू, वृद्ध नही हू ज्ञात रहे,
ये पुद्गल की रही दशाये, चेतन मेरा साथ रहे ॥२९॥

१ चटाई

मोह-भाव से विगत-काल में, मुझ से ये पुद्गल-सारे,
बहुत बार भी, बार-बार भी, भोगे, छोडे, उर धारे ।
वमनरूप-सम भोगो मे अब, मेरा मन यदि फिर जाता,
विज्ञ बना मुझको शोभा क्या ? देता उत्तर लजवाता ॥३०॥

कर्म चाहता तभी कर्म-हित, कर्म कर्म से जब बधता,
जीव चाहता तभी जीवहित, जीवन जिससे है सधता ।
अपने-अपने प्रभाव के वश, बलशाली है जब होते,
स्वार्थ सिद्धि मे कौन-कौन फिर, तत्पर ना हो ? सब होते ॥३१॥

पर को उपकारो का अब ना, पात्र बनाओ भूल कभी,
निज पर ही उपकार करो अब, पात्र रहा अनुकूल यही ।
करते दिखते सदा परस्पर, लौकिक जन उपकार यथा,
करते दिखते अज्ञ निरन्तर, पर पर ही उपकार तथा ॥३२॥

गुरु का उपदेशामृत निज को, सर्वप्रथम तो पिला दिया,
तदनुसार अभ्यास बढाया, प्रयोग करता चला गया ।
निजानुभव से निज-पर अन्तर, तभी निरन्तर जान रहा,
जान रहा वह मोक्ष सौख्य भी, अब तक जो अनजान रहा ॥३३॥

प्रशस्त-तम है अपनेपन मे, जो उसका अभिलाषक है,
स्वय किसी उपदेश बिना भी इष्ट-तत्व का ज्ञापक है ।
जो कुछ अब तक मिला मिलेगा, निज हित का भी भोक्ता है,
अत समझ तू आतम का तो, आतम ही गुरु होता है ॥३४॥

अज्ञ रहा तो अज्ञ रहेगा, नही विज्ञता पा सकता,
विज्ञ रहा तो विज्ञ रहेगा, नही अज्ञता पा सकता ।
केवल निमित्त धर्म द्रव्य है, गति मे जैसा होता है,
एक अन्य के कार्य विषय मे, समझो वैसा होता है ॥३५॥

रागादिक लहरे ना उठती, जिनका मानस शान्त रहा,
हेय तथा आदेय विषय मे, तत्व-ज्ञान निर्भ्रान्त रहा ।
योगी-जन निर्जन वन मे जा, निद्रा विजयी तथा बने,
प्रमाद तज निज साधन कर ले, कालजयी फिर सदा बने ॥३६॥

तत्वो मे तो परम तत्व है, आत्म तत्व जो सुख-दाता,
जैसे-जैसे अपने-अपने, संवेदन मे है आता ।
वैसे-वैसे भविकजनो को रुचते ना है भले-भले,
पुण्योदय से सुलभ हुए है, भोग सभी पीयूष घुले ॥३७॥

पुण्योदय से सुलभ हुये है, भोग सभी पीयूष घुले,
जैसे-जैसे भविकजनो को, रुचते ना है भले-भले ।
वैसे-वैसे अपने-अपने, सवेदन मे है आता,
तत्वो मे परम तत्व है, आत्मतत्व जो सुख दाता ॥३८॥

इन्द्र-जाल सम स्वभाव वाला, पल-पल पलटन शीला है,
सार-शून्य-ससार सकल है, नील-निशा की लीला है ।
इस विध चिन्तन करता योगी, आत्म-लाभ का प्यासा है,
पल-भर भी यदि बाहर जाता, खेद खिन्न हो खासा है ॥३९॥

जन, मन, तन-रजन मे जिस को, किसी भाति ना रस आता,
अत सदा एकान्त चाहता, मुनि बन वन मे बस जाता ।
निजी कार्य वश कभी किसी से, कुछ कहना हो कहता है,
कह कर भी झट विस्मृत करता, अपनेपन मे रहता है ॥४०॥

यदपि बोलते हुए दीखते, तदपि बोलते कभी नहीं,
चलते जाते हुए दीखते, फिर भी चलते कभी नही ।
आत्म तत्व स्थिर जिनका उनकी, जाती महिमा कही नही,
दृश्य देखते हुए दीखते, किन्तु देखते कभी नही ॥४१॥

यह सब क्या है? क्यों है? किस विध? कब से? किसका? है किससे?
इस विध चिन्तन करता-करता जो निज चिति में फिर-फिर से।
अपनी काया की भी सुध-बुध भूल कहीं खो जाता है,
राग परायण योगी वह तो एकाकी हो जाता है ॥४२॥

जो भी मानव निवास करता जहाँ कहीं भी पाया है,
नियम रूप से उसने अपना, वहाँ राग दिखलाया है।
भाव-चाव से जहाँ रम रहा जीवन अपना बिता रहा,
उसे छोड़ कर कहीं न जाता, छन्द यहाँ यह बता रहा ॥४३॥

बाहर योगी जब ना जाता, बाहर का फिर ज्ञान कहाँ ?
बाहर का जब ज्ञान नहीं है, विषयों का फिर नाम कहाँ ?।
विषयों का जब नाम नहीं है, रागादिक का काम कहाँ ?
रागादिक का काम नहीं तो, बन्ध कहाँ ? शिवधाम वहाँ ॥४४॥

पर तो पर है समझो भ्राता !, पर से अति दुख मिलता है,
आतम तो आतम है भ्राता, आतम से सुख मिलता है।
यही जानकर यही मानकर, महामना ऋषि सन्त यहाँ-
आतम-साधना में रत रहते, सुख पाते गुणवन्त महा ॥४५॥

कभी स्व-पर को नहीं जानता, रहा अचेतन यह तन है,
फिर तन का अभिनन्दन करता, मूढ बना तू चेतन है ?।
साथ चलेगा तुझ को फिर ना, चउगतियो में छोडेगा,
पापो से जोडेगा तुझको, भव-भव में तू रोयेगा ॥४६॥

बाहर के व्यवहार कृत्य से, तन-मन-वच से मुडता है,
भीतर के अध्यात्म वृत्त से, चेतन-पन से जुडता है।
फलत. परमानन्द जागता, राग-भाग्य अब भाग चला,
योगी का यह योग योग है, वीतराग पथ लाग चला ॥४७॥

योग साधना मे कब दुख हो, योगी का उद्योग यही,
योगी भीतर बाह्य दु ख मे, देता कब उपयोग सही ? ।
आतम मे आनन्द उदित हो, साधक को सन्तुष्ट करे,
कर्मरूप ईन्धन को अविरल, जला जलाकर नष्ट करे ॥४८॥

जिसे अविद्या देख कापती, पल-भर मे बस नस जाती,
महा-बलवती ज्ञान-ज्योति वह, कहलाती है, सुख लाती ।
बात करो तो करो उसी की, चाह उसी की करो सदा,
मुमुक्षु हो तुम उसी दृश्य को, देखो उर में धरो सदा ॥४९॥

जीव सदा से अन्य रहा है, अन्य रहा तन पुद्‌गल है,
तत्व ज्ञान बस यही रहा है, माना जाता मगल है ।
फिर भी जो कुछ और कथन यह, सुनने सन्तो से मिलता,
मात्र रहा विस्तार उसी का, तत्व-ज्ञान से तम मिटता ॥५०॥

सुधी सही इष्टोपदेश का, ज्ञान करे अवधान करे,
मानपने अपमानपने का, समान ही सम्मान करे ।
निराग्रही मुनि बन वन मे या, उचित भवन मे वास करे,
पाले निरुपम मुक्ति सम्पदा, भव्य भवो का नाश करे ॥५१॥

जहा अनेको पूज्य जिन, धाम एक से एक ।
रवि निज किरणो से करे, प्रतिदिन सौ अभिषेक ॥१॥

रामटेक को देखते, प्रकटे स्व-पर विवेक ।
विराम स्वातम मे करो, विघटे विपद अनेक ॥२॥

ऋषि रसना रस गन्ध, की पौष शुक्ल गुरु तीज ।
पूर्ण हुआ अनुवाद है, भुक्ति मुक्ति का बीज ॥३॥



गोमटेश अष्टक (गोमटेश-थुदि)

गोमटेश अष्टक

मूल गामटेश थुदि (प्राकृत)

रचानाकार आचाय नेमिचद सिद्धात चक्रवर्ती

पद्यानुवाढ आचार्य विद्यासागर

गोमटेश अष्टक

ज्ञानोदय छन्द (लय-मेरी भावना)

नील कमल के दल-सम जिन के युगल-सुलोचन विकसित है,
शशि-सम मनहर सुख कर जिनका मुख-मण्डल मृदु प्रमुदित है।
चम्पक की छवि शोभा जिनकी नम्र नासिका ने जीती,
गोमटेश जिन-पाद-पद्म की पराग नित मम मति पीती ॥१॥

गोल-गोल दो कपोल जिन के उजल सलिल सम छवि धारे,
ऐरावत-गज की सूण्डा सम बाहुदण्ड उज्ज्वल-प्यारे।
कन्धों पर आ, कर्ण-पाश वे नर्तन करते नन्दन है,
निरालम्ब वे नभ-सम शुचि मम गोमटेश को वन्दन है ॥२॥

दर्शनीय तव मध्य भाग है गिरि-सम निश्चल अचल रहा,
दिव्य शख भी आप कण्ठ से हार गया वह विफल रहा।
उन्नत विस्तृत हिमगिरि-सम है स्कन्ध आपका विलस रहा
गोमटेश प्रभु तभी सदा मम तुम पद मे मन निवस रहा ॥३॥

विंध्याचल पर चढ कर खरतर तप मे तत्पर हो बसते,
सकल विश्व के मुमुक्षु जन के शिखामणी तुम हो लसते।
त्रिभुवन के सब भव्य कुमुद ये खिलते तुम पूरण शशि हो,
गोमटेश तुम नमन तुम्हे हो सदा चाह बस मन वशि हो ॥४॥

मृदुतम बेल लताएँ लिपटी पग से उर तक तुम तन मे,
कल्पवृक्ष हो अनल्प फल दो भवि-जन को तुम त्रिभुवन मे
तुम पद-पंकज मे अलि बन सुर-पति गण करता गुन-गुन है
गोमटेश प्रभु के प्रति प्रतिपल वन्दन अर्पित तन-मन है ॥५॥

अम्बर तज अम्बर-तल थित हो दिग अम्बर नहि भीत रहे,
अबर आदिक विषयन से अति विरत रहे, भव भीत रहे ।
सर्पादिक से घिरे हुए पर अकम्प निश्चल शैल रहे,
गोमटेश स्वीकार नमन हो धुलता मन का मैल रहे ॥६॥

आशा तुम को छू नहि सकती समदर्शन के शासक हो,
जग के विषयन मे वाछा नहि दोष मूल के नाशक हो ।
भरत-भ्रात मे शल्य नही अब विगत-राग हो रोष जला,
गोमटेश तुम मे मम इस विध सतत राग हो, होत चला ॥७॥

काम-धाम से धन-कचन से सकलसग से दूर हुए
शूर हुए मद मोह-मार कर समता से भर-पूर हुए ।
एक वर्ष तक एक थान थित निराहार उपवास किये,
इसीलिए बस गोमटेश जिन मम मन मे अब वास किये ॥८॥

- दोहा -

नेमीचन्द्र गुरु ने किया प्राकृत मे गुण-गान,
गोमटेश थुति अब किया भाषा-मय सुख खान ॥१॥

गोमटेश के चरण मे नत हो बारबार,
विद्यासागर फिर बनूँ भवसागर कर पार ॥२॥

॥ इति शुभं भूयात् ॥

कल्याण मदिर स्तोत्र

मूल कल्याण मदिर स्तोत्र (सस्कृत)

पद्यानुवाद आचार्य विद्यासागर

कल्याणमन्दिर स्तोत्रम्

कल्याण-खाण-अघनाशक औ उदार,
है जो जिनेश-पद-नीरज विश्वसार ।
ससारवार्धि वर पोत ! स्ववक्षधार,
उन्हे यहा नमन मै कर बार-बार ॥१॥

रे ! रे ! हुवा स्तवन ना जिनदेव जी का,
धीमान से जब वृहस्पति से प्रभू का ।
तो मै उसे हि करने हत जा रहा हू,
क्यो धृष्टता अहमता दिखला रहा हू ॥२॥

मेरे समान लघु-धी कवि लोग सारे,
सामान्य से तव सुवर्णन भी विचारे ।
कैसे करे अहह ! नाथ ! नही करेगे,
उल्लू दिवान्ध रवि को न यथा लखेगे ॥३॥

है आपको विगतमोह मनुष्य जाना,
भो ! किन्तु जो तव गुणो उसने गिनाना ।
तूफान से जलविहीन समुद्र हो तो,
वार्धिस्थ रत्नचय का अनुमान है क्या ? ॥४॥

मै स्तोत्र को तव विभो ! करने चला हू,
है आप नैक-गुणधाम, व मन्द-धी हू ।
तो बाल भी जलधि की सुविशालता को,
फैला स्वहस्त युग को कहता नही क्या ? ॥५॥

गाये गये तव न भो ! गुण योगियो से,
मेरा प्रवेश उनमे फिर हन्त कैसे ?
है हो गई इक यहा स्थिति जो अनोखी,
गाते स्व वाणि बल से फिर भी विहग ॥६॥

जो स्तोत्र हे ! जिन ! सुदूर रहे महात्मा !,
तेरा हि नाम जग को दुख से बचाता ।
सतप्त भी पथिक जो रवि ताप से यो,
होता सुशान्त जलमिश्रित वायु से है ॥७॥

होते हि वास तव भव्य सुचित्त मे त्यो,
होते प्रभो शिथिल है घनकर्मबन्ध ।
आते हि चन्दन-सुवृक्ष-सुबीच मोर ,
है दौडते सकल ज्यो अहि एक ओर ॥८॥

हो देखते झट जिनेन्द्र ! तुझे मनुष्य,
होते सुदूर सहसा दु ख से अवश्य ।
गभीर शूर वसुधा पति को यहा जो,
है चोर देख सहसा द्रुत भागते यो ॥९॥

कैसे जिनेश तुम तारक हो जनो के,
जो आपको हृदय से धर, पार होते ।
वा चर्मपात्र जल मे तिरता परन्तु,
पात्रस्थ वायु बल है उस कर्म मे ही ॥१०॥

ब्रह्मा महेश मद को नहि जीत पाये,
भो ! आप किन्तु उसको क्षण मे जलाये ।
है ठीक ! अग्नि बुझती जल से यहाँ पे,
पीया गया न जल क्या ? बडवाग्नि से पे ॥११॥

स्वामी ! महान गरिमायुत आपको वे,
ससारि जीव गह, धार स्व-वक्ष मे औ ।
कैसे सु आशु भवसागर पार होते,
आश्चर्य ! साधु जन की महिमाअचिन्त्य ॥१२॥

भो ! क्रोध नष्ट पहले जब की बना दो,
कर्मौघ नष्ट तुमसे फिर बाद कैसे ?
है ठीक ही हरित पूरित भूरुहों को,
शीतातिशीत हिम क्या ? न यहा जलाता ॥१३॥

शुद्धात्मरूप ! तुमको जिन ! ढूढते है,
योगी सदा हृदय नीरज कोश मे वे ।
है ठीक ही, कमल बीज प्रसूतस्थान,
अन्यत्र क्या मिलत है ? तजकर्णिका को ॥१४॥

छद्मस्थ जीव तव देव ! सुध्यान से ही,
यो शीघ्र देह तज वे परमात्म होते ।
पाषाण जो कनक मिश्रित ईश ! जैसा
सयोग पा अनल का द्रुत हेम होता ॥१५॥

भो नित्य भव्य उर मे जिन ! शोभते हो,
कैसे सुनाश करते ? उस काय को क्यो ?
ऐसा स्वभाव रहता समभावियो का,
जो है महापुरुष विग्रह को नशाते ॥१६॥

जो आपको जिन ! अभेद विचार से है,
आत्मा सुध्यान करता, तुम-सा हि होता ।
जो नीर को अमृत मान, उसे हि पीता,
क्या नीर जो न उसके विष को नशाता ? ॥१७॥

हे वीतराग ! तुमको परवादि लोग,
ब्रह्मा-महेश-हरि रूप वि जानते है ।
हे ठीक काचकमलामय रोग वाले,
क्या शख को विविध वर्णमयी न जाने ? ॥१८॥

धर्मोपदेश जब हो जन दूर होवे,
सानिध्य से हि तब, वृक्ष अशोक होते ।
है भानु के उदय से जन मोद पाते,
उत्फुल्ल क्या तरु-लता दल हो न पाते ॥१९॥

वर्षा यहा सुमन की करते हि देव,
आश्चर्य ! वे कुसुम सर्व अधोमुखी क्यो ?
है ठीक ही, सुमन बध सभी हि जाते,
नीचे मुनीश ! तुमको लख के सदैव ॥२०॥

गभीर वक्ष जलराशि विनिर्गता जो,
हे भारती, तव उसे करते सुपान ।
है भव्य, जीव फलत मुदमोद होते ,
औ शीघ्र ही जनन मृत्युविहीन होते ? ॥२१॥

स्वामी मनो ! नम सुभक्ति सुभाव से ज्यो,
स्वर्गीय चामर कलाप हि बोलता है ।
जो भी करे नमन साधु वराग्र को भो !
होगा हि निर्मल तथा वह उर्ध्वगामी ॥२२॥

गभीर भारति-विधारक आपको त्यो,
औ श्याम ! हेममणिनिर्मित आसनस्थ !
आमोद से निरखते सब भव्य मोर,
स्वामी ! सुमेरु पर मोर पयोद को ज्यो ॥२३॥

भो ! आपके हि शित मण्डल ज्योति से जो,
देखो हुवा छबि विहीन अशोक वृक्ष ।
सानिध्य से फिर विभो तब वीतराग !
क्या भव्य चेतन न रागविहीन होते ? ॥२४॥

ये आपके अमर दुन्दुभि है बताते,
आके करो अलस छोड जिनेन्द्र सेवा ।
जो आप है वह शिवालय सार्थवाह,
इत्थ विचार मम है अरु ठीक भी है ॥२५॥

जाज्वल्यमान तुमसे त्रय लोक देख,
नष्टाधिकार वह चन्द्र हताश होके ।
यो तीन छत्र मिष से तुम पास आके,
सेवा प्रभो शशि यहा करता हि तेरी ॥२६॥

सपत्ति से भरितलोक समान आप,
कान्ति प्रताप यश का अरु है सुधाम ।
हेमाद्रि ढिव्य गणि निर्मित साल से ज्यो,
शोभायमान् भगवन इह हो रहे है ॥२७॥

देवेन्द्र की जिन ! यहा नमते हुए की,
माला, सुमोच मणिमडित मौलियो की ।
लेती सुआश्रय सदा तव पाढ का है,
अन्यत्र ना सुमन वासव, ठीक भी है ॥२८॥

हे नाथ ! आप भववारिधि से सुदूर,
तो भी स्वसेवक जनाऽऽकर को तिराते ।
है आपको उचित पार्थिव भूप सा भी,
आश्चर्य कर्मफल शून्य तथापि आपि ॥२९॥

त्रैलोक्यनाथ जिन है ! धनहीन भी है !
है आप अक्षर विभो ! लिपिहीन भी है ।
ना आप मे करण बोध शतांश मे भी,
विज्ञान है विशढ किन्तु जगप्रकाशी ॥३०॥

धूली अहो कमठ ने नभ मे उडा दी,
तो भी ढकी तव विभो ! उससे न छाया ।
देखो ! जिनेश वह ही फलत दुरात्मा,
धिक् धिक् महान दु ख को बहुकाल पाया ॥३१॥

भो ! दैत्य से कमठ से घनघोर वर्षा,
अश्राव्य गर्जनमयी तुमपे हुई भी ।
पै आप पे असर तो उसका पडा ना
पै दैत्य को नरक मे रू पडा हि जाना ॥३२॥

धारे हुए सकल थे गलरुन्ड माला,
जो त्यागते अनल को मुख से निराला ।
भेजा कुदैत्य तव पास पिशाच ऐसे,
पै दैत्य के हि दुखकारण हो गए वे ॥३३॥

वे जीव धन्य महि मे त्रयलोकनाथ !
प्रात तथा च अपराह्नविभो ! सु सन्ध्या ।
उत्साह से मुदित हो वर भक्ति साथ,
शास्त्रानुकूल तव पाद सु पूजते है ॥३४॥

ना आप आज तक भी श्रुतिगम्य मेरे,
मानूँ मुनीश ! भववारिधि मे हि ऐसा ।
आ जाय मात्र सुनने तव नाम मन्त्र,
आता समीप फिर भी विपदा फणी क्या ? ॥३५॥

तेरी न पादयुग पूजन पूर्व मे की,
जो है यहा सुखद ईप्सित-वस्तु-दाता ।
ऐसे विचार मम है फलत मुनीश !
देखो हुवा अब अनादर पात्र मे हू ॥३६॥

मोहान्धकार सुनिरोहित लोचनो से,
देखा न पूर्व तुमको जिन ! एक बार ।
ऐसा न हो यदि विभो ! मुझ को बताओ ,
क्यो पाप कर्म दिन रैन मुझे सताते ॥३७॥

देखे गये श्रवणगम्य हुवे व पूजे ,
पै भक्ति से न चित मे तुमको बिठाया ।
हू दु:ख भाजन हुवा फलत जिनेश !
रे ! भावहीन करणी सुख को न देती ॥३८॥

ससार-त्रस्त-जन-वत्सल औ शरण्य,
हे नाथ ! ईश्वर ! दया-वर-पुण्य-धाम !
हू भक्ति से नत, दया मुझ मे दिखा के ,
उद्युक्त हो दुरित अकुर को जलाने ॥३९॥

हे आप जीत वसुकर्म सुकीर्तिधारी,
पा, पाद कज युग को यदि आपके मै ।
स्वामी ! सुदूर निज चितन से रहू तो ,
हू भाग्यहीन, व मरा, अयि तात ! वन्द्य ॥४०॥

श्री पार्श्वनाथ ! भवतारक ! लोकनाथ !
सर्वज्ञदेव ! व विभो ! सुरनाथ वन्द्य !
रक्षा अहो ! मम करो, करुणासमुद्र ,
ससारत्रस्त मुझको, उस छोर भेजो ॥४१॥

पादारविन्द युग-भक्ति-सुपाक, कोई,
है तो यहा तव विभो भववार्धिपोत !
मेरे लिये इह तथा परजन्म मे भी ,
है आप ही व शरणागत पाल स्वामी ॥४२॥

नदीश्वर-भक्ति

मूल नदीश्वर-भक्ति (सस्कृत)

रचनाकार आचार्य पूज्यपाद

पद्यानुवाद आचार्य विद्यासागर

रोमाचितागयुत जो तव भव्य जीव,
एकाग्र हो तव मुखाबुज मे अली से ।
है स्त्रोत की सुरचना करते यहा पे ,
ऐसे यथाविधि जिनेन्द्र ! विभो ! शरण्य ॥४३॥

जननयन कुमुदचन्द्र !, परमस्वर्गीय भोग को भोग।
वे वसुकर्म नाशकर, पाते शीघ्र मोक्ष को लोग ॥४४॥

ग्रथकार एवं गुरु स्मरण

सुरासुरो से है सदा, पूजित जिनके पाद
'पूज्यपाद' को नित नमूँ, पाऊँ परम प्रसाद ॥१॥

सारे सागर क्षार है मम गुरु मधुर अपार ।
नमूँ ज्ञानसागर गहूँ, भवसागर का पार ॥२॥

नदीश्वर-भक्ति

(ज्ञानोदय-छन्द)

जय, जय, जय, जय जयवन्त जिनालय, नाश रहित है शाश्वत है
जिनमे जिनमहिमा से मण्डित, जैन-बिम्ब है भास्वत है ।
सुरपति के मुकुटो की मणियाँ झिल-मिल, झिल-मिल करती है
जिनबिम्बो के चरण-कमल को धोती है, मन हरती है ॥१॥

सदा सदा से, सहज रूप से, शुचितम, प्राकृत छवि वाले,
रहे जिनालय धरती पर ये, श्रमणो की सस्कृति धारे ।
तीनों संध्याओ मे इनको, तन से, मन से, वचनो से,
नमन करूँ धोऊँ अघ-रज को, छूटूँ भव-वन-भ्रमणो से ॥२॥

भवनवासियो के भवनो मे, तथा जिनालय बने हुये,
तेज-कान्ति से दमक रहे है, और तेज सब हने हुये ।
जिन की सख्या जिन-आगम मे, सात कोटि की मानी है,
साठ-लाख, दस-लाख और दो-लाख बताते ज्ञानी है ॥३॥

अगणित द्वीपो मे अगणित है, अगणित गुण गण मण्डित है;
व्यतर देवो से नियमित जो, पूजित सस्तुत वदित है ।
त्रिभुवन के सब भविकजनो के, नयन मनोहर सुन प्यारे ।
तीन-लोक के नाथ जिनेश्वर-मदिर है शिव-पुर द्वारे ॥४॥

सूर्य-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्रादिक, तारकदल गगनागन मे,
कौन गिने वह अनगित है ये, अनगिन जिनगृह है जिनमे ।
जिन का वन्दन प्रतिदिन करते, शिव-सुख के वे अभिलाषी,
दिव्य-देह ले देव-देवियाँ, ज्योतिर्मण्डल अधिवासी ॥५॥

नभ-नभ-स्वर-रस-केशव-सेना मद[1] हो सोलह कल्पो मे,
आगे पीछे तीन बीच दो[2]-, शुभतर कल्पातीतो में ।
इस विध शाश्वत ऊर्ध्वलोक मे, सुखकर ये जिन-धाम रहे,
अहो भाग्य हो नित्य निरन्तर, होठो पर जिन-नाम रहे ॥६॥

अलोक का फैलाव कहाँ तक, लोक कहाँ तक फैला है ?
जाने जो जिन है जय-भाजन, मिटा उन्ही का फेरा है ।
कही उन्ही ने मनुज-लोक के, चैत्यालय की गिनती है,
चार शतक अट्ठावन ऊपर, जिन मे मन रम विनती है ॥७॥

आतम-मद-सेना-स्वर-केशव-अग-रग फिर याम[3] कहे,
ऊर्ध्व-मध्य औ अधोलोक मे, यूँ सब मिल जिन-धाम रहे ॥८॥

१ नभ=०, नभ=०, स्वर-७, रस (षड्रस)-६, केशव (नारायण)-९, सेना (चतुरगिनी)-४, मद-८ 'अकाना वामतो गति' के अनुसार ८४, ९६, ७००

२ ३२३ कुल=८४, ९६, ७००+३२३=८४, ९७, ०२३

३ आतम-१, मद-८, सेना-४, स्वर-७, केशव-९, अग (षड्काय)-६, रग-५, याम (प्रहर)-८ यानी कुल = ८५६९४८१

किसी ईश से निर्मित ना है, शाश्वत है स्वयमेव सदा,
दिव्य-भव्य जिन-मदिर देखो, छोडो मन अहमेव मुधा ।
जिनमे आर्हत, प्रतिभा मडित प्रतिमा न्यारी प्यारी है,
सुरासुरो से सुरपतियो से, पूजी जाती सारी है ॥९॥

रुचक कुण्डलो कुलाचलो पर, क्रमश चउ चउतीस रहे,
वक्षारोगिरि विजयार्द्धों पर, शत, शत सत्तर ईश कहे ।
गिरि-इषुकारो, उत्तर-गिरियो, कुरुओ मे चउ, चउ, दश है,
तीन-शतक छह-बीस जिनालय, गाते इनके हम यश है ॥१०॥

द्वीप रहा जो अष्टम जिसने, ''नन्दीश्वर'' वर नाम धरा,
नन्दीश्वर-सागर से पूरण, आप घिरा अभिराम खरा ।
शशि-सम शीतल जिसके अतिशय-यश से बस ! दश दिशा खिली,
भूमण्डल ही हुआ प्रभावित, इस ऋषि को भी दिशा मिली ॥११॥

इसी द्वीप मे चउ दिशियो मे, चउ गुरु अजन गिरिवर है,
इक इक अजनगिरि सबधित, चउ चउ दधिमुख गिरिवर है ।
फिर प्रति दधिमुख कोनो मे दो-दो रतिकर गिरि चर्चित है ,
पावन, बावन गिरि पर, बावन-जिनगृह है सुर अर्चित है ॥१२॥

एक वर्ष मे तीन बार शुभ, अष्टाह्निक उत्सव आते,
एक प्रथम आषाढ मास मे, कार्तिक, फाल्गुन फिर आते ।
इन मासो के शुक्ल पक्ष मे, अष्ट दिवस अष्टम तिथि से ,
प्रमुख बना सौधर्म इन्द्र को, भूपर उतरे सुर मति से ॥१३॥

पूज्य द्वीप नन्दीश्वर जाकर, प्रथम जिनालय वन्दन ले,
प्रचुर पुष्प मणिदीप धूप ले, दिव्याक्षत ले चन्दन ले ।
अनुपम अद्भुत जिन-प्रतिमा की, जगकल्याणी गुरुपूजा,
भक्ति-भाव से करते हे मन ! पूजा मे खोजा तू जा ॥१४॥

बिम्बो के अभिषेक कार्यरत हुआ इन्द्र सौधर्म महा,
"दृश्य बना" उसका क्या वर्णन, भाव-भक्ति सो धर्म रहा।
सहयोगी बन उसी कार्य मे, शेष इन्द्र जयगान करे,
पूर्ण-चन्द्र-सम निर्मल यश ले, प्रसाद-गुण का पान करे ॥१५॥

इन्द्रो की इन्द्राणी मंगल-कलशादिक लेकर सर पै,
समुचित शोभा ओर बढाती, गुणवन्ती इस अवसर पै।
छां-छुम, छा-छुम नाच नाचती, सुर-नटियाँ हैं सस्मित हो,
सुनो! शेष अनिमेष सुरासुर, दृश्य देखते विस्मित हो ॥१६॥

वैभवशाली सुरपतियो के, भावो का परिणाम रहा,
पूजन का यह सुखद-महोत्सव, दृश्य बना अभिराम रहा।
इसके वर्णन करने मे जब, सुनो! बृहस्पति विफल रहा,
मानव मे फिर शक्ति कहाँ वह? वर्णन करने मचल रहा ॥१७॥

जिन-पूजन-अभिषेक पूर्णकर, अक्षत केसर चन्दन से,
बाहर आये देव दिख रहे, रँगे-रँगे से तन-मन से।
तथा दे रहे प्रदक्षिणा है, नन्दीश्वर जिनभवनों की,
पूज्य-पर्व को पूर्ण मनाते, स्तुति करते जिन-श्रमणो की ॥१८॥

सुनो! वहाँ से मनुज-लोक मे, सब मिलकर सुर आते है,
जहाँ पाँच शुभ मदर-गिरि हैं, शाश्वत चिर से भाते हैं।
भद्रशाल, नन्दन, सुमनस औ, पांडुक वन ये चार जहाँ-
प्रति मंदर पर रहे, तथा प्रति-वन में जिनगृह चार महा ॥१९॥

मन्दर पर भी प्रदक्षिणा दे, करे जिनालय वन्दन है,
जिन-पूजन-अभिषेक तथा कर, करें शुभाशय नन्दन है।
सुखद पुण्य का वेतन लेकर, जो इस उत्सव का फल है,
जाते निज-निज स्वर्गों को सुर, यहाँ धर्म ही सम्बल है ॥२०॥

तरह-तरह के तोरण-द्वारे, दिव्य-वेदिका और रहे,
मानस्तम्भो याग-वृक्ष और उपवन चारो ओर रहे ।
तीन-तीन प्राकार बने है, विशाल मण्डप ताने है,
ध्वजा-पक्ति का दशक लसे चउ-गोपुर गाते गाने है ॥२१॥

देख सके अभिषेक बैठकर, धाम बने नाटक गृह है,
जहाँ सदन सगीत-साध के, क्रीडागृह कौतुकगृह है ।
सहज बनी इन कृतियो को लख, शिल्पी होते अविकल्पी,
समझदार भी नही समझते, सूझ-बुझ सब हो चुप्पी ॥२२॥

थाली सी है गोल वापिका, पुष्कर है चउ-कोन रहे,
भरे लबालब जल से इतने, कितने गहरे कौन कहे ?
पूर्ण खिले है महक रहे है, जिन मे बहुविद कमल लसे,
शरद-काल मे जिस विध नभ मे, शशि-ग्रह-तारक विपुल लसे ॥२३॥

झारी-लोटे-घट-कलशादिक, उपकरणो की कमी नही,
प्रति जिनगृह मे शत-वसु, शत-वसु, शाश्वत मिटते कभी नही ।
वर्णाकृति भी निरी-निरी है, जिन की छवि प्रति-छवि भाती,
जहाँ घटियाँ झन-झन, झन-झन बजती रहती ध्वनि आती ॥२४॥

स्वर्णमयी ये जिन-मदिर यूँ, युगो-युगो से शोभित है,
गध कुटी मे सिहासन भी, सुन्दर सुन्दर घोतित है ।
नाना दुर्लभ वैभव से ये, परिपूरित है रचित हुये,
सुनो ! कही त्रिभुवन के वैभव, जिन-पद मे आ प्रणत हुये ॥२५॥

इन जिन-भवनो मे जिन-प्रतिमा, ये है पद्मासन वाली,
धनुष पच-शत प्रमाणवाली, प्रति प्रतिमा, शुभ छवि वाली ।
कोटि, कोटि दिनकर आभा तक, मन्द-मन्द पड जाती है,
कनक रजत मणि निर्मित सारी, झग-झग, झग-झग भाती है ॥२६॥

दिशा-दिशा मे अतिशय शोभा, महा तेज यश धार रहे,
पाप-मात्र के भजक है ये, भव-सागर के पार रहे ।
और, और फिर भानुतुल्य उन, जिन-भवनो को नमन करूँ,
स्वरूप उनका कहा न जाता, मात्र मौन हो नमन करूँ ॥२७॥

धर्म-क्षेत्र ये एक शतक औ, सत्तर है षट्-कर्म जहाँ
धर्म-चक्र-धर तीर्थकरो से, दर्शित है जिन-धर्म यहाँ ।
हुये, हो रहे, होगे उन सब, तीर्थकरो को नमन करूँ,
भाव यही है 'ज्ञानोदय' मे, रमण करूँ भव-भ्रमण हरूँ ॥२८॥

इस अवसर्पिणि मे इस भूपर, वृषभ-नाथ अवतार लिया,
भर्ता बन युग का पालन कर, धर्म-तीर्थ का भार लिया ।
अन्त-अन्त मे अष्टापद पर, तप का उप-सहार किया,
पाप-मुक्त हो मुक्ति सम्पदा प्राप्त किया उपहार, जिया ! ॥२९॥

बारहवे-जिन वासुपज्य है, परम पुण्य के पुज हुये,
पाँचो कल्याणो मे जिनको, सुरपति पूजक, पूज गये ।
चपापुर मे पूर्ण रूप से, कर्मों पर बहु मार किये;
परमोत्तम पद प्राप्त किये औ, विपदाओ के पार गये ॥३०॥

प्रमुदित मति के राम-श्याम[1] से, नेमिनाथ जिन पूजित है,
कषाय-रिपु को जीत लिये है, प्रशम-भाव से पूरित है ।
ऊर्जयन्त गिरनार शिखर पर, जाकर योगातीत हुये,
त्रिभुवन के फिर चूडामणि हो, मुक्ति वधू के प्रीत हुये ॥३१॥

वीर' दिगम्बर श्रमण गुणो को, पाल बने पूरण ज्ञानी,
मेघ-नाद सम दिव्य-नाद से, जगा दिया जग, सद्ध्यानी ।
'पावापुर', वर सरोवरो के, मध्य तपो मे लीन हुये,
विधि गुण विगलित कर अगणित गुण, शिव पद पा स्वाधीन हुये ॥३२॥

१ बलराम-कृष्ण

जिसके चारों ओर वनो मे, मद वाले गज बहु रहते,
'सम्मेदाचल' पूज्य वही है, पूजो इसको गुरु कहते ।
शेष रहे 'जिन बीस-तीर्थकर, इसी अचल पर अचल हुये,
अतिशय यश को, शाश्वत सुख को, पाने मे वे सफल हुये ॥३३॥

मूक तथा उपसर्ग अन्तकृत, अनेक विध केवल ज्ञानी;
हुये विगत मे यति मुनि गणधर, कु-सुमत ज्ञानी विज्ञानी ।
गिरि वन तरुओ गुफा कदरो, सरिता सागर तीरो मे;
तप साधन कर मोक्ष पधारे, अनल शिखा मरु टीलो मे ॥३४॥

मोक्ष साध्य के हेतुभूत ये, स्थान रहे पावन-सारे,
सुरपतियो से पूजित है सो, इन की रज शिर पर धारे ।
तपो भूमि ये, पुण्य क्षेत्र ये, तीर्थ क्षेत्र ये अघहारी,
धर्म-कार्य मे लगे हुए हम, सब के हो मगलकारी ॥३५॥

दोष रहित है, विजितमना है, जग मे जितने जिनवर हैं,
जितनी जिनवर की प्रतिमाये, तथा जिनालय मनहर है ।
समाधि साधित भूमि, जहाँ मुनि-साधक के हो चरण परे;
हेतु बने ये भविक-जनो के, भव-लय मे, हम चरण पडे ॥३६॥

उत्तम यश-धर जिनपतियो का, स्तोत्र पढे निज-भावो में,
तन से, मन से, और वचन से, तीनो सन्ध्या कालो मे ।
श्रुतसागर के पार गये उन, मुनियो से जो सस्तुत हैं,
यथा शीघ्र वह अमित पूर्ण पद, पाता सम्मुख-प्रस्तुत है ॥३७॥

मल मूत्रो का कभी न होना, रुधिर क्षीर-सम श्वेत रहे;
सर्वांगो मे सामुद्रिकता, सदा सदा ना स्वेद रहे ।
रूप सलोना सुरभित होना, तन-मन मे शुभ लक्षणता,
हित-मित-मिश्री मिश्रितवाणी, सुन लो ! और विलक्षणता ॥३८॥

अतुल-वीर्य का सम्बल होना, प्राप्त आद्य सहननपना,
ज्ञात तुम्हे हो ख्याल रहे है, स्वतिशय दश ये गुणनपना ।
जन्म-काल से मरण-काल तक, ये दश अतिशय, 'सुनते हैं',
तीर्थकरो के तन मे मिलते, अमितगुणों को गुनते है ॥३९॥

कोश चार शत सुभिक्षिता हो, अधर गगन में गमन सही,
चउ विध कवलाहार नही हो, किसी जीव का हनन नही ।
केवलता या श्रुतकारकता, उपसर्गों का नाम नही,
चतुर्मुखी का होना, तन की छाया का भी काम नहीं ॥४०॥

बिना बढे वह सुचारता से, नख केशों का रह जाना,
दोनो नयनो के पलको का, स्पंदन ही चिर मिट जाना ।
घाति-कर्म के क्षय के कारण, अर्हन्तो मे होते है,
ये दश अतिशय इन्हे देख बुध, पल भर सुध-बुध खोते हैं ॥४१॥

अर्ध-मागधी भाषा सुख की, सहज समझ मे आती है,
समवशरण मे सब जीवो मे, मैत्री घुल-मिल जाती है ।
एक साथ सब ऋतुयें फलतीं, "क्रम" के सब पथ रुक जाते,
लघुतर गुरुतर बहुतर तरुवर, फूल फलों के झुक जाते ॥४२॥

दर्पण-सम शुचि रत्नमयी हो, झग-झग करती धरती है,
सुरपति नरपति यतिपतियों के, जन-जन के मन हरती है ।
जिनवर का जब विहार होता, पवन सदा अनुकूल बहे,
जन-जन परमानन्द गन्ध मे, डूबे दुख-सुख भूल रहे ॥४३॥

सकटदा विषकंटक कीटो, कंकर तिनको शूलो से,
रहित बनाता पथ को गुरुतर-उपलों से अतिधूलो से ।
योजन तक भूतल को समतल, करता बहता वह साता,
मन्द मन्द मकरन्द गन्ध से, पवन मही को महकाता ॥४४॥

तुरत इन्द्र की आज्ञा से बस, नभ मण्डल मे छा जाते,
सघन-मेघ के कुमार, गर्जन करते बिजली चमकाते ।
रिम-झिम रिम-झिम गन्धोदक की, वर्षा होती हर्षाती-
जिस सौरभ से सब की नासा, सुर-सुर करती दर्शाती ॥४५॥

आगे-पीछे सात-सात, इक पदतल मे तीर्थंकर के,
पक्ति-बद्ध यो अष्ट-दिशाओ, और उन्ही के अन्तर मे ।
पद्म बिछाते सुर माणिक-सम, केशर से जो भरे हुये,
अतुल परस है सुखकर जिनका, स्वर्ण दलो से खिले हुये ॥४६॥

पकी फसल ले शाली आदिक, धरती पर सर धरती है,
सुन लो फलत रोम-रोम से, रोमाचित सी धरती है ।
ऐसी लगती त्रिभुवनपति के, वैभव को ही निरख रही,
और स्वय को भाग्यशालिनी, कहती-कहती हरख रही ॥४७॥

शरदकाल मे विमल सलिल से, सरवर जिस विध लसता है,
बादल-दल से रहित हुआ नभ-मण्डल उस विध हँसता है ।
दशो दिशाये धूम्र-धूलियाँ, शामभाव को तजती है,
सहज रूप से निरावरणता, उज्ज्वलता को भजती है ॥४८॥

इन्द्राज्ञा मे चलने वाले, देव चतुर्विध वे सारे,
भविकजनो को सदा बुलाते, समवशरण मे उजियारे ।
उच्चस्वरो मे दे दे करके, आमत्रण की ध्वनि "ओ जी !",
"देवो के भी देव यहाँ है," शीघ्र पधारो आओ जी ! ॥४९॥

जिसने धारे हजार आरे, स्फुरण-शील, मन हरता है,
उज्ज्वल मौलिक मणि-किरणो से, झर-झुर झर-झुर करता है ।
जिसके आगे तेज भानु भी, अपनी आभा खोता है,
आगे-आगे सबसे आगे, धर्म-चक्र वह होता है ॥५०॥

वैभवशाली होकर भी ये, इन्द्र-लोग सब सीधे है,
धर्म-राग से रगे हुये है, भाव भक्ति मे भीगे है ।
इन्ही जनो से इस विध अनुपम, अतिशय चौदह किये गये,
वसुविध मगल पात्रादिक भी, समवशरण मे लिये गये ॥५१॥

नील-नील वैडूर्य दीप्ति से, जिसकी शाखाये भाती;
लाल-लाल मृदु प्रवालआभा, जिनमे शोभा औ लाती ।
मरकत मणि के पत्र बने है, जिसकी छाया शाम घनी,
अशोक तरु यह अहो शोभता, यहाँ शोक की शाम नही ॥५२॥

पुष्प वृष्टि हो नभ से जिसमे, पुष्प अलौकिक विपुल मिले,
नील-कमल है लाल-धवल है, कुद बहुल है बकुल खुले ।
गन्धदार मन्दार मालती, पारिजात मकरद झरे,
जिन पर अलिगण "गुन-गुन" गाते, निशिगन्धा अरविन्द खिले ॥५३॥

जिनकी कटि मे कनक करधनी, कलाइयो मे कनक कडे,
हीरक के केयूर हार है, पुष्ट कण्ठ मे दमक पडे ।
सालंकृत दो यक्ष खडे जिन-कर्णों मे कुण्डल डोले,
चमर ढुराते हौले-हौले, प्रभु की जो जय-जय बोले ॥५४॥

यहाँ यकायक घटित हुआ जो, कोई सकता बता नही,
दिवस रात का भला भेद वह, कहाँ गया कुछ पता नही ।
दूर हुये व्यवधान हजारो-रवियो के वह आप कहीं ।
भामण्डल की यह सब महिमा, आँखो को कुछ ताप नही ॥५५॥

प्रबल पवन का घात हुआ जो, विचलित होकर तुरत मथा,
हर-हर, हर-हर सागर करता, हर मन हरता मुदित यथा ।
वीणा, मुरली, दुम-दुम दुदुभि, ताल-ताल करताल तथा ।
कोटि-कोटि यो वाद्य बज रहे, समवशरण में सार कथा ॥५६॥

महादीर्घ वैडूर्य रत्न का, बना दण्ड है, जिस पर है,
तीन चन्द्र-सम तीन-छत्र ये, गुरु-लघु-लघुतम ऊपर है ।
तीन भुवन के स्वामीपन की, स्थिति जिससे अति प्रकट रही,
सुन्दरतम है, मुक्ताफल की, लडियाँ जिस पर लटक रही ॥५७॥

जिनवर की गम्भीर भारती, श्रोताओ के दिल हरती,
योजन तक जो सुनी जा रही, अनुगुजित हो नभ धरती ।
जैसे जल से भरे मेघ-दल, नभ-मण्डल में डोल रहे,
ध्वनि मे डूबे दिगंतरो में, घुमड-घुमड कर बोल रहे ॥५८॥

रग़-विरगी मणि-किरणों से, इन्द्रधनुष की सुषमा ले;
शोभित होता अनुपम जिस पर, ईश विराजे गरिमा ले ।
सिहो में वर बहु सिहो ने, निजी पीठ पर लिया जिसे;
स्फटिक शिला का बना हुआ है, सिहासन है जिया ! लसे ॥५९॥

अतिशयगुण-चउतीस रहे ये, जिस जीवन मे प्राप्त हुये,
प्रातिहार्य का वसुविध वैभव, जिन्हे प्राप्त है, आप्त हुये ।
त्रिभुवन के वे परमेश्वर है, महागुणी भगवन्त रहे,
नमूँ उन्हें, अरहन्त-सन्त है, सदा-सदा जयवन्त रहे ॥६०॥

अञ्चलिका

नन्दीश्वर वर-भक्ति का, करके कायोत्सर्ग ।
आलोचन उसका करूँ, हे प्रभु ! तव संसर्ग ॥१॥

नन्दीश्वर के चउ-दिशियो मे, चउ गुरु अंजन गिरिवर हैं,
इक-इक अजनगिरि सम्बन्धित, चउ-चउ दधिमुख गिरिवर हैं ।
फिर प्रति दधिमुख कोनो में दो-दो रतिकर गिरि चर्चित है;
पावन, बावनगिरि पर बावन, जिनगृह हैं, सुर अर्चित है ॥२॥

देव चतुर्विध कुटुम्ब ले सब, इसी द्वीप मे है आते ,
कार्तिक-फागुन-आषाढो के, अंतिम वसु-दिन जब आते ।
शाश्वत जिनगृह जिन-बिम्बो से, मोहित होते बस ! ताते ,
तीनो अष्टाह्निक-पर्वों मे, यही आठ-दिन बस जाते ॥३॥

दिव्य-गन्ध ले, दिव्य ले, दिव्य-दिव्य ले सुमन तथा ,
दिव्य चूर्ण ले, दिव्य न्हवन ले, दिव्य-दिव्य ले वसन तथा ।
अर्चन, पूजन, वन्दन, करते, नियमित करते नमन सभी,
नन्दीश्वर का पर्व मनाकर, करते निजघर गमन सभी ॥४॥

मै भी उन सब जिनालयो का, भरत-खण्ड मे रहकर भी,
अर्चन-पूजन-वन्दन करता, प्रणाम करता झुककर ही ।
कष्टदूर हो, कर्मचूर हो, बोधिलाभ हो, सद्गति हो,
वीर-मरण हो, जिनपद मुझको, मिले सामने सन्मति ओ ! ॥५॥

पद्यानुवाद रचना काल एवं स्थान परिचय

सतत सतपुडा कह रहा, असत त्याग, सत-धार ।
मुक्तागिरि आ देख लो, दिखता शिरपुर द्वार ॥१॥

गमन चूँमते शिखर है, रहें एक से एक ।
युवा-मेघ ही जल भरे, करते है अभिषेक ॥२॥

रवि के व्रत दो, प्रथम तो - प्रतिदिन उठे प्रभात ।
मुक्तागिरि का दर्श ले, फिर यात्रा की बात ॥३॥

मुक्तागिरि पर मुक्त मुनि, साढे तीन करोड ।
मुक्तागिरि को नित नमूँ, नत-शिर हो कर-जोड ॥४॥

ऋषि-आतम-रस-गन्ध' की, श्वेत-पचमी जेठ ।
पूर्ण हुआ अनुवाद है, पढो-सुनो भरपेट ॥५॥

१ ऋषि-७, आतम-१, रस-५, गन्ध-२, "अकाना वामतो गति" के अनुसार वीर निर्वाण सवत् २५१७ (सन् १९९१ ईस्वी) की ज्येष्ठ सुदी पचमी तिथि 'श्रुतपचमी' विक्रम सवत् २०४८, रविवार, १६ जून १९९१ ई को दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागर महाराज द्वारा श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र मुक्तागिरि (मेढागिरि) बैतूल, (म प्र) मे श्री आचार्य पूज्यपाद कृत "नन्दीश्वर-भक्ति" का यह पद्यानुवाद पूर्ण हुआ।

ग्रन्थकार एवं गुरु-स्मरण

सुरासरो से है सदा, पूजित जिनके पाद ।
पूज्यपाद को नित नमूँ, पाऊँ परम प्रसाद ॥१॥

सारे सागर क्षार है, मम गुरु मधुर अपार ।
नमूँ ज्ञानसागर, गहूँ भवसागर का पार ॥२॥

समाधिसुधा शतकम्

मूल समाधितंत्र (संस्कृत)

रचनाकार · आचार्य पूज्यपाद

पद्यानुवाद आचार्य विद्यासागर

समाधिसुधा शतकम्

(वसन्ततिलका छन्द)

जो जानते अपरको अपरात्म रूप,
औ आत्मको सतत वे सब आत्मरूप।
स्वामी! अमेय अविनश्वर बोध धाम,
हो बार बार उन सिद्धन को प्रणाम ॥१॥

सम्माननीय जिनकी वह भारती है
अत्यन्त तीर्थ-कर सपति शोभती है
धाता, महेश, शिव, सौगत नामधारी
बंदू उन्हे जिनप जो जग आर्त-हारी ॥२॥

शास्त्रानुसार निज बोध-बलानुसार,
एकाग्र चित्तकर युक्तिमतानुसार।
शुद्धात्म-तत्त्व उनको कहता यहाँ मैं,
जो चाहते सहज सौख्य प्रभो! सदा है ॥३॥

आत्मा यही त्रिविध है सब देहियो में,
आदेय है परम आतम पे सबो मे।
तो अन्तरात्म शिवदायक है उपेय,
धिक्कार! हाय! बहिरातम निद्य हेय ॥४॥

मेरा शरीर, धन औ सुत राजधानी,
ऐसा सदैव कहता बहिरात्म प्राणी।
रागादि से रहित हा वह अन्तरात्मा,
है वंद्य, पूज्य, परमातम, निर्मलात्मा ॥५॥

जो बुद्ध, शुद्ध जिनके न शरीर साथ,
अत्यन्त इष्ट जिन ईश्वर विश्वनाथ ।
हे सिद्ध, अव्यय तथा वसु-कर्म रिक्त,
हे पूजनीय परमातम पूर्ण व्यक्त ॥६॥

जो है यहाँ सतत इन्द्रिय-भोगलीन,
निर्भ्रांत नित्य बहिरात्म स्वबोध हीन ।
है देह को इसलिए वह आत्म मान,
संसार में दुख सदा सहता महान ॥७॥

धिक्कार ! मानव-तन-स्थित आत्म को ही,
हे मानते मनुज रूप सदा विमोही ।
तिर्यंच देह अरु देव शरीर पाते,
तिर्यंच, देव क्रमशः निज को जनाते ॥८॥

लेते जहाँ नरक में जब जन्म भी है,
तो मानते स्वयम को तब नारकी है ।
आत्मा प्रभो ! परम निश्चय से न ऐसा
विज्ञान पूर्ण, निजगम्य अहो ! हमेशा ॥९॥

जो पुद्गलात्मक तथा पर देह को ही,
स्वामी ! निजीय तन सादृश जान मोही ।
है मानता भ्रमित हो यह 'अन्य आत्मा'
प्राय अतः दुरित ही करता दुरात्मा ॥१०॥

जो आत्मबोध परिशून्य सदा रहा है,
संपत्ति से मुदित तोषित हो रहा है ।
मेरी खरी मृगदृगी ललना यहाँ है,
ऐसा विचार उसका भ्रम-पूर्ण, हा ! है ॥११॥

मिथ्यात्व-जन्य उसकी इस भावना से
अज्ञान तीव्र बढता, सुख हो कहाँ से, ?
तो देह को 'निज' सदा वह मानता है ।
औ ! आत्म को वह कदापि न जानता है ॥१२॥

मिथ्यात्व भाव वश हो वह मूढ जीव,
है आत्म-बुद्धि रखता तन मे सदीव ।
माता, पिता, सुत, सुता वनिता व भ्राता,
ये है यहाँ 'मम' सभी इस भाँति गाता ॥१३॥

आभूषणादिक जडात्मक नश्यमान,
मोही इन्हे स्वयम् के सुख हेतु मान ।
उत्कृष्ट स्वीय मणि को वह व्यर्थ खोता,
लो ! काँच मे रम रहा, दुख बीज बोता ॥१४॥

ससार का प्रथम कारण देह-नेह
है रुद्ध हाय ! जिससे यह बोध गेह ।
व्यापार-त्याग द्रुत इन्द्रिय-ग्राम का रे,
हो आत्म में रत अतः यदि लोग सारे ॥१५॥

मैने स्वभाव तज के निज भोग लीन,
ससार मे दुख सहा, वृष-बोध हीन ।
मै 'आत्म हूँ न पहले इस भाँति जाना,
पै सर्वथा विषय को सुख-हेतु माना ॥१६॥

जो अन्तरग बहिरग निसग नगा,
होता नितान्त उसका वह योग चगा ।
उत्कृष्ट आतम प्रकाशक योग-दीप
धारो इसे, शिव लसे, फलत समीप ॥१७॥

जो भी मुझे नयन गोचर हो रहा है,
ना जानता वह कभी जड़ तो रहा है ।
जो जानता वह न इन्द्रियगम्य आत्मा,
बोले तदा किसलिए किस संग आत्मा ॥१८॥

मै योग्य शिष्य दल को नित हूँ पढाता,
या ज्ञान को सुगुरु से सहसा बढाता ।
उन्मत्त-सी यह यहाँ मम मात्र चेष्टा,
मै निर्विकल्प, मम निश्चय से न चेष्टा ॥१९॥

चैतन्य को पर कभी तजता नही है,
अग्राह्य को ग्रहण भी करता नही है ।
जो जानता निखिल को निज ज्ञान से ही,
विज्ञान पूर्ण वह 'चेतन जीव 'मै' ही' ॥२०॥

स्वामी ! सुदूर स्थित नीरस वृक्ष मे ओ ,
जैसा सदा पुरुष का अनुमान जो हो ।
मिथ्यात्व के उदय से जड देह को ही
'आत्मा' पुरा भ्रमित हो समझा प्रमोही ॥२१॥

पश्चात् उसे निकट जा लख शुष्क ठूठ,
ज्यो त्यागता वह उसे द्रुत मान झूठ ।
त्यो छोडता वितथ मान तनादिकों को,
निस्सार हेय पर जो दुख कारको को ॥२२॥

ना मै नपुसक नही नर हीन स्त्री न,
दो भी न एक न अनेक तथा न तीन ।
मै हूँ निजात्म बल से जब स्वात्म'ध्याता,
इत्थं तदा न मुझमे कुछ भेद नाता ! ॥२३॥

शुद्धात्म-ध्यान बिन खेद ! अनादि सोया,
पाके उसे जग गया, बहु दुःख खोया ।
आनन्द जो मिल गया, निज-गम्य, रम्य,
स्वामी ! अतीन्द्रिय अपूर्ण न शब्द-गम्य ॥२४॥

देखू यदा परम हृद्य निजात्म को मै,
रागादि भाव दुखदा द्रुत नष्ट होते ।
होती भयानक तदा न सुतेज आग,
प्यारी नही कुसुम की लगती पराग ॥२५॥

ब्रह्माड ही जब मुझे नहि जानता है,
क्या शत्रु-मित्र वह हो सकता तदा है ।
या जानता यदि मुझे लखता तथा है,
तो भी न मित्र रिपु हो सकता अहा ! है ॥२६॥

शीघ्राति-शीघ्र बहिरात्म-पना विसार,
औ अतरात्म-पन को रुचि सग धार ।
सकल्प, जल्प व विकल्प-विहीन भी हो,
पश्चात् सुपूज्य परमेश्वर रूप पाओ ॥२७॥

साधू सदैव, वह तो निज आत्म ध्याता,
सोऽहं, विशुद्ध, जिन हूँ रट यो लगाता ।
होता निवास निज मे इस धारणा से,
क्यो रोष तोष तब हो, दुख हो कहाँ से ? ॥२८॥

नादान, दीन, मतिहीन, स्वबोध-हीन,
विश्वास धार जड मे सुखमान लीन ।
है मान्यता यह अत वह दुःख धाम,
तो आत्म-ध्यान घर है, सुख का ललाम ॥२९॥

निश्चिन्त हो निडर, निश्चल अन्तरात्मा,
व्यापार रोक करणावलिका महात्मा ।
जो भी जभी निरखता अरु जानता है,
शुद्धात्म तत्त्व उसको वह भासता है ॥३०॥

जो मै वही परम आतम है महात्मा,
ऐसा विचार करता वह अन्तरात्मा ।
मै ही उपास्य मम हूँ स्तुति अन्य की क्यो ?
मे साहुकार जब हूँ फिर याचना क्यो ? ॥३१॥

मैने सभी विषय को विष मान त्यागा,
मेरा जिनेश ! जिस कारण भाग्य जागा ।
आनन्द-धाम मुझको अधुना मिला है,
विज्ञान-नीरज अत उरमे खिला है ॥३२॥

दुर्गन्ध-रक्त-मल-पूरित-देह को जो,
है मानता न यति भिन्न निजात्म से ओ ।
निर्भीक यद्यपि करे तप भी करारी,
तो भी उसे न वरती वह मुक्ति-नारी ॥३३॥

जो जानता तन तथा निज आत्म-भिन्न,
होता नही वह कभी यति खेद-खिन्न ।
शीतातिशीत हिम से डरता नही है,
सतप्त चूलगिरिपे तपता वही है ॥३४॥

योगीन्द्र का मन सरोवर है निहाल,
ना है जहाँ कलुष राग तरग जाल ।
स्वामी ! वही निरखता निज आत्मतत्त्व,
रागी नही वह कभी लखता स्वतत्त्व ॥३५॥

संक्षोभ-हीन मन आतम का स्वभाव,
संमोह-मान-मय-मानस है विभाव ।
सारे अत मलिन मानस को धुलाओ,
आदर्श सादृश विशुद्ध उसे सजाओ ॥३६॥

मिथ्यात्व-मान ममतादिक कारणो मे,
होता सुलीन मन है, विषयादिकों मे ।
सिद्धान्त के मनन से मन हाथ आता,
विज्ञान के उदय से पर में न जाता ॥३७॥

उद्विग्न क्षोभमय जो नित हो रहा है,
मानापमान उसके मन मे बसा है ।
सद्धर्म-लीन जब जो मुनि वीतराग,
क्यों द्रोह मोह उनमें फिर रोष राग ? ॥३८॥

अज्ञान का प्रबल कारण पा जिनेश, !
हो जाय तो यदि यदा रति राग द्वेष ।
भावे उसी समय स्वीय विशुद्ध तत्त्व,
तो राग-द्वेष मिटते, मिटता ममत्व ॥३९॥

सम्बन्ध स्वीय तन से यदि प्रेम का हो,
योगी सुदूर उससे सहसा अहा ! हो ।
विज्ञान रूप तन मे निज को लगावे,
तो देह-प्रेम नशता, तब मोक्ष पावे ॥४०॥

अज्ञान-जन्य-दुख नाश स्वबोध से हो,
पीडा अतीव वह क्यो न अनादि से हो ।
विज्ञान के विषय मे यदि आलसी है,
पाता न मोक्ष, उसका तप ! ना सही है ॥४१॥

लक्ष्मी मिले, मिलन हो, मम हो विवाह
मूढात्म को विषय की दिनरैन चाह ।
ज्ञानी, वशी, विमल मानस, आत्मवादी,
मूढात्म सादृश नही, पर अप्रमादी ॥४२॥

जो आत्म-भक्ति च्युत होकर भोगलीन,
त्यो कर्म जाल फंसता रसलीन मीन ।
जो स्नान आत्म सरमे करता तपस्वी,
निर्मुक्त कर्म-रज से वह हो यशस्वी ॥४३॥

स्त्री नपुसक औ नर लिग को ही,
'आत्मा' सदैव इस भांति कहे प्रमोही ।
पै आत्म अव्यय, अवर्ण्य, अखण्ड पिण्ड,
ऐसा कहे सुबुध, ना जिनमे घमण्ड ॥४४॥

शुद्धात्म को सुबुध यद्यपि जानता है,
ध्याता उसे अलस को तज देखता है ।
मिथ्यात्व का उदय पै यदि हाय ! होता,
सद्ध्यान शीघ्र नशता, वह भ्रष्ट होता ॥४५॥

काया अचेतन-निकेतन दृश्यमान,
दुर्गन्ध-धाम पर है क्षण नश्यमान ।
तो रोष तोष किसमे मम हो महात्मा, ।
मध्यस्थ हूं इसलिए जब चेतनात्मा ॥४६॥

मूढात्म केवल पटादिक छोडता है,
ज्ञानी कषाय घटको झट तोडता है ।
सर्वज्ञ तो न तजता, गहता किसी को,
तो लाख बार मम वन्दन हो उसी को ॥४७॥

शुद्धात्म के शयन पे मन को सुलाओ,
औ कायसे वचन से निज को छुडाओ।
रे! सर्व बाह्य व्यवहार तथा भुलाओ,
अध्यात्म रूप सर मे निज को डुबाओ ॥४८॥

जो आत्म-बोध परि-शून्य शरीरधारी,
भाता उसे स्वतन ही कल सौख्यकारी।
जो स्वीय बोध पय को नित पी रहा हो,
ससार क्षार जल मे रुचि क्यो उसे हो? ॥४९॥

शुद्धात्म ध्यान तज अन्तर आत्म सारे
ना अन्य भाव मन मे चिरकाल धारे।
या अन्य भाव यदि है करते प्रवीण,
वाक्काय से कुछ करे मनसे कभी न ॥५०॥

जो भी मुझे सकल-इन्द्रिय गम्य है रे,
निर्भ्रांत भिन्न मुझसे पर है, न मेरे।
देखूं समोद जब मै निज मे, तभी यो,
है ज्योति दीख पडती, मम है 'वही जो' ॥५१॥

प्रारम्भ मे कुछ दुखी निज ध्यान से हो,
प्राय सुखानुभव बाहर मे उसे हो।
अभ्यस्त तापस कहे निजमे हि तोष,
ससार सागर असार विपत्ति कोष ॥५२॥

निर्ग्रन्थ होकर करो निज आत्म-गीत,
पूछो तथा निजकथा गुरु से विनीत।
चाहो उसे सतत् हो उसमे विलीन,
अज्ञान नाश जिससे, तुम हो प्रवीण ॥५३॥

वाक्काय मे निरखता निजको हि अज्ञ,
तो देह का वचन का वह है न विज्ञ ।
ज्ञानी कहे मम नही यह देह भार,
होता अत वह सुशीघ्र भवाब्धि पार ॥५४॥

सभोग में सुख नही कहते मुमुक्षु,
मोक्षार्थ योग धरते सब सत भिक्षु ।
अज्ञान भाव वश हो वह सर्व काल,
सभोग मे निरत हो बहिरात्म बाल ॥५५॥

अज्ञान रूप तम मे चिरमूढ सोये,
भोगे कुयोनिगत-दु:ख अतीव रोये ।
ऐसी दशा च उनकी दयनीय क्यो है ?
वे आत्म बोध तजके परलीन क्यो है ? ॥५६॥

योगी सदा तप तपे निजमे रहेगे,
सद्ध्यान ध्या परिषहादिक भी सहेगे ।
'मेरा शरीर' इस भाँति नही कहेगे,
कोई प्रबन्ध परसग नही रखेगे ॥५७॥

मोही नही समझते निज शक्ति को भी,
ओ जानते न मम उत्तम बोध से भी ।
तो क्यों अहो ! अबुध को उपदेश मेरा,
होगा नही उदित सूर्य नही सबेरा ॥५८॥

सद्बोध शिष्य-दल को जब मै दिलाऊँ
स्वामी ! निजानुभव मै तब हा ! न पाऊँ ।
ना शब्दगम्य, निजगम्य, अमूर्त हूँ मै,
कैसे ? किसे ! कब उसे ! दिखला सकूँ मै ॥५९॥

सन्तुष्ट बाह्य धन। मे कुपथाभिरूढ,
उत्कृष्ट स्वीय-धन-विस्मृति से "प्रमूढ" ।
चारित्र धार तपते, तजते कुभोग,
पाते प्रमोद निज मे "मुनि" सन्त लोग ॥६०॥

ना ! जानता वह कभी सुख दुख को है,
स्वामी ! अचेतन-निकेतन देह जो है ।
मिथ्यात्वभाव वश हो तनकी सुसेव,
मोही नितान्त करता फिर भी सदैव ॥६१॥

देहादि मे निरत है जबलौ हि जीव,
निर्भ्रांत दु:ख सहता तबलौ अतीव ।
शुद्धात्म ध्यान तुझको जब हो खुशी है,
तेरे तदा निकट ही शिव-कामिनी है ॥६२॥

ज्यो वस्त्र को पहन मार्दव स्पर्श शस्य,
है मानते न निजको 'बलवान् मनुष्य' ।
ना मानते सुबुध त्यो निज देह देख,
सन्तुष्ट पुष्ट निज को बलवान् सुरेख ॥६३॥

होता यदा वसन है यदि जीर्ण-शीर्ण
कोई तदा समझते निज को न क्षीण ।
काया जरा समय मे यदि काति हीन,
ज्ञानी तदा समझते निज को न क्षीण ॥६४॥

है मूल्यवान् पट भी यदि नष्ट होता,
ससार मे अबुध भी न कदापि रोता ।
देहावसान यदि हो मम तो खुशी है,
मेरा नही मरण यो कहते वशी हैं ॥६५॥

है पक से मलिन यद्यपि शुक्ल वस्त्र,
पै मानते मनुज तो निज को पवित्र ।
तो देह मे रुधिर पीव पडे सडे भी ।
योगी स्वलीन फिर भी, तपते खडे ही ॥६६॥

जो आत्म-चिन्तन सदा करता नितान्त,
निस्पन्द ही जग उसे दिखता प्रशान्त ।
होता वही 'जिन' अत गतक्लात विज्ञ,
मोही सदा दुख सहे बहिरात्म अज्ञ ॥६७॥

जो राग-रोष करता गहता शरीर,
तो बार बार मरता सह, दु ख पीर ।
प्रत्येक काल जिस कारण कर्म ढोता,
तो जानता न निज को भव बीच रोता ॥६८॥

प्रत्येक काल जड पुद्गल वर्गणाए,
जाती, प्रवेश करती तन मे पराये ।
तो पूर्वसा इसलिए तन दीखता है,
मोही निजीय कहता उसको वृथा है ॥६९॥

काला न मै ललित, लाल नही अनूप,
रागी न पुष्ट अति हृष्ट नही कुरूप ।
पै नित्य, सत्य अरु मै वर बोध-धाम,
मेरा अत· विनय से मुझको प्रणाम ॥७०॥

जो ग्रन्थ त्याग, उरमे शिव की अपेक्षा,
मोक्षार्थ मात्र रखता, सबकी उपेक्षा ।
होता विवाह उसका शिवनारि-सग,
तो मोक्ष चाह यदि है बन तू निसग ॥७१॥

ससर्ग पा अनल का नवनीत जैसा,
नोकर्म पा पिघलता बुध ठीक वैसा ।
योगी रहे इसलिए उनसे सुदूर,
एकात मे विपिन मे निज में जरूर ॥७२॥

मै जा रहूँ नगर मे, वन मे कभी न,
ऐसा विचार करता, बहिरात्म ढीन ।
ज्ञानी न ईदृश विचार स्वचित्त लाता,
निश्चित हो सतत किन्तु निजात्म ध्याता ॥७३॥

निस्सार पार्थिव तनादिक काऽनुराग,
है बीज अन्य तन का द्रुत भव्य ! जाग ।
तो बीज मोक्ष द्रुम का निज भावना है,
भावो उसे, यदि तुम्हे शिव कामना है ॥७४॥

आत्मा हि कारण सदा भव का रहा है,
जाता वही नियम से शिव को तथा है ।
है आत्म का गुरु अत· स्वयमेव आत्मा,
कोई न अन्य, इस भाँति कहे महात्मा ॥७५॥

होता यदा जड तनादिक का वियोग,
भारी विलाप करते बहिरात्म लोग ।
मै तो मरा, मरण !! हाय ! महा समीप,
ऐसे कहे, न जिनके उर-बोध-दीप ॥७६॥

प्राचीन वस्त्र तज, वस्त्र नवीन लेते,
स्वामी ! यथा मनुज मात्र न खिन्न होते ।
योगी तथा न डरता यदि काय जाता,
मेरा नही मरण है इस भाँति गाता ॥७७॥

जो भी यहाँ विषय भोग करे करावे,
शुद्धात्म ध्यान च्युत होकर कष्ट पावे ।
जो मौन सर्व व्यवहारिक कार्य मे है,
वे ही स्वदर्शन करे, निज मे रमे है ॥७८॥

तो देख बाह्य धन वैभव और अग,
ओ ! आत्म को निरख के निज अन्तरग ।
निस्सार जान जड को पर औ अमेध्य,
छोडे उसे बुध सुशीघ्र बने अवद्य ॥७९॥

जो जोग धार, वन जीवन है बिताता,
प्रारम्भ मे जग उसे 'मद' सा दिखाता ।
पश्चात् वही निरस-ठूठ समा दिखाता,
अभ्यास से मुनि यहाँ निज वित्त पाता ॥८०॥

तत्वोपदेश परको दिन रैन देता
सद्बोध और सुनता जिन शास्त्र वेत्ता ।
पै देह भिन्न मम जीव सदैव भिन्न,
ऐसा न बोध यदि हो शिव मात्र स्वप्न ॥८१॥

शुद्धात्म ध्यान सर मे निज को डुबाओ,
दुर्गन्ध देह सर को सहसा भुलाओ ।
तो देह धारण पुन जिससे न होवे,
पावे विशुद्धि पद औ वसु कर्म खोवे ॥८२॥

निर्भ्रांत अत्र व्रत से वह पुण्य होता,
अत्यन्त क्लात ! व्रतहीन कुपाप ढोता ।
दोनो विलीन जब हो तब मोक्ष भिक्षु,
छोडे व्रतेतर समा व्रत को मुमुक्षु ॥८३॥

ससार कारण व्रतेतर आद्य छोड,
वैराग्य पा विषय से निज को सुमोड ।
छोडे महाव्रत तदा मुनि मौनधारी,
होती स्वहस्तगत है जब मोक्ष नारी ॥८४॥

सकल्प, जल्प व विचित्र विकल्प वृन्द,
है दु ख मूल, जिससे वसु कर्म बन्ध ।
होता यदा जडतया उसका विनाश,
आत्मा तदा स्वपद-दिव्य गहे प्रकाश ॥८५॥

जो अव्रती वह सुशीघ्र बने व्रती ही,
सज्ज्ञान में परम लीन रहे व्रती भी ।
सपन्न ध्यान क्रमश स्वयमेय होगा,
विज्ञान-पूर्ण मुनि यो भव-मुक्त होगा ॥८६॥

चारित्र बाहर तनाश्रित दीखता है,
तो जीव का 'भव' यही तन तो रहा है ।
जो मात्र बाह्य तप मे रहता सुलीन,
होता न मुक्त निज-निर्मल-भाव-हीन ॥८७॥

ये शैव वैष्णव तथा बहु जातियाँ है,
सारी यहाँ जड तनाश्रित पक्तियाँ है ।
जो मूढ जाति मद है रखता सदैव,
कैसा उसे शिव मिले अयि ! वीर देव ! ॥८८॥

मै हूँ दिगबर अत शिवमार्गगामी,
कोई नही मम समा बुध अग्रगामी ।
इत्थ प्रमत्त मुनि हो मद धारता है,
पाता न मोक्ष पद को वह भूलता है ॥८९॥

ज्ञानी सुयोग धरते तपते शिवार्थ,
जो दूर है विषय से निज साधनार्थ ।
तो भोग लीन रहता दिन-रैन मोही,
है त्याग का वह सदा अनिवार्य द्रोही ॥९०॥

निर्भ्रांत देह जड ही नित जानता है,
मोहाभिभूत नर ईदृश मानता है ।
पगु प्रदर्शित यथा पथ-रूढ अन्ध,
ना दीखता पथिक को वह हाय ! अन्ध ॥९१॥

जो अन्ध-खज युग अन्तर जानते है ।
ज्यो अन्ध को नयनवान न मानते है ।
विज्ञान पूर्ण निज को मुनि मानते जो,
आत्मानुरूप तन को नहि जानते त्यो ॥९२॥

उन्मत्त सुप्त जनकी वह जो क्रिया हो,
मोही उसे भ्रम कहे यह अज्ञता ओ !
पै रोष तोष मय तामस-भाव को ही,
है मानते 'भ्रम' अहो ! गुरु जो अलोभी ॥९३॥

सिद्धात हस्तगत यद्यपि है जिसे वो,
सद्ध्यान हीन यदि हो शिव ना उसे हो ।
शुद्धात्म का अनुभवी यदि नीद लेता,
तो भी अपार सुख पा, भव पार होता ॥९४॥

स्वामी ! जहाँ मनुज बुद्धि लगी रही है,
होती नितात उस की रुचि भी वही है ।
होती यदा रुचि जहाँ अयि भव्य ! मित्र,
होता सुलीन मन है वह नित्य तत्र ॥९५॥

स्वामी ! जहाँ मनुज बुद्धि लगी नहीं है,
होती वहाँ रुचि कभी उसकी नही है ।
होती तथा रुचि नही सहसा जहाँ है,
होता सुलीन मन ना वह भी वहाँ है ॥९६॥

छद्मस्थ भव्य जिसको नहि भोग भाता,
सिद्धात्म भक्ति करके वह मुक्ति जाता ।
बत्ती यथा अलग होकर दीप से भी,
होती अहो ! द्युतिमयी उस सग से ही ॥९७॥

जो आत्म ध्यान करता दिनरैन त्यागी,
होता वही परम आतम वीतरागी ।
सघर्ष से विपिन मे स्वयमेव वृक्ष,
होता यथा अनल है अयि भव्य दक्ष ! ॥९८॥

देखो ! विशुद्ध पद को निज मे सही यो,
ध्याओ उसे वचन गोचर नही जो ।
पाओ अत. परम पावन मोक्ष-धाम,
आना नहीं इधर लौट वही विराम ॥९९॥

रे आत्म तत्व यदि भौतिक ही यहाँ हो,
तो मोक्ष, यत्न बिन ही सहसा अहा ! हो ।
ऐसा न हो, तब सदा तपसे सुमुक्ति,
योगी दुखी न, जब जागरती स्वशक्ति ॥१००॥

होता यथा मरण यद्यपि स्वप्न मे है,
तो भी न नाश निज का परमार्थ से है ।
स्वामी ! तथा मरण हो जब आयु अन्त,
पै देह ही बदलता, नित मैं अनन्त ॥१०१॥

जो कायक्लेश बिन आर्जित आत्म ज्ञान,
शीतादि कष्ट जब हो द्रुत नश्यमान ।
कायानुसार सब ही नित काय क्लेश,
योगी सहे सतत् वे धर नग्न भेष ॥१०२॥

विद्वेष राग करता यह ज्योहि जीव,
त्योही चले पवन भी तन मे अतीव ।
औ वायु से सकल अङ्ग उपाग सारे,
होते स्वकार्य रत नौकर से बिचारे ॥१०३॥

निस्सार दैहिक विवर्त्त समूह को भी,
'आत्मा' कहे अबुध लोक सदा प्रमोही ।
स्वामी ! वशी सुबुध तो पर को विसार,
होते सुशीघ्र दुख पूर्ण-भवाब्धिपार ॥१०४॥

जोभी समाधि स्तुति को पढ आत्म, वेद
'मै औ शरीर' इनमे कुछ भी न भेद ।
ऐसा विचार तजते बन अन्तरात्मा,
पाते निजीय सुख को, बनते महात्मा ॥१०५॥

आचार्य पूज्यपाद स्तुति

थे पूज्यपाद, वृषपाल, वशी, वरिष्ठ,
थे आपके न रिपु, मित्र, अनिष्ट, इष्ट ।
मै पूज्यपाद यति को प्रनमू त्रिसध्या,
'विद्यादिसागर' बनूँ, तज दूँ अविद्या ॥

- इति शुभं भूयात् -

योगसार

मूल योगसार (प्राकृत)

रचनाकार आचार्य कुदकुद स्वामी

पद्यानुवाद आचार्य विद्यासागर

योगसार

(वसंत तिलका छंद)

ज्ञानी, वशी परम पावन ध्यान ध्याके,
जो अष्ट कर्म-मय-इधन को जला के ।
सारे हुए परम आतम विश्वसार,
वदू उन्हे नमन मै कर बार, बार ॥१॥

जो घाति कर्म रिपुको क्षण मे भगाये,
अर्हन्त होकर अनन्त चतुष्क पाये ।
तो लाख बार नम श्री जिनके पदो मे,
पश्चात् कहूं सरस श्राव्य सुकाव्य को मैं ॥२॥

हे भद्र ! भव्य भव से भयभीत भारी,
जो चाहते परम सुन्दर मुक्तिनारी ।
सबोधनार्थ उनको समचित्त साथ,
पद्यावली रचित है मुझसे सुखार्थ ॥३॥

जो काल है वह अनादि, अनादि जीव,
संसार सागर अनन्त व्यथा अतीव ।
मिथ्यात्व से भ्रमित हो सुख को न पाया,
ससारिजीव दुख जीवन ही बिताया ॥४॥

संसार के भ्रमण से यदि भीत है तू,
शीघ्रातिशीघ्र तज तो, पर भाव को तू ।
ध्या, स्वच्छ, अच्छ व अतुच्छ निजात्म को तू,
पाले अनन्त जिससे शिव सौख्य को तू, ॥५॥

आत्मा यहा त्रिविध है बहिरतरात्मा,
आदेय ध्येय 'परमातम' है महात्मा ।
तू अतरात्म बन के परमात्म ध्या रे ।
दे ! दे ! सुशीघ्र बहिरातम को विदा रे ! ॥६॥

मिथ्यात्वसे भ्रमित जो जिन धर्म द्रोही,
है मानता परम आतमको न मोही ।
होता वही नियम से बहिरात्म प्राणी,
गाती सदैव इस भाति सुवीर वाणी ॥७॥

जो देखता परम आतमको यहा है,
ओ रोष तोष परको तजता अहा है ।
होता सुपडित वही अयि ! वीर नाथ !
ससार त्याग, रमता शिव नारि साथ ॥८॥

अत्यत शात, गतक्लात नितात शुद्ध,
जो है महेश, शिव, विष्णु, जिनेश, बुद्ध ।
ज्ञानी उन्हे परम आतम है बताते,
सिद्धात के मननमे दिन जो बिताते ॥९॥

देहादि जो सकलभिन्न सुसर्वथा है,
'आत्मा' कहे मनुज तो उनको, व्यथा है ।।
वे ही सभी अबुध है बहिरात्म जीव,
ससार बीच दुख को सहते अतीव ॥१०॥

जो अत्र मित्र निज पुत्र, कलत्र सारे,
ये तो कभी न मम हो सकते बिचारे ।
यो जान, ओ अयिसुजान ! तथा च मान,
तू आत्म को सतत आतम रूप जान ॥११॥

है ! भव्य जीव यदि तू निजको लखेगा,
तो शीघ्र मुक्ति-ललना-पति तू बनेगा ।
औ अन्यको हि यदि 'आतम' तू कहेगा,
तो हा ! अगाध भवसागर मे गिरेगा ॥१२॥

इच्छा विहीन बन तू यदि योग धार,
है आत्म को निरखता, जगको विसार ।
तो आशु मुक्ति रमणी तुझको वरेगी,
क्या ! क्या कहू वह कभी न तुझे तजेगी ॥१३॥

हे जीव कर्म गहता परिणाम से ही,
पाता निजीय पदको परिणाम से ही ।
तो भव्य जीव किससे शिव सारव्य होता,
तू जान ठीक ! किससे वह बध होता ॥१४॥

धिक्कार ! हाय ! यदि आतम को विसार,
तू पुण्य का चयन हो करता अपार ।
तो हत ! सातिशय सौरव्य नही मिलेगा,
संक्लेश भाव करता, दुख ही सहेगा ॥१५॥

आदर्श सादृश निजातम दर्श, त्याग,
कोई न अन्य शिवकारण, भव्य ! जाग ।
ऐसा सदा समझ निश्चयसे सुयोगी !
तो शीघ्र ही सुख मिले भव-मुक्ति होगी ॥१६॥

जो मार्गणा व गुणथान विकल्पसारे
है शास्त्र से कथित वे व्यवहार से रे !
पे आत्मको समझ निश्चयसे विशुद्ध,
होगा सुखी सहज से, द्रुत सिद्ध, बुद्ध ॥१७॥

गार्हस्थ्यकार्य घर मे करते हुए भी,
जो जानते सतत हेय अहेय को भी ।
ध्याते तथाऽनुदिन वीर जिनेंद्र को है,
पाते सुशीघ्र सब वे शिव सौख्य को है ॥१८॥

चितो विशुद्ध मन से अविराम ध्याओ,
हे ! भव्य आप जिन को निज चित्त लाओ ।
सारे अनन्त गुणधाम अहो ! बनोगे,
तो एक साथ जिससे सबको लखोगे ॥१९॥

शुद्धात्म मे व जिन मे कुछ भी न भेद,
ऐसा सदा समझ तू द्रुत आत्म वेद ।
ससार पार करना यदि चाहता है,
भा भावना सहज की यह साधुता है ॥२०॥

जो है जिनेन्द्र सुन ! आतम है वही रे !
'सिद्धात सार' यह जान सदा सही रे !
यो ठीक जानकर तू अयि भव्य योगी !
सद्य अत कुटिलता तज मोह को भी ॥२१॥

जो है यहा परमआतम हू वही मै,
वे ही विभो ! परम आतम जो सुधी मे ।
ऐसा अरे ! समझ जान सदैव योगी ?
ला चित्त मे क्षण न अन्य विकल्प को भी ॥२२॥

शुद्धप्रदेश युत जो त्रयलोकपूर्ण,
आत्मा उसे समझ जान उसे न चूर्ण ।
निर्वाण प्राप्त करले जिससे मुमुक्षु !
आत्मीय सौख्य गहले अयि ! भव्य भिक्षु ! ॥२३॥

आत्मा त्रिलोक सम निश्चय से यहा है,
देह प्रमाण, व्यवहारतया तथा है ।
जो जानता सतत ईदृश आत्म को है,
पाता सुशीघ्र भव-वारिधि तीर को है ॥२४॥

चौरासि योनिगत दु सह दु ख पाया,
औ दीर्घ काल भव मे भ्रमता बिताया ।
सम्यक्त्व दिव्य धन को इसने न पाया,
देही, जिसे धरम ना अबलो सुहाया ॥२५॥

जो है सचेतन-निकेतन और शुद्ध,
वे दिव्य ज्ञान मय श्री जिन नाथ बुद्ध ।
आत्मा उन्हे समझ, जान अरे सदा तू,
हे ! भव्य ! बोल ! शिव को यदि चाहता तू ॥२६॥

होगा तुझे न सुख ओ तबलौ न मुक्ति
सानन्द तू न करता जबलौ स्वभक्ति
जो दीखता अब तुझे वर सौख्य सार
तू धार शीघ्र उसको करके विचार ॥२७॥

जो है जिनेश, शिव है त्रय लोक ध्येय,
आत्मा वही व उसकी महिमा अमेय ।
ऐसा यहा कथन निश्चय से किया है,
विश्वास धार इसमे, भ्रमतो वृथा है ॥२८॥

चारित्र मूढ जन यद्यपि धारते है,
प्राय सभी व्रत तपादिक साधते है ।
शुद्धात्म-ज्ञान जबलो गहते नही है,
ना मोक्ष मार्ग तबलो, तप व्यर्थ ही है ॥२९॥

जो भी दिगम्बर वशी बन योग धार,
शुद्धात्मको यदि लखे जग को विसार ।
ससार त्याग सब वे द्रुत मोक्ष पाते,
ऐसे सदैव सब सन्मति शास्त्र गाते ॥३०॥

चारित्र, शील व्रत औ तप भी करारी,
ये सर्व ही न तबलौ शिव सौख्य कारी ।
शुद्धात्म ध्यान जबलौ मुनि को न होता,
जो आशु साधु कुलको सुख पूर्ण देता ॥३१॥

है पुण्य से अमर हो गहता विलास,
औ पाप से नरक मे करता निवास ।
पै पुण्य पाप तज जीव निजात्म ध्याता
तो शीघ्र ही परम पावन मोक्ष पाता ॥३२॥

चारित्र शील व्रत सयम जो यहा है,
वे सर्व ही कथित रे ? व्यवहार से है ।
हे ! जीव, एक वह कारण मोक्ष का है,
विज्ञान, जो परम सार त्रिलोक का है ॥३३॥

जो आत्म भाव बल से निज को जनाते,
स्वामी ! कभी न मन मे परभाव लाते ।
वे सर्व मोक्ष पुर को सहसा पधारे,
धारे अनत सुख को, सबको निहारे ॥३४॥

ये द्रव्य है छह यहा अरु नौ पदार्थ,
है सात तत्व जिनदर्शित ये यथार्थ ।
व्याख्यान तो यह हुआ व्यवहार मात्र,
तू जानले अब उन्हे बन साम्य पात्र ॥३५॥

सारे अचेतन-निकेतन बोध रिक्त,
तो जीव चेतन सुधा सम सार युक्त ।
सानन्द जान जिसको मुनि भव्य वृद,
ससार पार करते, बनते अबध ॥३६॥

है जानता यदि सुनिर्मल आत्म को तू,
औ छोड़ता उस सभी व्यवहार को तू ।
तो शीघ्र ही वह मिले भवका किनारा,
ऐसे जिनेश कहते, यह 'योग सारा' ॥३७॥

जो भेद संनिहित जीव अजीव मे है,
जो भी मनुष्य उसको यदि जानते है ।
है ज्ञात निश्चित उन्हे जग तत्व सर्व,
ऐसे मुनीश्वर कहें, जिनमे न गर्व ॥३८॥

आत्मा अहो ! परम केवल-बोध-धाम,
ऐसा सुजान ! नित जान तथैव मान ।
कल्याण-खान-शिवकी यदि कामना है,
है ! भव्य ! साधुजन की यह बोलना है ॥३९॥

तो कौन पूजन, समाधि करे करावे,
औ मित्रता हृदय में किस सग लावे ।
संघर्ष कौन किस सग करे महात्मा,
देखो जहा वह वहा दिखता निजात्मा ॥४०॥

स्वामी ! यहा सुगुरु के प्रसाद द्वारा,
जो आत्मको न लखता जबलौ सुचारा ।
हा ! हा ! कुतीर्थ करता, तबलौ अहा ! है,
तो धूर्तता, कुटिलता, करता वृथा है ॥४१॥

त्रैलोक्य सस्तुत जिनेश न तीर्थ मे है,
वे सिद्ध, शुद्ध न जिनालय मे बसे हे ।
रे ? जान तू जिनप तो तन गेह मे है,
ऐसा सदा श्रुतविशारद बोलते है ॥४२॥

है देव यद्यपि तनालय मे यथार्थ,
जाते तथापि जन मदिर दर्शनार्थ ।
वैसी विचित्र घटना यह है अभागो ?
जैसा सुसिद्ध बनने पर भीख मागो ॥४३॥

हे ! मित्र देव जिन मदिर मे नही है,
पाषाण लेप लिपि कागद मे नही है ।
वे है अनादि तनमदिर मे प्रशात,
या जान, मान तज, हो जिससे न क्लात ॥४४॥

कोई कहे जिनप तो मठ तीर्थ मे है
कोई कहे गिरि जिनालय मे बसे है ।
पै देव को बुध तनालय मे बताते,
ऐसे अभिज्ञ बिरले महिमे दिखाते ॥४५॥

तू है जरा मरण से यदि भीत भारी
तो नित्य धर्म कर जो वर सौख्यकारी ।
तू धर्म रूप रसका इक घूट लेगा
जल्दी जरा, जीवन, मृत्युविहीन होगा ॥४६॥

होता न धर्म वह पुस्तक पिच्छिका से,
ना प्राप्त हो पठन पाठन की क्रिया से ।
होता न धर्म मठ-मदिर वास से भी,
तो प्राप्त हो न-कचलुचन कर्म से भी ॥४७॥

[illegible] ।
[illegible] ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥

[illegible] ।
[illegible] न मोल, [illegible] ॥[illegible]॥

हो जाय विज्ञ यदि मुक्त मनेन्द्रियो से,
पृष्टव्य शेष न उन्हे कुछ भी किसी से ।
हो जाय बद्ध यदि राग प्रवाह सारा ।
तो आत्म भाव प्रगटे स्वयमेव प्यारा ॥५४॥

मोहाभिभूत व्यवहार विपत्तिखान,
तू जीव अन्य जड पुद्गल अन्य जान ।
शुद्धात्म को गह अत तन-मोह छोड,
विज्ञान-लोचन जरा अब ? भव्य ? खोल ॥५५॥

जो जीव को विमल धाम न मानते है,
श्रद्धासमेत उसको नहि जानते है
होगे न मुक्त, न मिले सुख, दु ख पाते,
ऐसा सदैव जिनदेव हमे बताते ॥५६॥

"घी दूध उत्तम दही" अरु दीप माला,
ज्योतिर्मयी स्फटिक औ रवि भी निराला ।
पाषाण रत्न रजतानल हेम जो है,
दृष्टात वे समझ नौ इस जीव के है ॥५७॥

आकाश सादृश तनादिक को सदैव,
जो भिन्न ही समझता अयि वीर देव ।
तो शीघ्र ब्रह्म पद को वह यो गहेगा,
आलोक से जग प्रकाशित ही करेगा ॥५८॥

आकाश है अमित जो वर शुद्ध जैसा
है शास्त्र मे कथित आतम ठीक वैसा ।
तू व्योम को जड अचेतन नित्य जान,
पै आत्म को विमल चेतन धाम मान ॥५९॥

जो जीव दृष्टि रख के निज नासिका पे,
शुद्धात्म को हृदय मे लखता यहा पे ।
लज्जामयी जनन को फिर ना धरेगा,
तो देह धार स्तन पान नहीं करेगा ॥६०॥

शुद्धात्म को परम-सुन्दर-देह जानो,
दुर्गंध-धाम तन को जड, हेय मानो,
रे ! मूर्तमान तन को अपना कहो न,
व्यामोह को तज, रहो निज मे हि मौन ॥६१॥

जो आत्म को स्वबल से जब जानता है
तो कौनसी सफलता मिलती न हा ! है
होता अहो उदित केवल बोध भानु
स्थायी मिले सुख, उसे शिर मे नमाऊ ॥६२॥

योगीन्द्र ! आशु तजके पर रूप भाव,
जो जानते सहज से अपने स्वभाव ।
अज्ञान नाशकर, केवल बोध पावे,
सिद्धत्व छोड फिर वे भवमे न आवे ॥६३॥

हे धन्य विज्ञ वह पडित धैर्यवान,
जो राग रोष तज के पर हेय मान ।
है जानता, निरखता निज आत्मको ही,
जो है विशुद्धतम लोक अलोक बोधी ॥६४॥

हे ! भव्य जीव ! सुन तू मुनि हो व गेही,
जो भी निवास करता निज आत्म मे ही ।
तो शीघ्र सिद्धि सुखका वह लाभ लेता,
ऐसा कहे जिनप जो शिव मार्ग नेता ॥६५॥

रे ! तत्वको विरला मानव मानते है,
तो तत्व का श्रवण भी विरले करे है ।
है लाख मे एक मनुष्य सुतत्व ध्यानी,
धारे उसे विनय से विरले अमानी ॥६६॥

माता, पिता, सुत सुता, वनिता-कदव,
मेरे नये, दुरित कारण ही कुटुम्ब ।
ऐसा विचार करता, यदि भव्य सत,
ससार नाश कर के बनता अनन्त ॥६७॥

योगीन्द्र ! इन्द्र व नरेन्द्र फनीन्द्र सारे,
ना जीव को शरण वे सब है विचारे ।
ऐसे विचार मुनि तो निजको जनाते,
आधार आत्महित का निजको बनाते ॥६८॥

देही सदा जनमता, मरता अकेला,
होता दुखी, जब सुखी तब भी अकेला ।
कोई न सग उसका जब श्वभ्रजाता,
निस्सग होकर तथा शिव सौख्य पाता ॥६९॥

हे ! मित्र बोल अब तू यदि नित्य एक,
तो अन्य भाव तज हो निज एकमेक ।
स्थायी अपूर्व सुख जो फलत मिलेगा,
विज्ञान सूर्य तुझको द्रुत ही दिखेगा ॥७०॥

ज्यो आप पाप कहते बस पापको ही,
प्राय परन्तु सब त्यो कहते बस विमोही ।
पे जो कुपाप कहते उस पुण्यको भी,
वैसे मनुष्य बिरले बुध भव्य कोई ॥७१॥

ज्यो बध कारक तुझे वह लोह बेडी,
त्यो बध कारक यहा यह हेम बेडी ।
जो भी शुभाशुभ-विभाव-विहीन होता,
होता विमुक्त भवसे, शिव साख्य ढोता ॥७२॥

तेरा दिगम्बर यदा मन जो बनेगा,
तू भी उसी समय ग्रथ विहीन होगा ।
तू अन्तरग बहिरंग निसग नगा,
तो मोक्ष मार्ग मिलता, बन तू अनगा ॥७३॥

सुस्पष्ट बीज दिखता वट वृक्ष मे ज्यो,
होता प्रतीत वट भी उस बीज मे त्यो ।
दीखे उसी तरह जो तन मे जिनेश,
त्रैलोक्य पूज्य, जिनकी महिमा विशेष ॥७४॥

मैं हूँ वही जिनप जो वर बोध कोष,
यो भावना सतत भा तज क्रोध रोष ।
ना अन्य मन्त्र इसको तज, मोक्ष पथ
ससार का विलय हो जिससे तुरन्त ॥७५॥

दो, तीन, चार, छह पाच तथैव सात,
ये सर्व लक्षण विसो गुणसार साथ ।
होते अवश्य जिनमे जब स्पष्ट रूप,
तू जान नित्य उनको परमात्म रूप ॥७६॥

जो राग रोष तज के धर नग्न भेष,
सद् ज्ञान दर्शन गुणान्वित हो जिनेश ।
अध्यात्म लीन रहते, शिव सौख्य पाते,
ऐसे सदैव जिनदेव हमे बताते ॥७७॥

हे तीन से विकल जो मुनि मौन युक्त
अर्थात् विमोह अरु राग प्रदोष रिक्त ।
सद् ज्ञान आचरण दर्शन पा स्वलीन,
पाता प्रमोक्ष इस भांति कहे प्रवीन ॥७८॥

सज्ञाविहीन बन, चार कषाय मार,
जो धारता वर अनत चतुष्क भार ।
आत्मा उसे समझ तू भवभीत भिक्षु,
होता अत परम पावन हे ! मुमुक्षु ! ॥७९॥

जो पच इन्द्रियजयी तज पच पाप
औं सर्व प्राण युत है जिनमे ताप ।
होते क्षमादि दशलक्षण धर्म युक्त,
आत्मा उन्हे समझ निश्चय वीर भक्त ॥८०॥

आत्मा हि दर्शन मयी अरु ज्ञान धाम,
चारित्र का सदन है नयनाभिराम ।
औ त्याग रूप व्रत-सयम शील झील,
ऐसा सदा समझ तू बन तू सुशील ॥८१॥

जो आत्म को व पर को नित जानता है,
निर्भ्रांत शीघ्र परको वह त्यागता है ।
सन्यास धारक वही गुरु ओ महान,
ऐसे कहे जिनप केवल ज्ञान वान ॥८२॥

रत्नत्रयान्वित वशी महिमे पवित्र,
होता वही सुखद तीर्थ सदैव अत्र,
तो मोक्ष का सुगम कारण भी वही है ।
ना अन्य मन्त्र शिव हेतु न तत्र भी है ॥८३॥

अर्थावलोकन सदा जिससे अहा ! हो
योगी उसे कहत दर्शन वे यहा भो ।
विज्ञान है सहज आतम जो पवित्र,
तो बार बार निज चितन ही चरित्र ॥८४॥

आत्मा जहा गुण वहीं सब विद्यमान,
षड्केवली सब कहें जिनमे न मान ।
योगी अत. परम उत्तम योग धार,
है आत्म को निरखते जग को विसार ॥८५॥

व्यापार बन्द कर इन्द्रिय ग्राम का भी,
निस्संग हो तज परिग्रह नाम का भी ।
तू काय से वचन से मन शुद्धि साथ
ध्या आत्म, शीघ्र बन जा शिव नारिनाथ ॥८६॥

है बद्ध को समझता यदि तू प्रमुक्त,
होता सुनिश्चय अत द्रुत बध युक्त ।
तू स्नान स्वीय सर मे यदि रे ! करेगा
तो आशु मुक्ति ललना-पति तू बनेगा ॥८७॥

सम्यक्त्वभूषित सुधी न कुयोनि पाता,
या तो यदा कुगति मे यदि हाय ! जाता
सम्यक्त्वका पर न दोष वहा दिखाता,
प्राचीन कर्म रिपु को वह तो नशाता ॥८८॥

जो भव्य सर्व व्यवहार विमोचता है,
ओ आत्म मे रमण भी करता रहा है
सम्यक्त्वमडित वही, मुनि मौन धारी
ससार त्याग, वरता, वह मोक्षनारी ॥८९॥

सम्यक्त्व मे प्रथम जो बुध भी वही है,
औ तीन लोक भर मे वह मुख्य भी है।
पाता वही परम केवल ज्ञान को है,
आदेय, शाश्वत, अपूर्व प्रमाण जो है ॥९०॥

आत्मा सुमेरु सम हो जब जो ललाम,
वार्धक्य, मृत्यु परिशून्य, गुणक धाम।
भाई! तदेव वह कर्म न बाधता है,
प्राचीन कर्मरिपुको पर मारता है ॥९१॥

हे! मित्र! जो हरित पूरित पद्म-पत्र
होता न लिप्त जल से जिस भांति अत्र।
आत्मीय भाव रत है यदि जो सदीव,
ना लिप्त कर्म रज से उस भांति जीव ॥९२॥

जो विज्ञ होकर यहा शिव सौख्य लीन,
है बार बार लखता निजको प्रवीन।
स्वामी वही सहज से वसु कर्म नाश,
पाता अपूर्व अविनश्वर जो प्रकाश ॥९३॥

आत्मा पवित्रतम जो पुरुषानुरूप,
आलोक पूर्ण वह है, गुण मुख्य स्तूप॥
जाज्वल्यमान अपनी वर ज्योतिगम्य,
मैं क्या कहूँ वचन से, वह दिव्य रम्य ॥९४॥

शुद्धात्म को, अशुचिधाम शरीर से जो,
है भिन्न ही समझता, निज बोध से यो।
अत्यन्त लीन उस शाश्वत सौख्य मे हो,
है जानता वह समस्त जिनागमो को ॥९५॥

जो जानता न निज निर्मल आत्म को है,
औ त्यागता दुखमयी न विभाव को है ।
होगा विशारद जिनागम मे भले ही,
पाता न मोक्ष वह तो भव मे रुले ही ॥९६॥

सकल्प-जल्प व विकल्प विकार हीन,
जो है यहाँ परम श्रेष्ठ समाधि लीन ।
आनन्द काऽनुभव वे करते नितात,
वे ही अत परम सिद्ध सदा प्रशात ॥९७॥

पिडस्थध्यान फिर दिव्य पदस्थध्यान,
रूपस्थध्यान भजनीय त्रितीय जान ।
तू रूपरिक्त उस अतिम ध्यान को भी,
निस्सग हो समझ तो भव मुक्ति होगी ॥९८॥

हे मित्र । बोधगुण मडित जीव सारे,
जो लोग ईदृश सदा सम भाव धारे ।
सामायिक तुम सभी समझो उसी को,
ऐसा जिनेश कहते महिमे सभी को ॥९९॥

जो रोष तोष मय सर्व विकार भाव,
है, शीघ्र त्याग, धरता वर साम्य भाव ।
सामायिकी नियम से वह ही कहाता,
ऐसा निरतर यहा ऋषि वृद गाता ॥१००॥

हिसादि पच विध निद्य कुपाप छोड,
जो आत्म को अचल मेरु रखे अडोल ।
होता चरित्र उसका वह जो द्वितीय,
देता प्रमोक्ष, सुख जो अति श्लाघनीय ॥१०१॥

मिथ्यात्व राग विमदादि कल्याण से जो ?
सम्यक्त्व की विमलता बढती उसे भी ।
जानो सदैव परिहार विशुद्धि रूप,
होता प्रमोक्ष जिसमे सुखनो अनूप ॥१०२॥

जो सूक्ष्म लोभ हटने पर सूक्ष्मभाव
है आत्म का नियम से करता बचाव ।
होता वही परम सूक्ष्म चरित्र शस्य,
है धाम नित्य सुखका शिवका अवश्य ॥१०३॥

आत्मा सुसिद्ध शिव, निश्चय से महात्मा,
होता वही विमल जो अरहत नामा ।
आचार्य वर्य उवझाय सुपूजनीय,
स्वामी ! वही नियम से मुनि वदनीय ॥१०४॥

आत्मा हि ईश्वर वही शिव, विष्णु बुद्ध,
ब्रह्मा, महेश, परमातम, सिद्ध, शुद्ध ।
होता अनत, वृष, शकर भी जिनेश,
पूजू नमू स्तव करू उसका हमेश ॥१०५॥

पूर्वोक्त सार्थक सुलक्षण युक्त जो है,
सक्लेशहीन सुखरूप जिनेश ओ है ।
है आत्म मे न उनमे कुछ भी विभेद,
निर्भ्रांत ही सतत तू इस भाति वेद ॥१०६॥

जो शुद्ध, बुद्ध अब लो जिन हो चुके है,
ये सिद्ध जो विमल सप्रति हो रहे है ।
होगे भविष्य भर मे निजदर्श से ही,
तू जान ईदृश अत तज मोह मोही ! ॥१०७॥

एकीभाव

मूल एकीभाव स्तोत्र (संस्कृत)

रचनाकार आचार्य वादिराज

पद्यानुवाद आचार्य विद्यासागर

पद्यावली रचित थी निज बोधनार्थ,
योगींद्र देव यति से वर चित्त साथ ।
मैने वसत-तिलका वर वृत-द्वारा,
भाषामयी अब उसे कर दी सुचारा ॥१०८॥

हे योगसार श्रुतसार व विश्वसार,
जो भी इसे बुध पढे, सुख तो अपार ।
मै भी इसे विनय से पढ, आत्म ध्याऊ,
'विद्याब्धिसागर' जहा डुबकी लगाऊ ॥१०९॥

एकीभाव

(मंदक्रांताछंद)

मेरे द्वारा अमित भवमे प्राप्त जो कर्म सारे,
तेरी प्यारी जबकि स्तुति से शीघ्र जाते निवारे ।
मेरे को क्या फिर वह न ही वेदना से बचाती ?
स्वामी ! सद्य लघु दुरित को क्या नहीं रे भगाती ? ॥१॥

वे ही हर्त्ता दुख तिमिर के दिव्य-भानू-जिनेश,
ऐसे सारे गणधर कहे आपको ज्यो दिनेश ।
पै है मेरे मुदित मन मे वास तेरा हमेशा,
तो कैसी ओ ! फिर हृदय मे रे ! रहे पाप दोषा ॥२॥

जो कोई भी विमल मनसे मन्त्र से स्तोत्र से या,
भव्यात्मा ज्यो भजन करता आपका मोदसे या ।
श्रद्धानी के अह ? है उसके देह ,
सारी नाना वर-विषमयी व्याधिया दौडती जो ॥३॥

आनेसे जो अमर पुर से पूर्व ही मेदिनी भी,
स्वामी ! तेरे सुकृत बलसे हेमता को वरी थी ।
पै मेरे तो मन-भवन मे वास जो आपका है,
कोढी काया कनक मय हो देव ! आश्चर्य क्या है ? ॥४॥

तेरे मे ही सब विषय सबधिनी शक्ति भी है,
स्वामी ! जो है प्रतिहत नही, लोक बन्धू तभी है ।
मै कोढी हूँ चिर हृदय मे आप मेरे बसे है,
कैसे काया-जनित-मल दुर्गन्ध को हा ! सहे है ॥५॥

जन्मो से मै भ्रमण करता भाग्य से अत्र आया,
कर्मो ने तो भव विपिन मे हा ! मुझे रो रुलाया ।
मै तो तेरे नय-सरसि मे देव ! गोता लगाता,
कैसे है औ ! फिर अब मुझे दु ख दावा जलाता ? ॥६॥

होता तेरे चरण युग सानिध्य से पद्म देख !
लक्ष्मी-धामा, सुरभित तथा हेम जैसा सुरेख ।
पै मेरा जो मन तव करे स्पर्श सर्वांगको का,
तो क्या पाऊ न फिर अब मै सौख्य मोक्षादिकोका ? ॥७॥

प्याला पीया वच अमृत का आपके भक्ति से है,
जो पाया भी मनुज जब आशीश को आपसे है ।
प्राय स्वामी ! अतुल सुख मे लीन भी है यहा पे,
कैसे पीडा दुरित मय काटे उसे दे वृथा पै ॥८॥

व्यौमस्पर्शी मणिमय तथा मानका स्तम्भ भाता,
आखोका ज्यो विषय बनता, मानको त्यो नशाता ।
आया ऐसा सुंबल उसमे आपके सग से है,
स्वामी ! देखो वह इसलिए ही खडा ठाट से है ॥९॥

काया को छू,
सच ही है जन-निचयकी रोग धूली मिटाती ।
ध्यानी के तो उर जलज पे आप बैठे यहा है,
पाता है तो वह स्वधन आश्चर्य भी क्या तदा है ॥१०॥

मेरे सारे भव भव दुखो को विभो जानते है,
होती क्लार्ती सतत जिनकी याद से हा ! मुझे है ।
विश्वज्ञाता सदय तुमको भक्ति से आज पाया,
हू मै तेरा मम हृदय मे ठीक विश्वास लाया ॥११॥

स्वामी-जीव-धरवदन से आपके मन्त्र को जो,
कुत्ता पाता जबकि सुनके अत मे सौख्यको यो ।
मालाको ले सतत जपता आपके मन्त्र को जो,
आशका क्या फिर अमर हो इंद्रता को वरे तो ? ॥१२॥

कोई ज्ञानी वर चरित मे लीन भी जो सदा है,
तेरी श्रद्धा यदि न उसमे तो सभी हा वृथा है ।
भारी है रे ! शिव-सदन के द्वार पे मोह ताला,
कैसे खोले, उस बिन उसे, हो सके जो उजाला ॥१३॥

तेरा होता यह यदि न वाक्दीप तत्वावभासी,
जो है स्वामी ! वरसुखद औ मोक्ष मार्ग प्रकाशी ।
छाई फैली सिवपथ जहा मोहरूपी निशा है ।
पाते कैसे फिर तब उसे हाय ? मिथ्या दिशा है ॥१४॥

आत्मा की जो द्युति अमित है मोद दात्री तथा है,
मोही को तो वह इह न ही प्राप्त हा ! यो व्यथा है ।
पै सारे ही लघु समय मे आपके भक्त लोग,
वे पाते है तव स्तवन से जो उसे धार योग ॥१५॥

भक्ती गगा नय-हिमगिरी से समुत्पन्न जो है,
पैरो को छू तव अरुशिवा बोधि मे जा मिली है ।
मेरा स्वामी ! सुमन उसमे स्नान भी तो किया है,
तो काया मे विकृति फिर भी क्यो रही देव ! हा ! है ॥१६॥

ध्याऊ भाऊ जब अचल हो, आपको ध्येय मान,
ऐसी मेरी यह मति तदा आप औ मै समान ।
मिथ्याही पे मम मति विभो ! कर्म का पाक रे है,
तो भी दोषी तव स्तवन से मोक्ष लक्ष्मी वरे है ॥१७॥

वाणी रूपी जलधि जग मे व्याप्त तेरा जहा पे,
हटाते ।
ज्ञानी ध्यानी मथकर उसे चित्तमदार से वे,
सारे ही है द्रुत परम पीयूष पी तृप्त होने ॥१८॥

श्रृगारो को वह पहनता जन्म से जो कुरूप,
बेरीयो से परम डरता जो धरे शस्त्र भूप ।
धाता, त्राता धगपति तथा मोक्षकाता-सुकात,
ऐसे गावे तवयश यहा तो प्रशसा नितात ॥२०॥

तेरी वाणी तव चरण तू दूसरो सा न ईश,
तो कैसा हो तव स्तवन मे जो हमरा प्रवेश ।
तो भी स्वामी ! यह स्तुति सदा आपके सेवको को
होगी प्यारी अभिलषित को और देगी सुखो को ॥२१॥

रागी द्वेषी जिनवर नही, ना किसी ना किसी की अपेक्षा
मेरे स्वामी ? वर सुखद है मार्ग तेरा उपेक्षा ।
तो भी तेरी वह निकटता कर्महारी यहां हैं,
ऐसी भारी विषद महिमा दूसरो मे कहा है ? ॥२२॥

कोई तेरा स्तवन करता भाव से है मनुष्य
होता ना ही शिवपथ उसे वाम स्वामी ? अवश्य ।
जाते जाते शिव सदन की ओर जो आत्म ध्याता,
मोक्षार्थी तो तव-समय मे यो न सदेह लाता ॥२३॥

जो कोई भी मनुज मन मे आपको धार ध्याता
भव्यात्मायो अविरल प्रभो ? आप मे लौ लगाता
जल्दी से है शिव सदन का श्रेष्ठ जो मार्ग पाता,
श्रेयोमार्गी वह तुम सुनो ! पच कल्याण पाता ॥२४॥

ज्ञानी योगी स्तुति कर सके ना यदा वे यहाँ है,
तो कैसे मै तव स्तुति करु पै तदा रे मुधा है ।
तो भी तेरे स्तवन मिष से पूर्ण सम्मान ही है
आत्मार्थी को विमल सुख का, स्वर्ग का वृक्ष ही है ॥२५॥

है वादिराज वर-लक्षण पारगामी
है न्याय-शास्त्र सब मे बुध अग्रगामी ।
है विश्व मे नव रसान्वित काव्य धाता
है आपसा न जग भव्य सहाय दाता ॥२६॥

त्रैलोक्य पूज्य यतिराज सुवादिराज,
आदर्श सादृश सदा वृष-शीश-ताज ।
बदू तुम्हे सहज ही सुखतो मिलेगा
'विद्यादिसागर' बनू दुख तो मिटेगा ॥२७॥

समग्र-२ परिशिष्ट

- **जैन गीता (समणसुत्तं)**
  प्रथम सस्करण - १९७८
  प्रकाशक - श्री मुनि सघ स्वागत समिति, सागर (म प्र)
  द्वितीय सस्करण - १९७८
  प्रकाशक - श्री रतनचद भायजी प्रकाशन,
  ३, सिविल लाइन्स, दमोह (म प्र)
  तृतीय सस्करण - १९९२
  प्रकाशक - केलादेवी सुमति प्रसाद ट्रस्ट,
  अरिहन्त इन्टरनेशनल, नई दिल्ली

- **कुन्दकुन्द का कुन्दन (समयसार)**
  प्रथम सस्करण - १९७८
  प्रकाशक - श्री मुनि सघ स्वागत समिति, सागर
  द्वितीय सस्करण - १९७६
  प्रकाशक - दर्शनाचार्य गुलाबचद जैन, मदनमहल जनरल स्टोर्स,
  राइट टाउन, जबलपुर (म प्र)

- **निजामृतपान (समयसार कलश)**
  प्रथम सस्करण - १९७५
  प्रकाशक - श्री श्यामलाल विजयवर्गीय सराफा, ग्वालियर (म प्र)
  द्वितीय सस्करण -
  प्रकाशक - श्री मुनि सघ स्वागत समिति, सागर (म प्र)

- **द्रव्य संग्रह**
  प्रथम सस्करण-
  प्रकाशक - श्री दिग जैन युवा वर्ग, अशोक नगर (म प्र)
  द्वितीय सस्करण -
  प्रकाशक - ज्ञानोदय प्रकाशन, पिसनहारी, जबलपुर (म प्र)

- **अष्टपाहुड**
  प्रथम सस्करण -
  प्रकाशक - मुनि सघ स्वागत समिति, सागर (म प्र)

- नियमसार
  प्रथम सस्करण - १९८५
  प्रकाशक - शरद बनारसी, छिन्दवाडा (म प्र)

- गोमटेश थुदि
  प्रथम सस्करण - १९८१
  प्रकाशक - मुनि सघ स्वागत समिति, सागर (म प्र)
  द्वितीय सस्करण - १९८१
  प्रकाशक - श्री भागचद इटोरिया, सार्वजनिक न्यास, दमोह (म प्र)

- समन्तभद्र की भद्रता (स्वयंभूस्त्रोत)
  प्रथम सस्करण - १९८०
  प्रकाशक - श्री मुनि सघ स्वागत समिति, सागर (म प्र)

- गुणोदय (आत्मानुशासन)
  प्रथम सस्करण - १९८१
  प्रकाशक - श्री मुनि सघ स्वागत समिति, सागर (म प्र)

- रयणमंजूषा (रत्नकरण्डक श्रावकाचार)
  प्रथम सस्करण - १९८१
  प्रकाशक - फूलचद अभिनदन कुमार जैन
  अनिल मुद्रणालय, राइट टाउन, जबलपुर (म प्र)
  द्वितीय व तृतीय सस्करण - १९८२-८३
  प्रकाशक - श्री दिग जैन अतिशय क्षेत्र कुण्डलगिरि
  (कोनीजी) पाटन, जबलपुर (म प्र)
  चतुर्थ सस्करण-
  श्री दिग जैन युवा वर्ग, अशोक नगर (म प्र)

- आप्तमीमांसा (देवागम स्त्रोत)
  प्रथम सस्करण - १९८५
  प्रकाशक - वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन, वाराणसी (म प्र)

- इष्टोपदेश, समाधितंत्र, योगसार, कल्याण मन्दिर स्त्रोत
  एकीभाव स्त्रोत - ब्यावर चातुर्मास समिति,
  राजस्थान की स्मारिका मे प्रकाशित

आचार्य मुनि श्री विद्यासागर जी एक वीतरागी दिगम्बर जैन सत है। आपका जन्म ग्राम सदलगा जिला बेलगाव कर्नाटक मे हुआ। मुनि दीक्षा अजमेर मे और आचार्य पद नसीराबाद मे परम पूज्य आचार्य श्री ज्ञानसागर जी से प्राप्त हुआ। आप सम्यग्दर्शन ज्ञान और चरित्र की त्रिवेणी है और अपने सयमित जीवन के पच्चीस वर्ष पूरे कर चुके है।

कन्नड-भाषी होकर भी आप अच्छी हिन्दी पढते, लिखते और बोलते है। असल मे आपकी भाव-प्रवणता अनायास ही शब्दो को उनके गूढ अर्थों तक ले जाती है। और उन्हे रसवत्ता प्रदान करती है। 'मूकमाटी' हिन्दी का जाना माना महाकाव्य आपकी इसी शब्द साधना का प्रतिफल है।

वर्तमान मे आप ग्राम, नगर और तीर्थ स्थलो पर आत्म-साधना मे शान्त भाव से अनवरत विचरण करते हुए अपनी हित-मित और प्रिय वाणी से जन-कल्याण मे तत्पर है।

आचार्य मुनि श्री विद्यासागर जी एक वीतरागी दिगम्बर जैन सत है। आपका जन्म ग्राम सदलगा जिला बेलगाव कर्नाटक मे हुआ। मुनि दीक्षा अजमेर मे और आचार्य पद नसीराबाद मे परम पूज्य आचार्य श्री ज्ञानसागर जी से प्राप्त हुआ। आप सम्यग्दर्शन ज्ञान और चरित्र की त्रिवेणी है और अपने सयमित जीवन के पच्चीस वर्ष पूरे कर चुके है।

कन्नड-भाषी होकर भी आप अच्छी हिन्दी पढते, लिखते और बोलते है। असल मे आपकी भाव-प्रवणता अनायास ही शब्दो को उनके गूढ अर्थो तक ले जाती है। और उन्हे रसवत्ता प्रदान करती है। 'मूकमाटी' हिन्दी का जाना माना महाकाव्य आपकी इसी शब्द साधना का प्रतिफल है।

वर्तमान मे आप ग्राम, नगर और तीर्थ स्थलो पर आत्म-साधना मे शान्त भाव से अनवरत विचरण करते हुए अपनी हित-मित और प्रिय वाणी से जन-कल्याण मे तत्पर है।